अप्रैल १९५३
मेष २०१०
भाग ७७
संख्या १
वार्षिक मूल्य
चार रुपए
प्रति अंक
छः आने
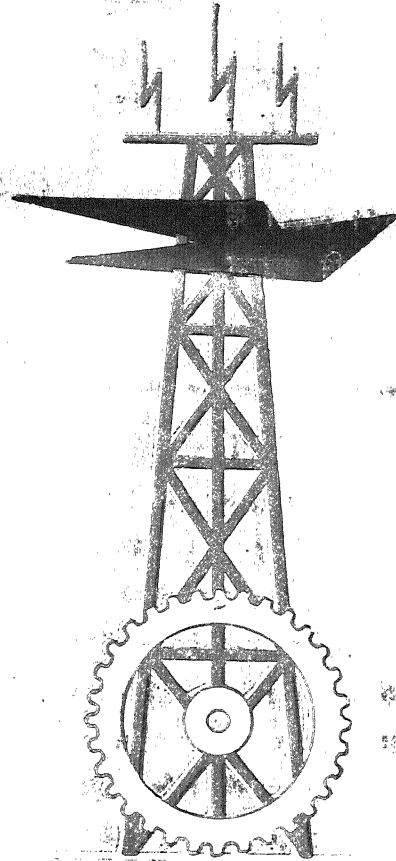
विज्ञान के प्रेमियों से अपील

विज्ञान-भवन का निर्माण

विज्ञान के प्रेमियों को यह सुन कर प्रसन्नता होगी कि प्रयाग विश्वविद्यालय ने म्योर कॉलेज की भूमि पर विज्ञान परिषद् के निमित्त "विज्ञान भवन" के निर्माण के लिए भूमि देने का अनुग्रह किया है। अब तक विज्ञान-परिषद् के पास अपना भवन न था और इसलिए इसके कार्य्यक्षेत्र को हम विस्तृत और व्यापक रूप नहीं दे पाये। विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक विषयों के पठन-पाठन का माध्यम हिन्दी स्वीकार हो गया है और हमें विज्ञान का उच्च साहित्य प्रकाशित करना है। हमारी आयोजना है कि १ लाख रुपये की लागत का भव्य भवन विभिन्न कार्य्यों के लिए शीघ्र निर्माण करें। विज्ञान के प्रेमियों से हमारा आग्रह है कि वे अति उदारता से हमारे इस कार्य्य में सहायता करें।

प्रत्येक दानदाता का नाम "विज्ञान" पत्रिका में हम प्रकाशित करेंगे। १००) या इससे अधिक दान देने वालों का नाम शिला पर दानदाताओं की सूची में अंकित किया जायगा।

हम अपने प्रत्येक ग्राहक और पाठक से आशा करते हैं, कि वे अपने अपने नगर में अपने मित्रों से थोड़ा-थोड़ा भी धन एकत्रित करके परिषद् के कार्यालय में भेजें। इससे हमारे कार्यालय में बड़ी सुविधा होगी। इसे वे अपना निजी काम समझें।

दान इस पते पर भेजिये :—

मन्त्री, विज्ञान भवन निधि
विज्ञान परिषद्, प्रयाग

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य—चार रुपये, एक संख्या का मूल्य—छः आने।

विज्ञान

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञान प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५

भाग ७७ | मेष २०१०; अप्रैल १९५३ | संख्या १

भूशास्त्र का इतिहास

श्री महाराज नारायण मेहरोत्रा, एम. एस-सी. भूशास्त्र विभाग का. वि. वि.

भूशास्त्र (Geology) का अर्थ है—पृथ्वी संबंधी ज्ञान । इसके अन्तर्गत पृथ्वी के जन्म से अब तक की कहानी आ जाती है । पृथ्वी की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, किस प्रकार पर्वतमालाओं तथा महासागरों का निर्माण हुआ, कब और किस रूप में पृथ्वी पर जीवन के चिन्ह दृष्टिगोचर हुए और किस प्रकार जीवन का विकास हुआ, आदि अनेक बातें भूशास्त्र की परिधि में आ जाती हैं । इसलिये भूशास्त्र का अन्य प्राकृतिक शास्त्रों से बड़ा घनिष्ट सं ंध है । पृथ्वी की उत्पत्ति तथा आयु 'उत्पत्तिशास्त्र' (Cosmogony) की सीमा में आती है; पर्वत-मालाओं, नदी नालों तथा महासागरों का अध्ययन 'भौतिक'भूशास्त्र' में आ जाता है । यह पर्वतमालाएँ किन शिलाओं की बनी हैं और इन शिलाओं में कौन-कौन से खनिज हैं और यह खनिज किस प्रकार बने, 'शिला तथा खनिज शास्त्र' के क्षेत्र में पड़ता है। प्रस्तरीभूत पदार्थों को लेकर एक नये विज्ञान पुरा-जैविकी (Palaeontology) की रचना हो गई है । स्तर शास्त्र (Stratigraphy) के अन्तर्गत पृथ्वी का प्राचीन इतिहास आ जाता है, यह शिलाओं तथा पुराजीवों (Fossils) के अध्ययन पर आधारित है । इस प्रकार सुविधा के लिये भूशास्त्र को पाँच भागों में विभक्त किया गया है :—

१—उत्पत्ति शास्त्र (Cosmogony)
२—भौतिक भूशास्त्र (Physical Geology)
३—शिला विज्ञान तथा (Petrology and
    खनिज शास्त्र Mineralogy)
४—पुराजीव शास्त्र (Palaeontology)
५—स्तर शास्त्र (Stratigraphy)

भूशास्त्र का प्रारम्भ कब हुआ, कहना कठिन है। जब से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई, भूशास्त्रीय-अभिकर्ताओं (Geological agents) ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया । पहली पर्वतशिला जब बनी, तभी से उसका विघटन भी आरम्भ हो गया । प्राथमिक मनुष्य ने भी अपने जीवन काल में पर्वतशिलाओं को बनते बिगड़ते देखा होगा, भूचाल और ज्वाला-मुखियों को भी देखा होगा और उसके मन में भी इन घटनाओं के संबंध में विचार उठे होंगे—पर

उनका कोई भी विवरण आज हमारे पास नहीं है। मनुष्य की उत्पत्ति के पश्चात का, जो कुछ भी थोड़ा वर्णन मिलता है उससे ज्ञात है कि प्राचीन विचार-धारा कथा-कहानी से संबद्ध है।

परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दार्शनिकों ने अन-जाने में वैज्ञानिक प्रगति में बड़ा हाथ बटाया है। पेथेगोरस ने ईसा से पांच शताब्दी पूर्व ही पृथ्वी के उतार-चढ़ाव (Subsidence & Elevation) की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। इसके लग-भग एक शताब्दी पश्चात हिरोडोटस और अरस्तु (Aristotle) ने भूचाल, ज्वालामुखी, आदि परिवृत्तियों का वर्णन किया। अरस्तु ने कहा कि 'भूचाल, पृथ्वी के अन्दर की वायु के कारण आते हैं—यह वायु पृथ्वी के अन्तरभाग की गर्मी तथा सूर्य की गर्मी से उत्पन्न होती है। ज्वालामुखी का उभाड़ भी इसी वायु को पूर्ण रूप से निकालने के लिये होता है।' ल्युक्रेटियस तथा स्ट्रावो भी अरस्तु के इस विचार से सहमत थे। स्ट्रावो ने आगे चलकर यह बतलाया कि जब ज्वालामुखी अपने विराट स्वरूप में होते हैं और अग्नि उगलते हैं, तब भूचाल बहुत कम आते हैं।

११ वीं शताब्दी के लगभग, ईरानी कवि उमर खैय्याम ने समुद्र के उतार पर एक पुस्तक लिखी। उसकी विचारधारा एशिया के अन्तरभाग में विद्यमान नमक के झरनों आदि पर आधारित थी। कहा जाता है कि इस विचारधारा को 'कुरान' के विरोध में मानकर दंड देने का निश्चय किया गया। परन्तु वह अपनी इच्छा से ही समरकंद छोड़कर बाहर चला गया।

पुराजीव कवच (Fossil Shells) के अध्ययन की विचारधारा इटली से प्रारम्भ हुई। क्योंकि यहाँ एपेनाइन पहाड़ियों की तलहटी में बहुसंख्या में सुन्दर-सुन्दर 'मौलस्का कवच' (Mollusca shells) पाये जाते हैं। कोलोफोन के जेनोफेन ने ईसा से लगभग पाँच शताब्दी पूर्व ही, पर्वतों पर प्रस्तरीभूत अवशेषों को देखा। एक शताब्दी के पश्चात हिरो-डोटस और अरस्तु को भी पुराजीव दृष्टिगोचर हुए। इनका अध्ययन कर अरस्तु ने कहा कि 'बहुत से स्थान पर जहाँ आज शुष्क पृथ्वी है, वहाँ पहले समुद्र था और यह भी संभव है कि जहाँ आज समुद्र है, वहाँ कुछ समय बाद शुष्क पृथ्वी हो जाये !'

पुराजीवों को लेकर भिन्न-भिन्न विचारधाराएं उनकी उत्पत्ति के सम्बंध में रखी गई। कुछ लोगों ने कहा 'यह तो प्रकृति की लीला है।' कुछ लोगों के विचार में यह विश्व प्रलय के अवशेष हैं। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि यह पुराजीव किसी शाप के बशीभूत होकर पत्थर में बदल गये। रामायण में अहल्या का शाप के वशीभूत हो शिला रूप में रहना कदाचित सभी को ज्ञात होगा।

लिआनार्डो डि विन्सी (Leonardo da Vinci) ने १५ वीं शताब्दी में यह बतलाया कि पुराजीव जीवधारी प्राणी थे और आज मरने के बाद इस अवस्था में पाये जाते हैं। आपने साथ में यह भी बतलाया कि आजकाल जहाँ पृथ्वी है वहाँ पहले समुद्र था। यही विचार गिरोलामा फ्रास्केटोरियो (Girolamo Frascatorio) के भी थे—आपने कहा था कि वह पर्वत जिनमें पुराजीव पाये जाते हैं, समुद्र की गोद में ही पले हैं।

इस प्रकार प्राचीन काल में भूशास्त्र के विज्ञान का उदय ग्रीस और रोम से हुआ, तत्पश्चात अरब में। अरब के विद्वान 'अविसेना' ने खनिजों के ऊपर एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा। आपने इसमें बतलाया कि खनिज किस प्रकार बने और किस प्रकार इनका वर्गीकरण किया जा सकता है।

परन्तु निकोलस स्टेनो (१६३१–८७) को ही आधुनिक खनिजशास्त्र का जन्मदाता कहना चाहिये। सर्व प्रथम आपने ही स्फट के कोण की अचलता का पता लगाया। १७ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जौहन औब्रे तथा मार्टन लिस्टर ने प्रथम बार भूशास्त्रीय मानचित्र का सुझाव रखा। १६९५ में जोहन बुडवर्ड ने (जो कि उन कुछ प्रसिद्ध भूशास्त्रियों में से एक है जिनके शव को 'वैस्टमिन्स्टर ऐबे' में गाड़े

जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ) लेख लिखकर पृथ्वी की रचना तथा पुराजीव कवच की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला।

गणितज्ञ लिबनी (१६४६-१७१६) ने प्रथम बार जलज तथा आग्नेय शिलाओं (Aqueous & Igneous) में भेद बतलाया। आपके विचार आधुनिक सिद्धान्तों से पर्याप्त मेल खाते हैं।

१६८४ ई० के लगभग थोमस बर्नेट की (The Theroy of The Earth) प्रकाशित हुई। आपने उसमें लिखा कि सूर्य की गर्मी से पृथ्वी में विवर (fissures) हुए और विश्वप्रलय का पानी इन्हीं विवरों से ऊपर आया। पानी के विषय में १६९६ में विलियम भिस्टन ने कहा कि पुच्छल तारे की पूंछ के बाष्प-संघनन से बहुत सा पानी बना। रौबर्ट हाल के विचार में पुच्छल तारे की पूंछ लगभग १०५ करोड़ मील लम्बी थी। परन्तु यह विचार वैज्ञानिक न होकर, काल्पनिक ही थे।

अर्वाचीन काल

विज्ञान के रूप में भूशास्त्र की प्रगति १८ वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हुई। जौहन स्ट्राची, लेह्मान, आरड्युनों आदि ने भूशास्त्रीय लेख लिखकर भूविज्ञान को आगे बढ़ाया। लेह्मान ने प्राथमिक तथा द्वितीयक शिलाओं में भेद किया। स्वीडेन के भूशास्त्री कार्ल-लिनेइस ने १७३५ ई० में प्राणियों का व्यवस्थित वर्गीकरण किया। आपने प्राणियों के दो विभाग किये :—वंश और जाति (Genera & species) यही द्विपद प्रणाली आज भी सर्वमान्य है। लिनेइस ने बतलाया कि जातियों के कुछ विशेष लक्षण होते है जो आदि काल से अक्षुण्ण चले आते हैं।

१७५१ में गुटार्ड ने फ्रांस का खनिजात्मक तथा शिलात्मक (Mineralogical & petrological) मानचित्र तैयार किया। तत्पश्चात आपने पश्चिमी युरुप का खनिजात्मक मानचित्र भी बनाया।

सौसर (H. B. De Saussure) ने शिलाओं तथा भौतिक आकार (Physical features) का अध्ययन किया। पुराजीवों का अध्ययन कर आपने विचारा कि संभव है कि भिन्न-भिन्न पुराजीवों के रूप में कोई क्रम हो। इसके अतिरिक्त आपने शिलाओं की उत्पत्ति जानने के लिये बहुत से प्रयोग भी किये।

सन् १७७८ में लक (J. A. De Luc) ने Geology शब्द का प्रथम बार प्रयोग किया। आपने इस विषय पर सुन्दर ग्रन्थ भी लिखे। १८ वीं शताब्दी में ही जेम्स हटन ने भूशास्त्र को यह सिद्धान्त प्रदान किया 'कि जो शक्तियाँ पृथ्वी पर आज कार्य कर रही हैं वे इसी रूप में प्राचीन काल में भी काम कर रही थीं। आपने भूचाल, ज्वालामुखी, पृष्ठ के अधोगमन (Subsidence of crust) आदि का कारण, पृथ्वी में विद्यमान आग्नेय शक्ति को बतलाया। आग्नेय शक्ति को प्रधान मानने के कारण आपके अनुयायी अग्निवादी (Plutonists कहलाये।

इधर लेमार्क (१७४४-१८२९) ने अपृष्ठवंशी पुराजैविकी (Invertebrate Palaeontology) की नीव डाली और क्युवियर (१७६९-१८३२) ने पृष्ठवंशी पुराजैविकी (Vertebrate Palaeontology , की। लेमार्क ही विकासवाद (Evolutionisn) के पहले जन्मदाता थे। लेमार्क ने सन १८०१ में Animaux Sans Vertebres लिखा। आपकी यह पुस्तक अपृष्ठवंशी पुराजैविकी पर एक अमूल्य ग्रन्थ है। सर्वप्रथम आपने ही फासिल (पुराजीव) शब्द का जीव अवशेष के लिये उपयोग किया।

सन १८१२ में क्युवियर की Recherches sur les Ossemens Fossils de Quadrupedes चार भागों में प्रकाशित हुई। पृष्ठवंशी पुराजैविकी को इसने एक नया मार्ग दिखलाया। स्तनधारी पुराजीवों का वर्णन भी पहली बार आपने ही किया।

पुराजीव का अध्ययन कर 'वरनर' ने बतलाया कि भिन्न-भिन्न शिलाओं में जो पुराजीव पाये जाते हैं उनका उन निक्षेपों (deposits) की आयु से अटूट संबंध है। आपके विचार में प्राथमिक शिलाओं के अतिरिक्त सभी शिलाएँ जल में बनी, और यहीं से जलवादी विचारधारा (Neptunist school) की नीव पड़ी।

वरनर ने बेसाल्ट (Basalt) का भी जलज उद्गम बतलाया। परन्तु गुटार्ड ने आगे चलकर दिखलाया कि बेसाल्ट अग्निमय तरल पदार्थ के जम जाने से बना है। आव्युसन और लिओपोल्ड वक भी पहले बेसाल्ट की जलज उत्पत्ति में विश्वास करते थे—पर उन्होंने अपने विचारों को बदला और बेसाल्ट के अग्नेय उद्गम को माना।

सन् १८०२ में एडिनबरा के प्रोफेसर जौहन प्लेकेयर ने हटन के पृथ्वी से संबद्ध सिद्धान्तों को अच्छी प्रकार समझा कर जगत के सामने रखा। सर जेम्स हाल ने भी 'हटन' के सिद्धान्तों का समर्थन किया।

परन्तु १९ वीं शताब्दी में जो कार्य विलियम स्मिथ ने किया वह भूशास्त्र में चिरस्मरणीय रहेगा। आपने केवल इंगलैंड और वेल्स का भूशास्त्रीय मानचित्र ही तैयार नहीं किया-वरन पुराजीवों के अध्ययन पर जलज शिलाओं का क्रम बनाया। आपने जो नाम ब्रितानी शिलारचनाओं को दिये वे शास्त्रीक हो गये और आज तक उसी रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं।

१९ वी शताब्दी में, फ्रांस में पुराजीव शास्त्र का अध्ययन बहुत तीव्रगति से प्रारम्भ हुआ। इस कार्य को आगे बढ़ाने में लेमार्क और क्युवियर की गवेषणाओं ने पथ-प्रदर्शक का काम किया। १९ वीं शताब्दी के पिछले भाग में सर चार्ल्स लायल ने 'Principles of Geology' नामक अमूल्य ग्रंथ लिखकर और २० वीं सदी के प्रारम्भ में सर आर्कीवाल्डगीक ने 'Text book of Geology' प्रकाशित कर भूशास्त्र के सिद्धान्तों और परिवृत्तों को सरल ढंग से समझा कर, जन-साधारण के सामने रखा।

भारतवर्ष में भूशास्त्र का प्रारम्भ सन् १८१८ में मानना चाहिये, जबकि त्रिकोणमितीय परिमापनविभाग (Trigonometrical Survey office) के अंतर्गत पहला भूशास्त्री नियुक्त किया गया। परंतु भूशास्त्रीय परिमापन विभाग Geological Survey office) का कार्य सुचारु रूप से सन् १८५१ में आरम्भ हुआ, जब कि इसकी बागडोर थोमस ओल्डम ने संभाली। सन् १८७७ में भारत वर्ष का पहला प्रामाणिक भूशास्त्रीय मानचित्र प्रकाशित हुआ। भारतवर्ष में अन्य जिन भूशास्त्रियों ने काम किया उनमें मैडलिकौट, मिडिलमिस, ब्लांडफोर्ड, ग्राइसवाक, हैरोन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

चन्द्रमा की उत्पत्ति

श्री पुष्कर सिंह बी० एस-सी० (आनर्स) लखनऊ वि० वि०

दादी अम्मा के चारों ओर बच्चों का जमाव है। वे कह रही हैं "चन्दा मामा पहले पृथ्वी माता के नजदीक रहते थे। एक दिन एक बुढ़िया मूसल से धान कूट रही थी। लेकिन मूसल हर समय चन्दा से जा टकराता था। बुढ़िया को बहुत गुस्सा आया और उसने चन्दा मामा को जोर से मूसल से मारा। तब मामा हमसे दूर भाग गये।......" बचपन की ये सरस, कपोलकल्पित वरन् रसीली कहानियाँ अब भी सत्य भासित होती हैं। ये ही कहानियाँ मेरे दिल में गुदगुदी लगाये रहीं और मुझे इस लेख को लिखने के लिये बाध्य होना पड़ा।

पौराणिक गाथाओं में चन्द्रमा की उत्पत्ति समुद्र से बतलायी गई है। कहते हैं कि देव-दानवों ने मिलकर समुद्र का मन्थन किया। मन्दराचल को मथानी और सर्पराज बासुकी को रस्सी बनाकर वे समुद्र को मथने लगे। मथते-मथते पहले कामधेनु, फिर मदिरा, कल्पवृक्ष, अप्सरा, चन्द्र, विष, सुधा और लक्ष्मी निकलीं।

वैज्ञानिकों की अन्वेषण-पराकाष्ठा इनसे परे है। तर्कों का समन्वय है लेकिन अच्छी असली रहस्य सिर्फ वादों और सिद्धान्तों तक ही सीमित है। हम अपने पहले लेख "सौर्य जगत की उत्पत्ति" में यह बतला चुके हैं कि उपग्रहों की उत्पत्ति भी ग्रहों के समान वाष्प पदार्थों से तथा आकाशीय रज से हुआ है। इन उपग्रहों का पिन्ड-भार ग्रहों के पिंड-भार से हजारों गुना कम है। लेकिन चन्द्रमा, पृथ्वी का उपग्रह होते हुए भी अपनी अलग विशेषता रखता है। चन्द्रमा का पिंड-भार पृथ्वी से करीब ८१ गुना कम है तथा इसकी उत्पत्ति अन्य उपग्रहों के समान विघर्षण से नहीं वरन् पृथ्वी के गर्भ से हुआ है और यह हो भी कैसे सकता है कि "रात की सुन्दरी" का अप्राकृतिक तरह से निर्माण हो। यह तो कवियों की आशा और चोरों की निराशा है।

चन्द्रमा की उत्पत्ति के समय पृथ्वी की दशा—

जब पृथ्वी अन्य ग्रहों के समान विघर्षण से उत्पन्न हुई उस समय यह गैस अवस्था में थी। इसके बाद ठंडक के कारण, पृथ्वी गैस से सलिल रूप में परिणित हो गयी। संकीर्णता की अधिकता ने पृथ्वी को सलिल अवस्था में भी न रहने दिया और पृथ्वी धीरे-धीरे ठोस अवस्था में आने लगी। विज्ञान के विद्यार्थियों को यह भली भाँति विदित है कि जब किसी गरम द्रव पदार्थ को ठंडा किया जाता है तब उसकी ऊपरी सतह पर एक मोटी तह जम जाती है जैसा कि हमें ज्ञात है कि जब हम गरम दूध को ठंडा करते हैं तब दूध के ठंडा होने के पश्चात्, उसके ऊपर मलाई की एक तह जम जाती है। ठीक इसी तरह चन्द्रमा की उत्पत्ति के समय, पृथ्वी की हालत थी। पृथ्वी की इस तह को हम भू-पृष्ठ कहते हैं। यह भू-पृष्ठ शैलम या सिलिकन तथा ग्रेनाइट से निर्मित तथा इसकी मोटाई ६० मील है। इस प्रभाव का पुष्टिकरण करने के लिये हमें अनुनाद (Resonance) का अध्ययन करना पड़ेगा। इस स्वर्गीय शब्द "अनुनाद" को सब से पहले चार्ल्स डारविन के सुपुत्र जार्ज एच० डारविन ने सुझाया तथा इसी प्रक्रिया से उन्होंने 'चन्द्रमा की उत्पत्ति' का वाद सिद्ध किया जिसे हम अनुनाद-वाद (Theory of resonance) कहते हैं।

अनुनाद के कई उदाहरण हमें स्पष्टतः याद हैं। जैसे जिस समय फौज की टुकड़ी किसी पुल को पार करती है उस समय टुकड़ी को अपने पैरों के "राइट-

लेफ्ट, राइट-लेफ्ट" की धुन तोड़नी पड़ती है क्योंकि पुल के प्रदोलकाल और टुकड़ी की धुन के आवर्त्त-काल का एकैस्वर हो जाने से पुल के टूटने का डर रहता है।

काफी हाउस में बैठे हुए सज्जन जब खानसामा को काफी के लिये आर्डर देते हैं उस समय आर्डर की अधिकता के कारण खानसामा काफी से आपूरित कप को जल्दी पेश करता है। इस जल्दीबाजी में खानसामा के चलने की गति और काफी की गति का आवर्त्तकाल का एका हो जाने से अनुनाद क्रिया शुरू हो जाती है और काफी कप के किनारे से सासर में बह जाता है।

अनुनाद के उपरोक्त उदाहरणों से मालूम होता है कि जब सूर्य की ज्वारभाटा शक्ति के आवर्त्त काल और पृथ्वी के स्वाभाविक प्रदोल काल का एक दोल हो गया तब अनुनाद क्रिया को उत्तेजना मिली और इसके फलस्वरूप ज्वार-भाटे उठे। हमें यह विदित है कि पृथ्वी के आकार के जलीय-गलोब का प्रदोलकाल करीब २ घन्टे होता है और जब चन्द्रमा पृथ्वी का अंश था तब पृथ्वी के पिंड-भार में १·२५ प्रतिशत और अर्ध-व्यास में ०·४ प्रतिशत वृद्धि थी तथा प्रदोल-काल भी अधिक था। इसके विपरीत वर्तमान समय में न्यूनतम और दीर्घ ज्वार-भाटे का आवर्त्त काल १२ घन्टे है याने २४ घन्टे में दो ज्वार और दो भाटे आते हैं जिससे अब पृथ्वी में अनुनाद क्रिया का होना परे हो गया है। जार्ज डारविन ने निश्चयात्मक रूप से कहा है कि जब चन्द्रमा पृथ्वी का अंश था उस समय पृथ्वी की परिभ्रमण गति अपने कक्ष पर तीव्र रही होगी। इस परिभ्रमण गति की तीव्रता को हम भ्रमण गति सुरक्षा नियम के अनुसार जान सकते हैं। वर्तमान समय में चन्द्रमा पृथ्वी से ३८४००० सहस्रमान या २३८,८१७ मील या पृथ्वी के अर्ध व्यास के ६० गुणा दूरी पर है और पृथ्वी के चारों ओर २७ दिन, ७ घन्टे, ४३ मिनट ११.५ सेकंड या करीब २८ दिन में चक्कर लगाता है। जिस समय चन्द्रमा का मूल-तत्व पृथ्वी का अंश था, उस समय यह मूल-तत्व पृथ्वीके अर्धव्याससे ०·५५दूरी पर था। अतः चन्द्रमा का मूल-तत्व परिभ्रमण कक्षा से ६०/०·५५ या १०९ गुणा वर्तमान से कम दूरी पर था और उसका लम्ब वेग भ्रमण की गति सुरक्षा नियम के अनुसार १०९ गुणा अधिक था ताकि चन्द्रमा का मूल-तत्व कक्षा के चारों तरफ (१०९)^{२} = ११८८१ गुणा अधिक तीव्रता से घूमता था। अतः परिभ्रमण समय करीब २८/११८८१ दिन या ३½ मिनट होता है। यह गति पृथ्वी की वर्तमान परिभ्रमण गति से ४०० गुणा अधिक है और जब चन्द्रमा और पृथ्वी एक ही थे उस समय परिभ्रमण गति, दोनों के परिभ्रमण-गति की औसत रही होगी। इसे हम नीचे दिये हुए सूत्र ज्ञात कर सकते है।—

(औसत परिभ्रमण गति) = (पृथ्वी की वर्तमान परिभ्रमण गति) + १/८१ (चन्द्रमा की वर्तमान परि-भ्रमण गति)

= (पृथ्वी की वर्तमान परिभ्रमण गति) + (१ + ४००/८१)

= ६(पृथ्वी की वर्तमान परिभ्रमण गति)

उपरोक्त सूत्र से यह ज्ञात होता है कि मूल-पृथ्वी-चन्द्रमा-पिंड अपने केन्द्र पर वर्तमान पृथ्वी की भ्रमण गति से ६ गुणा अधिक तीव्रता से घूम रहा था। याने ४ घंटे में चक्कर लगाता था और ज्वार भाटे जो अब हर रोज दो बार आते हैं उस समय हर दो घंटे में आया करते थे। ये ज्वार भाटे वर्तमान ज्वार भाटे से विशाल और दीर्घकायी थे। इसके माने यह हैं कि पूर्ण पिन्ड का स्वाभाविक प्रदोल काल (२ घंटे) और ज्वार भाटे का आवर्त्त काल (२ घंटे) का एका हो जाने से अनुनाद क्रिया शुरू हुई और विशाल-ज्वार भाटे आये। इसी ज्वारभाटा महत्ता से हम 'रजनीश' के प्रकाश का आनन्द उठाते हैं। इन ज्वार-भाटों को चन्द्रमा के उत्पन्न करने में करीब ५०० साल लगे। इसमें आश्चर्य की क्या बात है दीति ने भी तो अपने गर्भ (हिरण्यकश्यप) को कई युगों तक रोक रखा था।

क्या चन्द्रमा हमसे दूर भाग रहा है ?

हां, चन्दा मामा हमसे दूर भाग रहे हैं। बुढ़िया ने भी तो कहा था। चन्द्रमा अपने जन्म के बाद पृथ्वी के नजदीक चारों ओर चक्कर लगाता था। परन्तु पृथ्वी और चन्द्रमा के भ्याकृष्ट-अन्तर क्रिया के कारण चन्द्रमा पृथ्वी से दूर चला गया और अभी भी दूर जा रहा है। इसे समझाने के लिये हम आपको पहले ज्वारभाटा का अनुमान कराते हैं। जैसा कि लोगों को विदित है कि पृथ्वी के अग्रभाग में पृष्ठभाग की अपेक्षा चन्द्रमा का प्रभाव अधिक पड़ता है। इस खिंचाव की असमानता के कारण पृथ्वी के कोनों भाग में दो न्यूनतम और दो दीर्घ ज्वार और भाटे आते हैं। ये ज्वार भाटे चन्द्रमा की भ्रमण दिशा की ओर चक्कर लगाने की कोशिश करते हैं। लेकिन पृथ्वी चन्द्रमा से तेज घूमती है (पृथ्वी २४ घंटे में और चन्द्रमा २७ दिन में)। इससे ज्वारभाटे पृथ्वी की भ्रमण दिशा की ओर घूमने लगते हैं। इस ज्वार-भाटे के घुमाव में जल-स्थल बाधा डालते हैं या यों कहिये कि ज्वारभाटा पृथ्वी के घुमाव में ब्रेक का काम करते हैं। इस ब्रेक के कारण पृथ्वी की परिभ्रमण चाल सुस्त होती जा रही है। लेकिन यह सूक्ष्म यंत्र के द्वारा भी अवलोकन नहीं किया जा सकता है क्योंकि करीब १२०,००० साल में एक सेकंड सुस्त होती है। इसे हम पुराने मिस्र, बेबीलोन और चीन के ज्योतिषशास्त्रों में दिये हुए सूर्य और चन्द्र ग्रहण के समय को वर्तमान ज्योतिषशास्त्र में में दिये हुए समय से तुलना करें तो पता चलता है कि सचमुच ही समुद्री ज्वारभाटों ने पृथ्वी की चाल रुकावट डाला है। गवेषणा से ज्ञात होता है कि करीब १० खरब साल पहले दिन चार घंटे के हुआ करते थे जो धीरे-धीरे बढ़ते बढ़ते अब २४ घंटे के होने लगे हैं. यन्त्र विद्या के मूल नियम के अनुसार किसी प्रणाली की कुल भ्रमण गति सदा एक ही रहनी चाहिये। परन्तु जब ज्वार भाटे के कारण पृथ्वी की गति मंद होती है तब चन्द्रमा की कोणीय गति का बढ़ना स्वाभाविक है। चन्द्रमा की भ्रमण गति में यह वृद्धि सहायक रही और उसे धीरे-धीरे पृथ्वी से दूर कर दिया। अब आने वाले समय में करीब ५० खरब साल बाद एक दिन एक महीने के बराबर हो जायगा। इन आने वाले समय में चन्द्रमा हमसे दूर जायगा और एक निश्चित सीमा के बाद फिर पृथ्वी की ओर खींचता आयेगा और अंत में पृथ्वी में फिर मिल जायगा।

चन्द्रमा की प्रकृति और बनावट

पृथ्वी जब द्रव अवस्था में थी उस समय केन्द्राकर्षण शक्ति के कारण उसमें मिश्रित पदार्थ घनत्व के अनुसार जमने लगे। सबसे अधिक घनत्व का पदार्थ सबसे नीचे तथा अन्य पदार्थों का क्रम घन रूप रहा। इससे पृथ्वी का गर्भ मुख्यतः चार हिस्सों में विभक्त हो गया :—

(१) ऊपरी पपड़ी ग्रेनाइट की बनी है। इसका घनत्व २·५–३ तक है तथा मोटाई करीब ५० से १०० सहस्रमान है।

(२) बसाल्ट तह ग्रेनाइट तह के नीचे है। यह बसाल्ट ज्वालामुखीय पदार्थ है। इसका घनत्व ३·३-५ तक है तथा मोटाई हजारों सहस्रमान है।

(३) बसाल्ट तह के नीचे धातु ओषिद और गंधर्कीय मंडल है। इसका घनत्व ५ से ८ तक है।

(४) इसके नीचे लौह और गिलट का केन्द्रमंडल है जिसका घनत्व करीब ८-११ तक है। इन सब का औसत घनत्व करीब ५-५ है। जब चन्द्रमा पृथ्वी से अलग हुआ उस समय यह ग्रेनाइट, बसाल्ट तथा थोड़े अंशों में धातु-ओषिद को भी साथ लेता गया। यही कारण है कि हम चन्द्रमा का घनत्व ३·३ पाते हैं। अतः इससे विदित होता है कि चन्द्रमा की बनावट पथरीली है।

चन्द्रमा स्वयं प्रकाशवान नहीं है परन्तु उसका प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है। सूर्य से लिये हुये प्रकाश को चन्द्रमा परावर्तित करता है इसलिये हम चन्द्रमा को चमकता पाते हैं। यदि चन्द्रमा में कोई प्राणी रहते तो वे भी पृथ्वी को चमकता पाते। जब कभी भी हम चन्द्रमा को देखते हैं तब हमें चन्द्रमा

का एक ही भाग दिखता है और दूसरा नहीं। इसी तरह बुध में भी एक तरफ अनंत दिन और दूसरी तरफ अनंत रात होती है। चन्द्रमा में कोई वातावरण नहीं है इसी से हम वहां कोई वनस्पति नहीं पाते हैं। चन्द्रमा में पानी भी नहीं है। प्राचीन विद्वानों ने वृहद पथरीले मैदान को जल समझकर उसका नाम 'जलसमुद्र' या 'मारिया' नाम दिया है। इनमें कुछ बातें आश्चर्यजनक मालूम पड़ती हैं जिसे हम चन्द्रमा की सैर से सुलझा सकते हैं।

पृथ्वी के चेहरे में झुर्रियां आ गई हैं जिसे हम पहाड़ों के रूप में देखते हैं परन्तु चन्द्रमा के चेहरे में मुहांसे या फुन्सियां निकल गई हैं जिसे क्रेटर कहते हैं। इसे ज्वालामुखी झील भी कहते हैं। चन्द्रमा को दूरबीन या टेलीसकोप से देखने से ज्ञात होता कि इसके पर्वत के बजाय इसके क्रेटर अधिक मनोरंजक हैं। जिन्होंने 'डिस्टीनेशन मून' (Destination Moon) नामक पिक्चर देखा होगा उन्हें याद होगा कि चन्द्रमा में असंख्य क्रेटर हैं जो विशाल हैं और
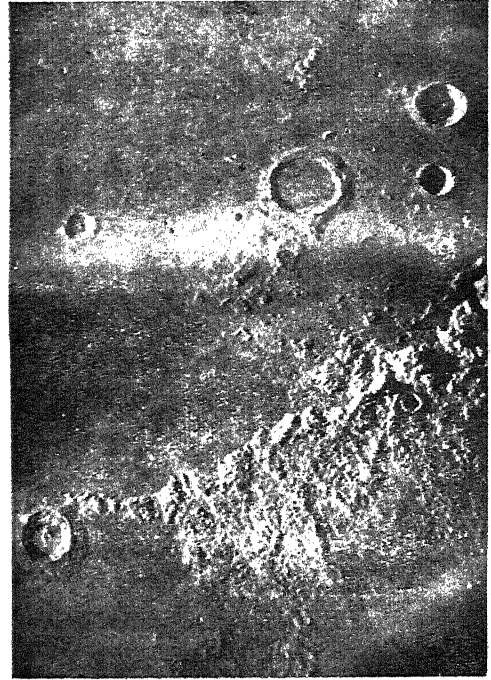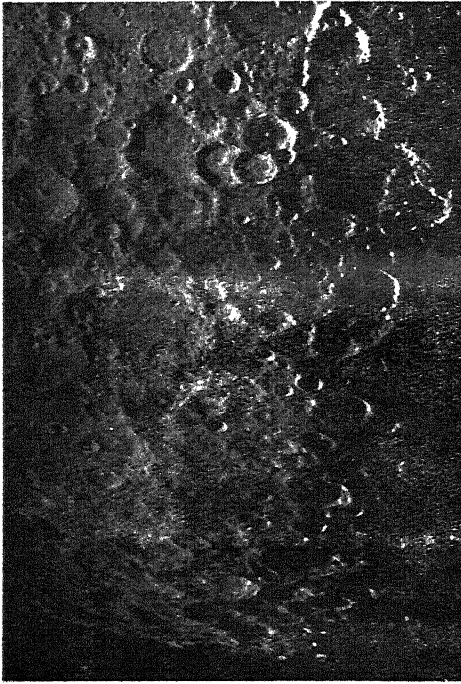
चन्द्रमा के क्रेटर

पृथ्वी में जिनकी कोई समता नहीं है। अभी तक चन्द्रमा में ३०,००० क्रेटर का पता लगा है। इनका व्यास १।४ मील से १५० मील तक है। इनकी दीवालें चन्द्रमा की सतह से १०,००० से २०,००० फुट ऊँची हैं और किसी-किसी जगह इनकी गहराई ३ मील तक पाई गई है।

क्रेटर की उत्पत्ति के बारे में वैज्ञानिकों में मतभेद है। जार्ज डारविन के अनुसार जिस समय चन्द्रमा पृथ्वी से अलग हुआ उस समय उसका अंतःभाग द्रवित था। चन्द्रमा का पिन्ड छोटा होने के कारण बहुत जल्द ठंडा हो गया। इस द्रवित अवस्था में गैस तथा अन्य वाष्प पदार्थ भी मिले थे। चन्द्रमा के ठंडा होने के कारण ये गैस बुलबुले के रूप में निकलने लगे। ये बुलबुले फूटने पर क्रेटर के समान

बन गये। इस समय याद आता है कि जब उत्तप्त तवे पर उल्टा या चिल्ला बना रहे हों, उस समय आप देखेंगे कि उसमें बहुत से बुलबुले आ जाते हैं जो फूटकर उस स्थान को रिक्त कर देते हैं।

डारविन का यह वाद सर्वमान्य नहीं है। दूसरे वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा पर क्रेटर की उत्पत्ति ज्वालामुखी कार्य से बतलाया है। ये ज्वालामुखी विस्फोट बहुत विशाल थे। हमें इस बात को मानने में एक अड़चन पड़ती है वह यह है कि ज्वालामुखी विस्फोट के समय निकले हुए पदार्थों का कहीं अवशेष नहीं मिलता है।

तीसरे मताधिकारियों ने क्रेटर की उत्पत्ति उल्कापात क्रिया के कारण कहा है। एक पदार्थ ३० मील प्रति सेकंड की चाल से चन्द्रमा में क्रेटर बनाने में सफल हो सकता है। पृथ्वी में इस प्रकार क्रेटर देखने में आते हैं। एरिजोना क्रेटर उल्कापात के गिरने के कारण बना है। यह क्रेटर ४००० फुट व्यास का है और इसकी गहराई ६०० फुट है। यदि पृथ्वी में इसी तरह के कई क्रेटर होते तो वे वायु और जल के विदारण क्रिया से लुप्त हो गये होते लेकिन चन्द्रमा में कोई वातावरण नहीं है इसलिये क्रेटर वहाँ अभी तक मौजूद हैं।

यदि यह माना जाय कि चन्द्रमा पृथ्वी से उस समय उत्पन्न हुआ जब कि पृथ्वी द्रवित अवस्था में थी तो द्रव पदार्थ उस रिक्त स्थान को भर लिये होते और हमें रजनीश के छोड़े हुये गड्ढे का निशान न मिला होता क्योंकि द्रव पदार्थ का यह गुण है कि वह हमेशा अपनी सतह समान रखता है। यह आपने पोखर या तालाब में देखा होगा कि पोखर में असमान गड्ढे होते हुए भी पानी अपनी सतह समान रखता है। या जिस समय आप कुएँ से एक बाल्टी पानी निकालते हैं उस समय वह स्थान रिक्त हो जाता है लेकिन देखते ही देखते परिपूर्ण भी हो जाता है। परन्तु यदि हम यह मानें कि उस समय पृथ्वी दृढ़ अवस्था में थी तब उस नवजात शिशु ने पृथ्वी का अधिकांश भाग ले लिया होगा और एक विशाल गड्ढा छोड़ दिया होगा। पृथ्वी के मानचित्र से यह मालूम होता है कि प्रशांत महासागर वह भाग है जहाँ से कि चन्द्रमा अलग हुआ। वह प्रशांत महासागर पृथ्वी का ⅓ हिस्सा लेता है। परन्तु सिर्फ इसी तर्क पर कि प्रशांत महासागर बहुत विशाल है और वृत्ताकार है, यह मान लेना कि चन्द्रमा इसी का अवशेष है, बुद्धिजनक नहीं है। भू-वेत्ताओं ने एक और ही कारण दर्शाया है, जो यह साबित करता है कि प्रशांत महासागर ही वह भाग है जहाँ से कि चन्द्रमा अलग हुआ। हम लेख के शुरू में दर्शा चुके हैं कि पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी ५०—१०० सहस्रमान मोटी ग्रेनाइट से आच्छादित है तथा बसाल्ट के ऊपर आश्रित है। यह बात हरएक महाद्वीपों में तथा हिन्द महासागर आर्कटिक और अटलांटिक समुद्रों में भी सत्य है परन्तु प्रशांत महासागर इसका अपवाद है—प्रशांत महासागर का तल ग्रेनाइट के बजाय बसाल्ट का बना है। आप सारे समुद्र को तथा उसमें छितराए हुए द्वीपों को छान डालिये लेकिन आपको ग्रेनाइट का एक टुकड़ा भी न मिलेगा। ऐसा मालूम होता है कि किसी ईश्वरीय शक्ति ने ग्रेनाइट को सम्पूर्णतः प्रशांत महासागर से हटा दिया हो। इसके सिवाय, प्रशांत महासागर अन्य महासागरों के बजाय ऊँचे पर्वतों से जैसे कारडिलेरा, कमशचाटका, जापान तथा न्यूजीलैंड से घिरा है। ये ज्वालामुखी पर्वत हैं जो अकसर आग उगलते रहते हैं। इससे विदित होता है कि यह वृत्ताकार सरहद अन्य महासागरों के सरहद से भिन्न है। उपरोक्त बातों से हम यह सार निकाल सकते हैं कि प्रशांत महासागर ही वह स्थान है जहाँ से चन्द्रमा का जन्म हुआ।

जैसा कि पहले कहा गया है, चन्द्रमा के जन्म के समय पृथ्वी के ऊपरी भाग में ग्रेनाइट की पपड़ी थी चन्द्रमा के बिछुड़ते ही पृथ्वी के विपरीत भाग में भी इसका प्रभाव पड़ा और पपड़ी में दरार पड़ गये! उस समय ग्रेनाइट पूर्णतः जमा नहीं था परंतु टाफी केन्डी के समान था। ये गाढ़े ग्रेनाइट फैलकर पपड़ी पर पड़े दरारों को भर सके। यही बात है कि

जब हम अटलांटिक, आर्कटिक और हिन्द महासागर के तल का निरीक्षण करते हैं तब ग्रेनाइट की पपड़ी पतली मालूम पड़ती है। अल्फ्रेड वेजनर ने महाद्वीपीय-ऊढ़ (Continental Drift) में इसका जिक्र किया है कि पहले यूरोप, एशिया अमेरिका और आस्ट्रेलिया मिले हुए थे लेकिन दरारों के बन

चन्द्रमा पर से पृथ्वी के दृश्य की कल्पना

जाने से उनमें गति आ गई और वे एक दूसरे से अलग हो गये। ये महाद्वीप अभी भी एक दूसरे से दूर हटते जा रहे हैं। यदि चन्द्रमा पृथ्वी से अलग अलग हुआ होता तो हम सारे विश्व को जलमग्न पाते और बीच बीच में जापान के समान असंख्य द्वीप दिखते। उस समय भूगोल के विद्यार्थियों को नाम याद करने में अपना सिर खपाना नहीं पड़ता।

एक महाशय ने इस लेख को पढ़कर यह आपत्ति की कि क्या चन्द्रमा ही वह चन्द्रलोक है जहाँ मनुष्य के मरणोपरांत उसकी आत्मा जाती है? इसके उत्तर में हम यह कहना चाहते हैं कि "जिस चन्द्रमा को हम देखते हैं, जिसका रात्रि के समय भू-पृष्ठ पर प्रकाश होता है, वह चन्द्रमा तो पृथ्वी का उपग्रह है जो अन्य समस्त ग्रहों की अपेक्षा भू-पृष्ठ के समीप हैं। परन्तु देवमार्ग प्रतिपादक श्रुति में तो चन्द्रलोक सूर्यलोक के भी अनन्तर लिखा गया है ज्योतिषशास्त्र के हिसाब से इस प्रकार के चन्द्रमा एक प्रकार के विकारी तारा होते हैं जो चन्द्रमा की तरह घटने बढ़ने के कारण सोमतारा कहलाते हैं।" जीवों का चन्द्रलोक में जाने का पथ इस श्लोक से ज्ञात होता है :—

मासेभ्यः संवत्सर—संवत्सरादादित्यमादित्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो मानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥

जो जीव साकार ब्रह्म की उपासना करते हैं वे मरने के बाद·········संवत्सर को, आदित्य (सूर्य) को चन्द्रमा नामक नक्षत्र को एक के बाद एक को मार्ग बनाते हुए चले जाते हैं। फिर ब्रह्मलोक से अमानव पुरुष आकर इनको ब्रह्मलोक में पहुंचा देता है, यह देवयान मार्ग है।"
(छान्दोग्य ५।१०)।

महाद्वीप अचल नहीं हैं[1]

जनार्दन प्रसाद श्रीवास्तव एम. ए., एम. एस-सी., एफ. एन. जी. एस.,
अध्यक्ष, भूगोल-विभाग, टी. डी. डिग्री कालेज, जौनपुर

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भूगोल में इस वृत्त[2] को महाद्वीपीय-प्रवाह (Continental Drift) की संज्ञा दी गई है। यह नाम अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि इसके अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है, कि पूर्व काल में महाद्वीप हुए हैं। इसके अनुसन्धान का श्रेय प्रो० अल्फ्रेड वैजेनर को है। इन्होंने इस सिद्धान्त का प्रणयन सन् १९१२ ई० में किया था, किन्तु विज्ञान-जगत ने इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। अपने प्रबन्ध[3] का परिष्कार और संशोधन कर इन्होंने उसे सन १९२२ ई० में जर्मन भाषा में प्रकाशित किया। सन् १९२४ ई० में इसका अंगरेजी संस्करण निकला। तभी से यह सिद्धान्त महान वाद-विवाद का विषय रहा है।

सिद्धान्त के विकास का कारण

भूगर्भ-शास्त्र के अनेक ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है, कि पूर्वकाल में जलवायु का वितरण वर्तमान काल से बिल्कुल भिन्न था। उदाहरण के लिये राजपूताना में हमें हिमनदियों[4] के चिन्ह मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है, कि वहाँ कभी न कभी अत्यन्त शीतल जलवायु व्याप्त था। इसी प्रकार जर्मनी में कोयला पाया जाना वहाँ पर किसी समय उष्ण जलवायु के होने का द्योतक है। जलवायु के इन महान विभेदों का स्पष्टीकरण करना, विज्ञान-जगत के समक्ष एक समस्या थी।

इस विषय में दो ही संभावनायें हो सकती हैं:—

या तो (१) स्थलखण्ड स्थिर रहें और जलवायु के कटिबन्धों में विवर्तन होता रहा।

अथवा (२) जलवायु के कटिबन्ध स्थिर रहें और स्थलखण्डों की स्थिति में अन्तर होते रहें।

वैजेनर का सिद्धान्त उपर्युक्त दूसरी संभावना पर आधारित है।

संक्षेप में, महाद्वीपीय-प्रवाह के सिद्धान्त का विकास पूर्वकालीन जलवायु के महान विभेदों का स्पष्टीकरण करने के लिये हुआ।

सिद्धान्त की रूप-रेखा

इस सिद्धान्त के अनुसार पुराकल्प (Palaeo zoic Era) में :—

१—दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका, प्रायद्वीपीय भारत[5] आस्ट्रेलिया और अण्टार्कटिका एक दूसरे से जुड़े हुए थे और एक महान स्थलखण्ड का निर्माण करते थे, जिसे 'गोण्डवानालैण्ड' (Gondwanaland) कहते हैं।

२—दूसरी ओर उ० अमरीका, योरप और एशिया एक दूसरे से जुड़े हुए थे और एक दूसरे स्थलखण्ड का निर्माण करते थे, जिसे 'लॉरेशिया' (Laurasia) कहते हैं।

लॉरेशिया उत्तर में था और गोण्डवानालैण्ड दक्षिण में और इनके मध्य में एक संकरा सा सागर था, जिसे भूगर्भ-वेत्ताओं ने टैथिस-सागर (Tethys sea) की संज्ञा दी है। लॉरेशिया और

---

१ लेखक की शीघ्र प्रकाशित होने वाली रचना 'भूसैद्धान्तिकी' से २ Phenomenon ३ Thesis ४ Glaciers ५ Peninsular India

गोण्डवानालैण्ड को मिलाकर पैंञ्जेइया (Pangaea) कहा गया है।

इस युग में वर्तमान महाद्वीपों के अनेक भाग जलमग्न थे और दक्षिणी ध्रुव दक्षिणी अफ्रीका के तट पर स्थित था।
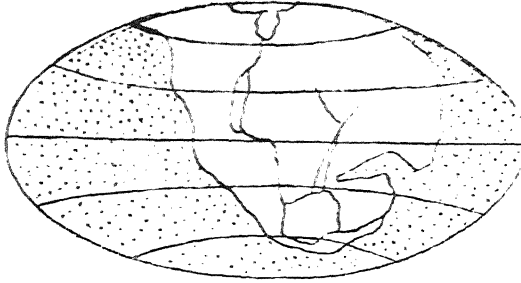
वैजनर के अनुसार, कालान्तर में, पैञ्जेइया के विभिन्न भाग विदीर्ण होकर प्रवाहित होने लगे। एक प्रवाह पश्चिम की ओर हुआ, जिसके अन्तर्गत उत्तरी दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीप थे। दूसरा प्रवाह भूमध्य-रेखा की ओर हुआ, जिससे अफ्रीका आदि प्रभावित हुए। महाद्वीपों का वर्तमान विन्यास इस प्रकार अस्तित्व में आया।

वैजनर के अनुसार पैञ्जेइया के दक्षिणी भाग में विदारण की मुख्य क्रिया मध्य कल्प (Mesozoic Era) में हुई और उत्तरी भाग में तृतीयक कल्प (Tertiary Era) में।

यह सिद्धान्त पर्वतों की उत्पत्ति पर भी प्रकाश डालता है। उदाहरण के लिये आल्प्स श्रेणी का निर्माण अफ्रीका और योरप के निकट आने के फलस्वरूप हुई भंजन (Folding) की क्रिया है।

वाद-विवाद (Discussion)

(क) *अनुकूल प्रमाण*

इस सिद्धान्त के पक्ष में अनेक प्रमाण हैं, जिनमें कुछ निम्नलिखित हैं :—

(१) भूगोल के प्रमाण—इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण अटलांटिक महासागर के पूर्वी और पश्चिमी तटों की समान आकृति है। संसार के मानचित्र के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यदि ब्राजील का पूर्वी तट अफ्रीका के गिनी-तट के निकट लाया जावे, तो वे दोनों एक दूसरे में अच्छी तरह सट जाते हैं।

(२) भूगर्भ-शास्त्र के प्रमाण—भूगर्भ-वेत्ताओं ने अटलांटिक महासागर के दोनों तटों पर विद्यमान शिलाओं और पर्वत-श्रेणियों का अध्ययन किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उनके गुणों में बड़ा साम्य है। वे न केवल भौमिकीय इतिहास (Geological History) की दृष्टि से वरन् संरचना (Structure) की दृष्टि से भी समान हैं। यह समानता भौमिकीय प्रक्रम (Geological History) अभिनति कोण (Dip), भंजन-रेखाओं (Fold lines) की दिशा आदि अनेक प्रमाणों पर आधारित है।

(३) ज्यामिति (Geodesy) के प्रमाण—अभिनवकाल में यह ज्ञात हुआ है कि ग्रीनलैण्ड अब भी अत्यन्त मन्द वेग से कैनाडा की ओर प्रवाहित हो रहा है। यदि ग्रीनलैण्ड जैसा विशाल द्वीप खिसक सकता है, तो अन्य महाद्वीपों के प्रवाहित होने में आश्चर्य की कौन सी बात है ?

(४ पुराप्राणिकी (Palaeontology) के प्रमाण—पुराप्राणिकी से हम जीवों और पादपों के अवशेषों (Fossils) का अध्ययन करते हैं। इस विज्ञान के विशेषज्ञों ने भी अटलांटिक के दोनों तटों की परीक्षा की है और वहाँ पर पाये जाने वाले अवशेषों की तुलना की है। उनमें उन्हें पर्याप्त साम्य मिला है।

(५) प्राणिकी शास्त्र (Biology) के प्रमाण—योरप में कुछ ऐसे जीव पाये जाते हैं, जो ऋतु विशेष में पश्चिम की ओर जाकर अटलांटिक महासागर में डूब जाते हैं। उनके इस आचरण से प्राणिकीविदों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनकी यह आदत उस समय से चली आ रही है, जब अमेरिका योरप से जुड़ा हुआ था। उस समय ये जीव ऋतु-विशेष में अमेरिका चले जाते थे, जिस प्रकार अनेक भारतीय पक्षी ऋतु विशेष में हिमालय की ओर चले जाते हैं।

(६) पुराजलवायुकी (Palaeo-Climatology)

के प्रमाण—महाद्वीपीय-प्रवाह के सिद्धान्त द्वारा पूर्वकालीन जलवायु के महान विभेद समझ में आ जाते हैं। वास्तव में इस सिद्धान्त का प्रणयन इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुआ था, जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है।

(ख) *प्रतिकूल प्रमाण*

इस सिद्धान्त के विपक्ष में भी अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। उनमें कुछ ये हैं:—

(१) ज्योतिष (Astronomy) के प्रमाण—वैजेनर का कथन है कि अमेरिका का पश्चिम की ओर प्रवाह वेला-बल (Tidal Force) के कारण हुआ। ज्योतिषवेत्ताओं ने गणित द्वारा यह निश्चित किया है कि अमेरिका को पश्चिम की ओर प्रवाहित करने के लिये जिस बल की आवश्यकता होगी वह वर्तमान वेला-बल का दस अरब गुना होगा। प्रथम तो यह संभव ही नहीं, फिर यदि इसे संभव भी मान लिया जावे, तो उससे पृथ्वी का परिभ्रमण (Rotation) रुक जायगा।

(२) भौतिकशास्त्र (Physics) के प्रमाण—भौतिकशास्त्रियों का कथन है कि (Viscosity) के कारण महाद्वीपों का प्रवाह संभव ही नहीं है।

(३) पुरासात्विकी (Palaentology) के प्रमाण—कुछ समान और समकालीन अवशेष, जैसे जिह्वापर्ण (Glossopteris) ऐसे स्थानों में पाये जाते हैं, जो इस सिद्धान्त के अनुसार कभी भी निकट नहीं रहे हैं।

(४) भूगोल के प्रमाण—अटलाण्टिक महासागर के बीच में एक समुद्रान्तर कूट (Submarine Ridge) विद्यमान है। यदि इस सिद्धान्त के अनुसार अमेरिका का पूर्वीतट, योरप और अफ्रीका के पश्चिमी तट से चिपका हुआ था, तो यह कूट कहाँ था ?

(५) जलवायुकी (Climatology) के प्रमाण—यद्यपि इस सिद्धान्त से जलवायु के अनेक पूर्वकालीन विभेद स्पष्ट हो जाते हैं, तथापि समस्त नहीं।

(६) भूगर्भ-शास्त्र के प्रमाण—भूगर्भ-वेत्ताओं ने जब अटलाण्टिक के उभय तटों का गंभीर अध्ययन किया, तो वे भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये दोनों तट किन्हीं अंशों में समाकृत भले ही हों, सर्वाङ्ग समान नहीं हैं।

(७) अन्य आपत्तियाँ—इनमें कुछ ये हैं :—

(क) वैजेनर के अनुसार प्रवाह विषुवत रेखा की ओर हुआ है। यदि यह सत्य होता तो महाद्वीपीय खण्डों को विषुवत रेखा के निकट एकत्र हो जाना चाहिये था।

(ख) इस सिद्धान्त में दो विरोधी बातों का उल्लेख है। एक ओर तो यह कहा जाता है कि सैभ्रा (Sima के ऊपर सैस्फ (Sial) प्रवाहित हुआ और दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि सैभ्रा में सैस्फ के अग्रभागों (Frontal Edges) के भंजन (Folding) करने की सामर्थ्य है, जिससे पर्वतों की उत्पत्ति होती है।

(ग) कुछ आलोचक यह प्रश्न करते हैं कि पैंगेइया का विदारण पुराकल्प (Palaeozoic Era) ही में क्यों हुआ ? उसके पूर्व अथवा पश्चात् क्यों नहीं ?

(घ) इस सिद्धान्त के अनुसार योरप और अमेरिका एक दूसरे से पृथक हुए हैं किन्तु इस पार्थक्य के फलस्वरूप हुई भंजन की क्रिया के प्रमाण क्या हैं और कहाँ हैं ?

(ङ) वर्तमान भंजित (Folded) पर्वतश्रेणियों को यदि अपने मूलरूप में प्रसारित (Unfold) कर दिया जाय, तो महाद्वीपों का जो स्वरूप बनेगा वह इस सिद्धान्त के अनुकूल न होगा।

(च) यदि पैङ्गेइया का विदारण वैजेनर के कथन के अनुसार हुआ है, तो जो समता अटलाण्टिक महासागर के दोनों तटों पर पाई जाती है, वह न होनी चाहिये थी, क्योंकि बाद में हुई विभंगन (Faulting) आदि क्रियायें उसे नष्ट कर देतीं। अतएव यह सिद्धान्त स्वयं अपना खण्डन करता है।...आदि।

वैजेनर के सिद्धान्त की कटु आलोचना होने का

[शेष पृष्ठ १६ पर]

गणितीय शब्दमालायें

[डाक्टर व्रज मोहन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय]

पारिभाषिक शब्द अकेले नहीं चलते, अपने परिवारों के साथ चलते हैं। जो व्यक्ति पारिभाषिक शब्दावली बनाना चाहते हैं उनके लिये यह आवश्यक है कि पृथक् पृथक् शब्दों के पर्याय न बनाकर पूरे पूरे शब्द-परिवारों के पर्याय एक साथ बनाया करें। कुछ पुस्तक-लेखक इस बात पर ध्यान नहीं देते। वे केवल उन्हीं शब्दों के पर्याय बना लेते हैं जिनका उनकी पुस्तक में उपयोग हो रहा हो। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में कभी कभी बड़ी भ्रान्ति फैल जाती है। 'परिभाषा' का शब्द ही लीजिये। इसका वास्तविक अर्थ है 'पारिभाषिक भाषा' अथवा 'विशेष प्रकार की भाषा'। अतः इसे Technical language का पर्याय मानना चाहिए। कदाचित इसी कारण कुछ लेखक इसे Terminology का पर्याय मानने लगे हैं क्योंकि Terminology भी Technical language का ही एक अंग है। दक्षिणी लेखक वाडेकर ने एक मनोवैज्ञानिक शब्दावली बनायी है जिसका नाम रक्खा है 'भारतीय मानस-शास्त्र परिभाषा'। उक्त नाम में परिभाषा का अर्थ Terminology ही है। परन्तु अधिकांश हिन्दी लेखक 'परिभाषा' को Definition के अर्थ में लिखते चले आये हैं। अतएव अब इसका यह अर्थ हटाया नहीं जा सकता। यदि आरम्भ में ही इस शब्द-परिवार के समस्त शब्दों :—

Definition, Technical language, Nomenclature, Terminology

के पर्याय बना लिये गये होते तो कदाचित् प्राचीन लेखक Technical language के लिए 'परिभाषा' निर्धारित करते और Definitirn के लिये 'व्याख्या' अथवा कोई अन्य शब्द। अब वस्तु-स्थिति यह है कि परिभाषा Technical language और Definition दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता ही रहेगा।

एक अन्य शब्द-समूह लीजिए :—

Combination, Accumulation, Aggregate, Assemblage, Bundle, Cluster, Collection.

इन शब्दों में कई शब्द ऐसे हैं जिनके शाब्दिक अर्थ एक से हैं परन्तु पारिभाषिक अर्थों में महान् अन्तर पड़ गया है। साधारण भाषा में भी Bundle और Collection के अर्थों में अन्तर है। परन्तु गणितीय विषयों में यह अन्तर बहुत बढ़ जाता है। इसी प्रकार Aggregate और Accumulation में जो अन्तर साधारण भाषा में है उससे कहीं अधिक अन्तर गणितीय भाषा में है।

मैं यहाँ एक उदाहरण और लेता हूँ। एक बार मैं एक लेख लिख रहा था जिसमें Stationary tangent का अनुवाद करना था। मैंने इसका अनुवाद 'स्थायी स्पर्शी' कर दिया। परन्तु कुछ समय पश्चात् निम्नलिखित शब्दों के अनुवाद की आवश्यकता आ पड़ी :—

Permanent, Stable

तब मुझे दिखलाई दिया कि 'स्थायी' शब्द इन दोनों शब्दों के लिये अधिक उपयुक्त पर्याय होगा। अतएव Stationary के लिए पर्याय बदलना आवश्यक हो गया। एक मित्र के सुझाव पर मैंने इसके लिए 'स्तब्ध' पर्याय स्वीकार कर लिया। यदि आरम्भ में ही तीनों समानार्थी शब्दों के पर्याय बना लिये होते तो अवश्य ही यह विभ्रम बच जाता।

इन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखकर इस लेखमाला में गणितीय शब्द-परिवारों के पर्याय देता हूँ। आशा है अन्य गणितीय लेखक इन पर मनन करेंगे और अपनी सम्मति देंगे।

जो शब्द मैंने डा० रघुवीर की शब्दावलियों से लिये हैं उनके आगे कोष्ठक में (र) लिख दिया है।

No.	English	Hindi
1.	Abscissa	भुज
	Ordinate	कोटि
	Coordinates	नियामक, भुजयुग्म
2.	Above par	सममूल्य से ऊपर
	At par	सममूल्य पर
	Below par	सममूल्य से नीचे
3.	Acceleration	गतिवृद्धि, त्वरण (र)
	Deceleration	गतिह्रास
	Retardation	गतिह्रास
4	Action	क्रिया, कार्य
	Reaction	प्रतिक्रिया
	Operation	क्रिया
5.	Actual	वास्तविक
	Virtual	आभास—
6.	Acute Angle	न्यून कोण
	Obtuse Angle	अधिक कोण
7.	Adfected	अशुद्ध
	Pure	शुद्ध
8.	Adjacent	आसन्न
	Adjoining	संलग्न
	Adjoint	संलग्न
9	Agenda	कार्यावली
	Programme	कार्यक्रम
10.	Algebraical	बीजगणितीय
	Transcendental	बीजातीत
11.	Alternando	एकान्तर निष्पत्ति
	Componendo	योग निष्पत्ति
	Dividendo	अन्तर निष्पत्ति
	Invertando	व्युत्क्रम निष्पत्ति
	Componendo et Dividendo	योगान्तर निष्पत्ति
12.	Analysis	विश्लेषण
	Synthesis	संश्लेषण
13.	Angle of Depression	अवनति कोण
	Angle of Elevation	उन्नति कोण
14	Angle of incidence	आपतन कोण
	Angle of reflection	परावर्तन कोण
15.	Antarctic Circle	दक्षिण ध्रुव रेखा
	Arctic Circle	उत्तर ध्रुव रेखा
16.	Antecedent	पूर्वगामी
	Consequent	उत्तरगामी
17.	A. P.	स० श्रे०
	G. P.	गु० श्रे०
	H. P.	ह० श्रे०
18.	A posteriori	अपर प्रमाण से
	A priori	पूर्वापर प्रमाण से
	A fortiori	प्रबल प्रमाण से
19.	Arithmetic Mean	समान्तर मध्यक
	Geometric Mean	गुणोत्तर मध्यक, ज्यामितीय मध्यक
	Harmonic Mean	हरात्मक मध्यक
20.	Arithmetical Progression	समान्तर श्रेढ़ी
	Geometrical Progression	गुणोत्तर श्रेढ़ी, ज्यामितीय श्रेढ़ी
	Harmonical Progression	हरात्मक श्रेढ़ी
21.	Arrangement	विन्यास
	Derangement	अविन्यास
22.	Ascending Order	आरोह क्रम
	Descending Order	अवरोह क्रम
23.	Associative Law	सहचरन नियम
	Commutative Law	व्यत्यय नियम
	Distributive Law	विकलन नियम

24. Attraction	आकर्षण
Repulsion	विकर्षण
25. Axiom	स्वयंसिद्धि
Postulate	अबाध्योपक्रम
26. Average	माध्य
Mean	मध्यक
27. Because	यतः
Hence	अतएव
Since	चूँकि
Therefore	अतः
28. Binomial	द्विपदी
Monomial	एकपदी
Multinomial	वहुपदी
Polynomial	वहुपदी
Trinomial	त्रिपदी
29. Bottom	तली
Top	चोटी
30. Bound	परिमा
Boundary	पर्यन्त, घेरा
Circumference	परिधि
Contour	नेमि
Limit	सीमा
Outline	बहीरेखा
Perimeter	परिमिति
Periphery	वाह्यरेखा
31. Braces	धनुकोष्ठक
Crotchets	गुरु कोष्ठक
Parentheses	लघुकोष्ठक
Vinculum	रेखा कोष्ठक
32. Brittle	भिदुर
Ductile	तन्य
Elastic	लचीला
Flexible	नम्य
Hard	कठिन
Malleable	कुट्टय, वर्द्धनीय
Plastic	सुनम्य
Rigid	दृढ़
Soft	मृदु, कोमल
Tough	कठोर
Viscous	सान्द्र
33. Cardinal Number	गणनात्मक संख्या
Multiplivative Number	गुणात्मक संख्या
Ordinal Number	क्रमात्मक संख्या
34. Case	दशा
Condition	अनुबन्ध, शर्त
State	अवस्था
35. Category	निकाय (ग)
Class	वर्ग
Family	वंश, कुल, परिवार
Group	समुदाय
Kind	प्रकार
Order	(१) वर्ण (२) क्रम
Species	जाति
System	(१) संहति (२) पद्धति (३) व्यवस्था
Type	प्ररूप

(पृष्ठ १३ का शेष)

एक कारण यह भी है कि उसने पर्वतों की उत्पत्ति विषयक 'तापीय संकोचन के सिद्धान्त' (The Theory of Thermal Contraction) की पूर्ण उपेक्षा की है। जिस समय महाद्वीपीय-प्रवाह का प्रणयन हुआ, उस समय तापीय संकोचन के सिद्धान्त की बड़ी प्रतिष्ठा थी।

निष्कर्ष

संक्षेप में, यद्यपि वैजेनर के सिद्धान्त को कोई भी सर्वांशितः अथवा मूलरूप में मानने को तैयार नहीं है, तथापि जब तक इससे अधिक सफल और यथार्थ सिद्धांत का अनुसन्धान नहीं होता—कम से कम—तब तक-भूगोल और भौमिकी जगत में इसका मान रहेगा।

—o—

रसायन का इतिहास (२)

श्री नन्दलाल जैन, एम० एस-सी०

४.१ आधुनिक काल: पूर्वार्ध

रसायन शास्त्र को आधुनिक निरीक्षण और प्रयोगात्मक रूप देने वालों में सबसे पहले श्री रोबर्ट बॉयल [१६२७-१६९१] का नाम आता है, उन्होंने 'विज्ञान को विज्ञान के लिए' के सिद्धान्त के साथ प्रयोगात्मक विधियों की सारणी द्वारा अरस्तू के चतुस्तत्व, या कीमियागिरी के विभिन्न तत्वों की धारा को समाप्त किया और सबसे पहले तत्व [Element] की परिभाषा दी :—

I mean by elements certain primitive and simple, or perfectly unmingled bodies, which not being made of any other bodies, or of one another, are the ingredients which all those...bodies are immediatly compounded, and into which they are ultimalety resolved".

यौगिक व मिश्रण की परिभाषा व अम्लगुण-निरूपण के साथ उन्होंने वायु-पंप निर्माण द्वारा वायु-दाव और न्यून दाव-जन्य का प्रभाव अध्ययन कर स्थिर तापक्रम पर दाव और आयतन का पारस्परिक आक्रान्त अनुपात बताया और न्यून दाव पर किये गये स्रावण का उपकरण भी प्रस्तुत किया। इस विषय की उनकी एक पुस्तक [Sceptical Chemist] बहुत ही प्रसिद्ध है। इन्हीं खोजों के आधार पर श्री बॉयल को आधुनिक रसायन-विज्ञान का जनक कहा जाता है। परन्तु पदार्थ-रचना-सम्बन्धी तथ्य इस समय वैज्ञानिक जगत् में आदर नहीं पा सके, क्योंकि मनीषीगण जलने की क्रिया का रहस्य ढूँढ़ने में लगे थे। लगभग एक शताब्दी तक रचना सम्बन्धी खासी बात सामने नहीं आ पायी। जलन-विधि का व्याख्यान श्री जे जे० बेचर [१६३५-८२] और श्री जी० ई० स्टाल [१६६०-१७३४] ने फ्लोजिस्टनवाद को जन्म देकर किया, जिसके अनुसार प्रत्येक धातु या जलन-शील वस्तु, काल्क्स (Calx) और Phlogiston से बनी मानी जाती थी। जलने पर फ्लोजिस्टन निकल जाता था। इसके अनुसार चलने पर वस्तु का भार नहीं बढ़ना चाहिये, परन्तु प्रयोगों में भार बढ़ता देखा गया। और इसका उत्तर फ्लोजिस्टन को ऋणात्मक भारीय मानकर किया गया। इसी युग में श्री जे० ब्लेक [१७२८-९९] और श्री जे० प्रीस्टले [१७३३-१८०४], जिन्होंने पानी के स्थानान्तर से गैस एकत्र करने की विधि, ताल [lens] द्वारा पारद-भस्म से ओषजन [O_2] की प्राप्ति, एवं NO, N_2O, NH_3, HCl, SO_3, Sodawater आदि का पता लगाया, श्री हेनरी केवेन्डिश [१७३१-१८१०] जिन्होंने उद्‌जन की खोज, पानी की रचना, पारद का हिमांक एवं तुल्यभार की विधि निकाली, श्री के० डब्लू० शील [१७४२-८६] हुए जिन्होंने प्रयोगात्मक रसायन के स्थिरीकरण एवं फ्लोजिस्टनवाद के पक्ष में अपना योग दिया। श्री शील ने तो कई कार्बनिक (Organic) अम्ल भी ज्ञात किये। परन्तु भार-वृद्धिजन्य संदेह के आधार पर श्री ए० एल० लेव्योजियर [१७४३-९४] ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि पारे में [HgO बनाते समय] हवा का सिर्फ १/५ वां भाग ही काम आता है, जो जलने के काम का है, बाकी अंश तो निष्क्रिय [Azote air] है और श्री प्रीस्टले के ओषजन [Dephlogisticated air] के आधार पर तो उसने हवा की द्विगैसीय आयतनात्मिकता रचना बताकर ओषजन को ही जलने में मूल सिद्धकर

फ्लोजिस्टन-सिद्धान्त का अंत किया। इसके बाद पुनः वस्तु-रचना और उसके संयोग-वियोग की ओर ध्यान गया और श्री प्राउस्ट [१७५४-१८२०] ने स्थिर-अनुपात नियम, जो श्री बरथोलेट [१७४८-१८२२] के मत का व्यक्त रूप था, एवं श्री जे० बी० रिचटर ने व्युत्क्रम अनुपात नियम प्रस्तुत किया, जिसका दृढ़ीकरणात्मक सत्यापन इस सदी के महान् वैज्ञानिक श्री जे० डाल्टन [१७६६-१८४४] ने अपने परमाणु-सिद्धांत द्वारा किया, जो भारतीय या श्री डेमोक्रिटस के प्रयोगनिरपेक्ष सिद्धान्त का नया संस्करण है। इस सिद्धान्त ने वर्तमान सदी के पूर्व रसायन विज्ञान की आधार-शिला का काम दिया है। गुणक-अनुपात नियम भी उक्त नियम द्वय के के आधार पर भी डाल्टन ने प्रस्तुत किया है। जब वस्तु की परमाणविक रचना ज्ञात हुई, तो उनके सात्विक या आपेक्षित भारों का ज्ञान आवश्यक प्रतीत हुआ, फलस्वरूप श्री गे-ल्युसक [१७७८-१८५०] ने अपने गैसीय-आयतन-नियम प्रस्थापन द्वारा इस ओर पहला कदम उठाया, परन्तु इस नियम के वास्तविक अनुमान को वे स्वयं ही न भांप सके और श्री जे० जे० बरजीलियस [१७७९-१८४८] ने समान आयतन के समान परमाणुमय होने का उपाय प्रस्तावित किया; परन्तु गणना में इससे परमाणु-खंड की आशंका आ पड़ी, जिसने वैज्ञानिकों का मस्तिष्क तब तक विलोड़ित किया जब तक सन् १८१२ में श्री ए० अवोगाड्रो [१७७६-१८५६] के द्वारा प्रस्तावित पर लगभग पचास वर्ष बाद श्री के निजारो [१८२६-१९१] के द्वारा १८५८ में एक सभा में 'अणु की खोज' उद्घाटित नहीं हुई। अणु-परमाणु की मान्यता रसायन-शास्त्र का भित्ति-मूल कही जाती है जिससे अणु भार, ग्राम-अणु-सम-आयतनिकता [gases] प्रभृति बहुत से तथ्य प्रकट हुए। श्री डाल्टन ने तत्वों और यौगिकों को संक्षेप में लिखने के लिये एक सांकेतिक विधि निकाली थी, (जैसे O=O_2, ⊙=H_2, θ=N_2, O⊙= HO (H_2 O) आदि) पर इसमें कुछ स्पष्ट कमी होने के कारण वर्तमान प्रचलित प्रणाली श्री बरजीलियस ने निकाली थी जिन्होंने परमाणु-भार-सारिणी एवं पानी की भारात्मक रचना का भी ज्ञान किया था।

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में जिन अन्य वैज्ञानिकों ने रसायन विज्ञान की प्रगति में महानतम योग दिया है, उनमें श्री हम्फ्रीडेवी [१७७८-१८२९] और श्री माइकेल फैराडे [१७९१-१८६७] का नामोल्लेख किये बिना निरूपण अधूरा रह जाता है। अपने मित्रों में रसायन-विज्ञान का आकर्षण पाकर श्री डेवी ने तत्कालीन शब्द कोष और श्री लवोजियर की Element नामक पुस्तकें पढ़ी और जलने की क्रिया के व्याख्यान और स्पष्टीकरण की इच्छा हुई परन्तु उसके मित्र ने उसे नाइट्रस ऑक्साइड [N_2 O] के जानवरों पर प्रभाव जानने के प्रति प्रेरित किया। पर किसी प्रकार शुद्ध N_2 O प्राप्त कर उन्होंने स्वयं पर उसका प्रयोग किया और विवेकशून्य व स्वप्नसम अवस्था के आनन्द का अनुभव किया। और फलस्वरूप N_2O का दन्त चिकित्सा, शल्यक्रिया में उपयोग होने लगा। इसी प्रकार वाटर-गैस का भयानक प्रभाव भी उन्होंने स्वयं पर डाला जो इन शब्दों में व्यक्त होता है :—

That he did not kill himself with this was a sheer miracle.

श्री डेवी ने विद्युद्विच्छेदन पर भी एक साल में ६ लेख लिखे और क्षारीय धातुओं, क्षारीय-पार्थिव-धातुओं, बोरोन (B) एवं विभिन्न क्षार और अम्ल इस विधि से तयार किये और विद्युद्रसायन का प्रयोगिक सूत्रपात किया। उन्होंने क्लोरीन गैस की तात्विकता, [Elementary nature] और अनार्द्र गैस की रंजन-हीनता एवं इस तत्व के कई यौगिक भी बताये। आयोडीन का अनुसंधान भी इन्होंने किया। [और गे० लुसक ने भी] एवं अपने सुरक्षा-दीप द्वारा तो उन्होंने जगत का भला किया ही है। श्री डेवी के साथ रहकर श्री फैराडे ने भी सुरक्षा-दीप में काफी सहायता दी थी पर उसके बाद पृथक होकर उन्होंने कार्बन और क्लोरीन के दो यौगिकों, इस्पात की मिश्र

धातुओं, विद्युच्चुम्बकत्व, द्रव क्लोरीन, बेंजीन [$C_6 H_6$ – Bicarburete of Hydrogen from distilling illuminating gas and Condensing the middle fraction in freezing mixture] इत्यादि के निर्माण के साथ विद्युद्रसायन का उन्होंने अच्छा विस्तार किया एवं तत्संबंधी सारी परिभाषिक शब्दावली गढ़कर [Electrolyte, anode cathode, anions, cations, ions] नियम भी प्रस्थापित किये [$W = ct$ व $\frac{W_1}{W_2} = \frac{Z_1}{Z_2}$]

सन् १८३४ के आयन शब्द में आधुनिक-एकात्मक विद्युत्तात्मक परमाणु या इलेक्ट्रन का मूल निहित है।

[४. २] आधुनिकः काल—उत्तरार्ध १. भौतिक रसायन-विज्ञान

इस प्रकार उन्नीसवीं सदी का प्रारंभ डाल्टन के परमाणुसिद्धान्त, लेवायजर के जलन क्रिया व्याख्या, व फराडे के विद्युत्विच्छेदन, एवागाड्रो के 'अणु' के साथ होता है, और उत्साहप्रद वातावरण में यह और आगे की सदी कितनी आगे बढ़ती है इसका निरूपण करना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। साधारणतया इस सदी में रसायन-विज्ञान की तीन स्पष्ट शाखायें हो जाती हैं (i) भौतिक (ii) कार्बनिक (iii) अकार्बनिक। भौतिक रसायन शास्त्रियों में आवर्त संविभाग नियम के प्रस्तोता श्री नीडलैंन्ड [१८३७-१८९८] और केनिजारो के भाषण के समय उपस्थित श्री लोदरमेयर और श्री मेंडालीफ [१८३४-१९०७] का नाम मुख्य है, जिसकी भित्ति १८१५ में श्री डवलू-प्राउट ने परमाणुभार के पूर्णांक रूप में अभिव्यक्त करने का सुझाव दिया था जिसका खंडन भी १८६० में श्री स्टाल ने कर दिया था। सन् १८६९-७० में आवर्त संविभाग सारिणी द्वारा विद्यमान तत्वों का व्यवस्थित और तुलनात्मक अध्ययन, एवं नये तत्वों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई। परन्तु इस सारिणी में कुछ दोष भी दीख पड़े जब देखा गया कि एक तो परमाणु का ही पूर्णांक नहीं है, दूसरे पोटेशियम, आरगोन, टैलूरियम, आयोडीन आदि की स्थिति की प्रतिकूलता, दुर्लभ पार्थिव-धातुओं एवं निष्क्रिय गैसों का विन्यास आदि का उपयुक्त स्थान नहीं है। इस स्थिति को उत्पन्न करने में श्री जे० जे० थामसन की विचित्र किरणें [केथोड, पोजिटिव] एवं इलेक्ट्रोन, प्रोट्रोन, आदि [श्रीरदरफार्ड] युक्त परमाणु रचना और श्री आस्टन के मात्रा-वर्ण-पटलेखक [Mass-Spectrograph] द्वारा चित्रित मात्रा वर्ण-पट ने समस्थानिकत्व [Isotopism] की समस्या प्रमुख रही, जिसका हल किया श्रीनीलबोर [इलेक्ट्रन का रूप बताकर] और श्री मोसले ने परमाणु का हृदय बताकर, प्रत्येक तत्व पर शून्य में कैथोड किरणों का आक्रमण कराने पर निकली हुई 'K' किरणों की तरंग दैर्ध्य के वर्गमूल साथ तत्व सारिणी में दिये गये तत्वक्रमांक को रेखा चित्रित करने पर यह

$$\text{परमाणु संख्या} \propto \sqrt{\frac{}{\text{K किरणतरंगदैर्ध्य}}}$$

$\propto \sqrt{\text{आवृत्ति}}$ अनुमान निकाला।

इस प्रकार परमाणुभार के बदले परमाणु संख्या को सारिणी का आधार माना जाने लगा और पूर्वोक्त कठिनाइयाँ दूर हो गईं जैसा कि अन्य ग्रन्थों के देखने पर पता चल सकता है।

परमाणु की रचना के विषय में भी अनुसन्धान किये गये। और श्री लीविस ने octet सिद्धान्त तथा श्री टामसन और श्री रदरफोर्ड ने नक्षत्रीय चक्रावृत्ति जिसमें केन्द्रपिंड [Neucleus] और इलेक्ट्रोनिक चक्र होते हैं, प्रस्तुत की। बाद में यह भी देखा गया कि जब केन्द्रपिंड पर सक्रिय किरणों की बोछार पड़ती है, उसमें से कुछ कण [किरणें] निकलती हैं, जिनसे केन्द्रपिंड के प्रोटानिक अंक न्यूनाधिक हो जाते हैं और तत्व भी बदल जाते हैं। विकरणधर्मिता की खोज ने परमाणु की इस रचना और शक्ति का पता चला लिया, जिसका श्रेय श्री० मेडमक्यूरी, श्री बेकेरेल, एवं श्री रोंटजन को है। श्री जीगर ने अपने जीगर गणक द्वारा इकाई आय-

तन में प्राप्त अणुओं की संख्या का पता लगाया और इस प्रकार २२.४ लिटर में विद्यमान एक ग्राम अणु में अणु की संख्या [६.०६ × १० २३] के रूप में अवोगाड्रो स्थिरांक ज्ञात किया और इस तरह उदजन के एक परमाणु का भार भी पता चल गया। $\left\{\left[\frac{1}{6\times10^{23}}=166\times10-^{24}\right.\right.$ ग्राम$\left.\left.\right]\right\}$ इसी के आधार पर अन्य परमाणुओं का आपेक्षिक भार ज्ञात किया जाने लगा। परमाणु-रचना ने श्री डाल्टन के परमाणु रूप को काफी अंशों में छिन्न-भिन्न कर दिया है फिर भी वह परमाणु अब भी रासायनिक क्रियाओं का मूल है।

जब परमाणु-रचना संबन्धी ये अनुसंधान हो रहे थे अन्य विषयों की ओर भी प्रयत्न हो रहे थे। योजनीयता की रूपरेखा श्री एडवर्ड फ्रॉकलैंड ने प्रस्तुत की, परमाणु भार निर्धारणार्थ की ड्यूलॉग और पेटिट ने अपना नियम तथा श्री फोंक ने मणिभों की रचना एवं श्री मिशरलिश [१७९४-१८६३] ने समाकृतित्व नियम प्रस्थापित किया। सन् १७३८ में वर्नोली द्वारा प्रस्तावित और श्री क्लासियस, वोल्टमान और क्लार्क मेक्सवेल द्वारा प्रस्थापित गैसीय गतिशीलता सिद्धान्त, श्री प्रिंगशीम, श्री डी व्रीज, नॉलेट, पेरोट, फिशर एवं श्री वान्टहाफ [१८५१-१९११] ने अभिसारक [Osmotic] दाब और तत्संबन्धी तथ्य प्रकट किये। इसी बीच अणुभार की विभिन्न विधियाँ की प्रस्तुत की गईं। रासायनिक साम्य और परिवर्तन की प्रक्रिया का भी कारण रसायनिक आकर्षण श्री मेयो, जोंफरी और श्री बर्गमान [१७७५] ने बताया पर श्री वेञल [१७७७] और श्री बर्थोलेट के अनुसन्धानों के आधार पर श्री गुलबर्ग और श्री वागो ने १८६४-६७ में मात्रात्मिका-क्रिया नियम द्वारा तात्विक व्याख्या दी।

इसी प्रकार श्री ग्राहम [१८०५-१८६७] ने प्रसारण-सिद्धान्त एवं स्कंधित एवं मणिभीकृत वस्तुओं में अवस्थाभेद [State of particles] प्रस्तावित किया। श्री वोन्टहाफ ने घोल-विषयक अध्ययन भी किये और घुलित पदार्थ के अणुभार में पाये जाने वाली विषमता को $i=\left[\frac{pCal}{pObs.}\right]$ को मानकर दूर किया, पर इस i की स्पष्ट परिभाषा दी श्री एस आर्हीनियस [१८५९-१९२९] ने अपने आयनीकरण के सिद्धान्त द्वारा और बताया कि i से आयनीभूत अंश समझना चाहिये। श्री वान्टहाफ ने भी इस कार्य में इनको योगदिया था। उसने i के निकालने की परिचालकता विधि, जिसमें परिचालकता आयन की संख्या और इनकी गतिपर निर्भर करती है, बताई। आयनीकरण का गुणात्मक निरूपण तो श्री ग्रोथम और श्री क्लोशिमस ने भी किया था, पर परिमाणात्मक अंश श्री आर्हीनियस का ही है। उस समय तो यह सिद्धान्त किसी ने भी स्वीकृत नहीं किया, परन्तु बाद में घुलित अवस्था की तो बात ही क्या श्री ब्रागबन्धुओं के मणिभों के अक्ष-किरण विश्लेषण से यह पता लगाया है कि मणिभीकृत लवण भी आयनीभूत ही होते हैं। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि विद्युचालक घोल तीव्र और मंद दो प्रकार के होते हैं। मंदतम घोलों की परिचालकता सर्वाधिक पाई गई हैं, तीव्र घोल यद्यपि पूर्णतया आयनीभूत होते हैं, पर उनमें स्थान की कमी होने से आयन की गतिशीलता कम होने से उसकी परिचालता का पूरा माप नहीं आ पाता। आयनीकरन का अंश श्री ओष्टवाल्ड के नियम से भी निकाला जा सकता है। श्री बरजीलियस और श्री ओष्टवाल्ड ने उत्प्रेरक पदार्थों की छानबीन की। विद्युद्रसायन के नये प्रकटनों द्वारा 10H अंक प्राप्त हुआ, जिसका आज रासायनिक क्रियाओं और उद्योगों की क्षमता नापने में कितना उपयोग है यह सभी जानते हैं। अधिशोषण (Absorption) संबंधी श्री लेंग्मीर की व्याख्या भी भौतिक रसायन में उल्लेखनीय है। इस प्रकार विभिन्न दिशाओं में यह शाखा अधिकाधिक विस्तृत होती जा रही है और अब तो इस शाखा के नियमानुसार ही आप शाखायें संचालित होती है, जब कि तथ्य यह है कि विभिन्न शाखाओं की क्रिया-

प्रतिक्रियाओं के अध्ययन में ही इस शाखा का विकाश हुआ है।

[४.३]कार्बनिक-रसायन

यद्यपि श्री व्हूलर (१८०० -८२) के द्वारा यूरिया $CO(NH_2)_2$ श्रीकोब द्वारा सिरकाम्ल ($CH_3CO OH$), श्रीवरयोलॅट द्वारा अलकोहल (C_2H_5OH) को प्रयोगशाला में कृत्रिम रूप से, अकार्बनिक पदार्थों से, तैयार किये जाने के कारण बहुत समय से आती हुई यह भेदक रेखा तो समाप्त हो ही गई कि पदार्थ दो प्रकार के हैं (१) खनिज जो प्रयोगशाला में बनाये जा सकें एवं (२) उद्भिज एवं प्राणिज जो बिना किसी सूक्ष्म यान्त्रिकों (जीवित) के तयार न किये जा सकें ! इस प्रकार की भेदक रेखा सब से पहले श्री निकोलस लमेरी (१६७५- ७५०) ने खींची थी। दूसरे प्रकार के पदार्थों को कार्बनिक प्रांगरिक) कहा जाता है: और श्री लेव्याजियर ने सिद्ध किया था कि इस जाति के पदार्थों में कार्बन, ओषजन और उद्‌जन की विभिन्न आनुपातिक मात्रायें होती है। और ये साधारण रसायन-नियमानुसार नहीं, अपितु अदृश्य पर सबल शक्ति द्वारा बनते हैं, ऐसा, माना जाने लगा। पर श्री बरजीलियस ने श्री डाल्टन के परमाणु सिद्धान्त के आधार पर किये गये विभिन्न प्रयोग द्वारा यह बात भ्रान्त बताई, और प्रथम वाक्योक्त (इसी पारा के) प्रयोगों ने इस भेद का भी अन्त कर दिया। पहले लिखा जा चुका है कि श्री फराडे को बेंजीन (C_6H_6)एवं थूटिलीन(C_4H_8) का पता लगाया। इसके पहले भी कुछ यौगिक ज्ञात थे, जैसे श्री वेलेरियस को ईथर (१५४०) श्री ग्लावर को (१६०३-१६६८) लकड़ी का विनाशक स्रावण, श्री रोबर्ट बोयल को ऐसीटोन और श्री शील को विभिन्न कार्बनिक अम्ल व ग्लिसरीन आदि।

यद्यपि पूर्वोक्त भेदक-रेखा समाप्त होगई। फिर भी कार्बनिक रसायन अब भी एक विस्तृत एवं पृथक शाखा है, सिर्फ इस बल पर कि इसमें प्रायः कार्बन-योगिकों का ही निरूपण होता है, जो इतने अधिक हैं कि साधारण रसायन में उनका पूर्ण विवरण नहीं दिया जा सकता। साथ ही इन यौगिकों के अधिकतम प्रकृति में प्रायः होने से इनकी अणविक रचना भी जटिल है। इसका अनुसंधान श्री लीब्जिग (१८०३-७३) ने इन योगिकों की मूल विश्लेषण-विधि खोज कर एवं श्री व्हूलर के सहयोग से बेंजोइक अम्ल (C_6H_5COOH) के, जो सोलहवीं सदी में ज्ञात हो चुका था, विभिन्न-यौगिक-विश्लेषण के आधार पर 'मूलक-सिद्धान्त' की नींव डाल कर किया जो श्री बुन्सन (१८११-९९) ने भी प्राप्त किया। इसी रचना के स्पष्टीकरण में श्री ड्यूमा (१८००-८४) ने 'आपतन-सिद्धान्त' Theory of Substitution) द्वारा प्रयत्न किया। परन्तु इन योगिकों की दुरूहता और विचित्रता की कुञ्जी मिली श्री फ्रांकलेंड के योजनीयता सिद्धान्त में और श्री केक्यूले (१८२९-९५) व श्री कूपर (१८३१-९२) के कार्बन के चतुः संयोज्यता एवं तीव्र-संयुजन-सामर्थ (linking power) वाले सिद्धान्त में। इसी बीच श्री परकिन (१८३८-१९०७) ने कुनैन की खोज में मावे (Mauve Aniline Parple 1856) नामक रंजक द्रव्य, एवं उसे वस्तुओं पर स्थिर रूपेण नियत करने के टैनिन-सदृश उपरंजक द्रव्यों (mordants) के निर्माण करने की परकिन-विधि तो सभी जानते हैं। (बेन्जाल्डी हाइड से सिनामिक अम्ल)। इसी समय की अलेक्जेन्डर पार्कस ने पर्केसाइन (Parkesin३) नामक नये पदार्थ की ओर लोगों, का ध्यान आकृष्ट कर प्लास्टिक पदार्थों का सूत्रपात किया (Celluloid 1865) । श्री जान मर्सर ने भी मर्सरीकरण विधि द्वारा वस्त्रों की चमक-दमक बढ़ाई और धीरे-धीरे कृत्रिम सिल्क की विभिन्न विधियों का प्रादुर्भाव हुआ। श्री केक्यूले के सिद्धान्तों के पश्चात् ही श्री लुई पास्त्यूर व श्री वान्ट-हाफ ने अन्तर-रचना ज्ञात करने के प्रयत्न में कुछ नये यौगिक (जैसे मीसो-टार्टरिक-अम्ल प्राप्त की एवं प्रकाश ध्रुवण और उसके मूलभूत सम रचना (Assymetrical Structure) की खोज की, जिससे वह शाखा और विस्तृत हो चली और प्रकाश-ध्रुवण-

रसायन एक उपशाखा-सी बन गई, जिसका विश्लेषणात्मक उपयोग विभिन्न उद्योगों में किया जाता है। श्री पास्त्यूर के किण्वीकरण सम्बन्धी जीवित-तन्तु-व्याख्यान ने तो इस क्रिया को सर्वत्र प्रयुज्य बना दिया। औषध-विज्ञान आज उनका विशेष ऋणी है और उन्हें Microbe Man कह कर पुकारता है। इस विषयक अगले अन्वेषणों एवं तीव्र रसायनिक नियंत्रणों के आधार पर नये-नये पदार्थों का व्यर्थ समझे जाने वाले पदार्थों (जैसे चोटा, molasses, Sulphite liquor) आदि से, उद्भव हुआ। श्री ट्राब ने बाद में यह सिद्ध किया यह क्रिया 'ऐन्जाइम' द्वारा होती है जो निर्जीव, तापसंवेदनशील, विशिष्ट एवं जीवित तन्तुओं से प्रसूत होते हैं श्री ब्युकना द्वारा १८९७ में(Yeast) तन्तुओं से प्रथक्कृत Enzymes की सक्रियता ने यद्यपि श्री पास्त्यूर के सिद्धान्त को दबा दिया, पर उसने अनुसंधान काय में बहुत सहायता की। अस्तु, जो भी हो, आज की सभ्यता के लिये अत्यन्त अनिवार्य कुछ द्रव्य तो इसी क्रिया से तैयार होते हैं। पाचन-क्रिया का भी रासायनिक व्याख्यान श्रीवान हालमोंट के किण्वीकरण, श्रीपिटकेने के यान्त्रिक-क्रिया-सिद्धान्त पूर्वक श्री स्वान ने १८३६ में Gastric रस-सम्पाद्यमान Enzymes की क्रिया-युक्त बताया। कोल के और उससे प्राप्त कोलतार के विनाशक स्रावणों ने (जोन क्लेटन, १७३८) तथा पेट्रोलियम (१८५९) और लकड़ी के भी, विभिन्न यौगिक जिनमें श्री फराडे का बेंजीन मुख्य है और जिसकी वानर-रचना (Clovd Chain monkey structure) श्री केक्यूले ने ज्ञात की, खोजकर वसीप और सुगन्धिमय पदार्थों के रूप में कार्बनिक रसायन के दो भाग किये। पैट्रोल और तत्पस्स्रित अवयव, साबुन, तैल, कृत्रिम सिल्क, प्रोटीन श्वेतसार, विटामिन, कुछ विस्फोटक, (श्री नोबल का' डयनामाइट, १८६२ (ii) श्री सोनबीन, गनकाटन १८४५ इत्यादि मोमवत्ती, वनस्पति घी [असंतृप्त अम्लों को संतृप्त बनाने की विधि] आदि प्रथम विभागांतर्गत् हैं। एवं विभिन्न रंजक और उपरंजक द्रव्य, स्याही, रबड़, नवीन प्लास्टिक, कुछ कीटनाशक [फेनोल, सिन्टोक्स, क्रेमोल, इत्यादि] उपचार द्रव्य, जो प्रायः औषधि द्रव्य भी हैं (Alkaloids), सुगंधित-द्रव्य [डरपीन फाइमोल, पिनीन-आदि] व कुछ विस्फोटक (T. N. T. Darapum) पिकरिक एसिड-आदि) दूसरे विभाग के अंतर्गत हैं। इन्हीं दिशाओं में इस शाखा ने मानव के विकास के लिए कितने शक्ति और विलास, रक्षा और पोषण और रोग नियंत्रण के साधन प्रस्तुत किये हैं, इसका वर्णन प्रस्तुत सीमा में नहीं आता। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि एक सदी में भी कम समय में इस शाखा ने सर्वाधिक विकास किया है। खासकर प्रकृति के विरुद्ध रासायनिक विद्रोह का दोषारोपण जो आज लगाया जाता है, वह इस विभाग के अन्तर्गत किये प्रकृति के निरीक्षण, परीक्षण और आवश्यकतानुसार तत्सम-वस्तु-सृजनेच्छा का ही परिणाम है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि यह आरोप मात्र शब्दाडंबर है, वस्तुतंतु विज्ञान प्रकृति का अनन्य सेवक और पूरक ही है।

[४.४] अकार्बनिक

आजकल विद्यमान तत्वों की संख्या ९६ मानी जाती है, जिसमें लगभग ४४ पा ४६ तत्व उन्नीसवीं-सदी के उत्तरार्ध से अबतक के समय में ही आविष्कृत हुए हैं जिनमें निष्क्रिय गैस (१८९४-१९०२) विभिन्न विकिरणधर्मा तत्व, और वर्तमान द्विदशक में प्राप्त प्रोमीनियम, (१९४५), नेप्चूनियम, प्लटोनियम, अमेरिकियम, क्यूरियम, व फ्रान्सियम (१९४०-४४) मुख्य हैं। धातुओं सम्बंधी मणिभज्ञान ने धातुओं की शक्ति का ज्ञान कराया है। एवं मिश्र धातुओं की नयी-नयी सूचियों ने पुरानी धातुओं जैसे लौह ताम्र पीतल का उपयोग ही समाप्त कर दिया है। विभिन्न इस्पात, अल्युमीनियम, की हलकी और जल-ताप-रसायन प्रतिरोधक मिश्र धातुओं ने कारखाने ही क्या, बड़े-बड़े शहरों तक का निर्माण और यथेच्छ साधन को यातायात (Transport) करना सरल बना दिया है। पोर्टलेंडसिमेंट और कंक्रीट, पत्थर विगत

शताब्दी की ही तो चीज हैं। यद्यपि कॉच और चीनी मिट्टी ईसापूर्व कई शताब्दियों से ज्ञात थीं, पर उनका कारखानों में यांत्रिक उत्पादन, विभिन्न जाति-उपजाति जो विभिन्न रूपों में आज मानव जाति की सेवा कर रही हैं, अभी की ही बातें हैं। मृद्विज्ञान और खाद-निर्माण, पेंट (Paints) और विभिन्न रोगन [Pigments], रंगीन शोभा देने वाले कुछ पदार्थ जैसे [Distempess], इत्यादि इस शाखा का कितना विशाल क्षेत्र है इसका अनुमान इसी में लगाया जा सकता है, कि संपूर्ण तत्वों का पूर्ण विवरण इसमें पाया जाता है। यह अल्पकाय निरूपण इसके वर्णन के लिए अपर्याप्त है।

इस युग में बहुत सी व्यर्थ समझकर फेंकी जाने वाली वस्तुओं से उनके अधिक परिभाषा के कारण या उनके पड़े रहने पर होने वाली हानियों को दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार के उपयोगी पदार्थ प्राप्त करने की ओर वैज्ञानिकों का विशेष ध्यान गया है। वायु से खाद निर्माण और निष्क्रिय गैसों की प्राप्ति, समुद्र में पाई जानेवाली वनस्पतियों में आयोडीन, ब्रोमीन, प्रोटीन, सेल्यूलोज, रोगन, अलगीनिक अम्ल, कृत्रिम वस्त्र इत्यादि, धातु-प्राप्ति विधियों से प्राप्त धन-ध्रुव कीच (Anode mud) से विभिन्न बहुमूल्य धातुओं की प्राप्ति, चिमनी से निकलने वाले धुएँ [Flue gases] से प्राप्त होने वाले पदार्थ, [Slag] से प्राप्त होने वाले सिमिन्ट वगैरह के पदार्थ, मिट्टी में अलुमीनियम प्राप्त करना, लकड़ी और कोयले के स्रावणों में प्राप्त विभिन्न द्रव्यों में उपयोगी पदार्थ प्राप्त करना, बुरादे से चीनी और शराब तैयार करना, बीच, चीड़, बाँस, घास आदि से कपड़ा और कागज तैयार करना, सोडा, चीनी, कागज, पैट्रोल, चर्म आदि विभिन्न उद्योगों से प्राप्त अनुपयोगी पदार्थों से गंधक, शराब, बोर्डपेपर, रेशम [Rayon] टालतैल (Tall Oil) प्रोटीन साबुन के तैल [from Coffee-grouts] विभिन्न मोमें [Paraffins] ग्लू, जिलेटीन, वसा और चर्वी, एवं विभिन्न ज्वलनशील गैस [from Sewage], जलने में प्राप्त गैसों में शुष्क बर्फ, अल्युमिनियम के धनध्रुव कीच से Cryollite प्राप्त करना, साफ करने वाले घोलों से [Pickting liquors] विभिन्न धातुएँ प्राप्त करना इत्यादि।

इसी प्रकार कृत्रिम-वस्तुओं का निर्माण भी आज विकसित अवस्था में है, कहना तो यह चाहिये कि लौह और ताम्रयुग के बाद अब प्लास्टिक युग शुरू हो गया है। शक्ति के लिये कोयला, विद्युत और अब परमाणु-युग आ रहा है। उपर्युक्त विवेचन मात्र वे दिशायें बताया है, जिनकी ओर रसायन-विज्ञान की विभिन्न शाखायें दौड़ीं या दौड़ रही हैं।

इस लेख का प्रथम खंड जनवरी १९५३ के विज्ञान में छपा था।

ग्रैनाइटीकरण

श्री० कृष्ण चन्द्र दुबे, एम० एस-सी०, प्राध्यापक, भौमिक विज्ञान, सागर विश्व विद्यालय

ग्रैनाइटीकरण भौमिक-विज्ञान की एक नई धारा है। हम तीन प्रकार की शिलाएं मानते रहे हैं—मूल अथवा अग्नि शिलाएं; स्तरी अथवा तलछटी शिलाएं और परिवर्त्तित शिलाएं। ग्रैनाइट शिलाओं को हम मूल अग्नि शिला मानते रहे हैं। वास्तव में ग्रैनाइट अम्लीय शिला है जिसकी रचना में क्वॉट्ज और फेल्सपार खनिज मुख्य रूप से भाग लेते हैं और फेल्सपार में ऑरथोक्लेज अथवा पोटैशियम फेल्सपार प्लैजियोक्लेज अथवा लाइम-सोडा फेल्सपार से मात्रा में अधिक रहता है। रसायनिक रचना के आधार पर शिला-विज्ञान में ग्रैनाइट-श्रेणी नामक पूरी की पूरी श्रेणी उन शिलाओं की है जो अम्लीय हैं और इस श्रेणी में ग्रैनाइट, टोनालाइट, ग्रैनोडायोराइट, अडामेलाइट तथा डायोराइट, रायोलाइट और ऑवसीडियन शिलाएं हैं। अंतिम दो शिलाएँ ज्वालामुखी जनित हैं। यह एक सामान्य अवलोकन का विषय है कि ये शिलायें बड़े प्रादेशिक परिमाण में पाषाण द्रवाक्रमण के रूप में मिलती हैं जिन्हें बैथोलिथ कहते हैं। प्रश्न यह उठा कि पृथ्वी में पायी जाने वाली ग्रैनाइट-श्रेणी की सभी शिलाएं क्या पाषाण द्रव-जनित हैं, जो पाषाणद्रव के ठंडे होने से बनीं अथवा इस प्रकार की शिलाएँ किसी अन्य क्रिया के द्वारा भी बनी हैं, जो क्रिया पाषाणद्रव-अवस्था से स्वतंत्र होती है। इस द्वितीय मत को शिला-विज्ञान में ग्रैनाइटीकरण-क्रिया के नाम से स्थान मिला हैं। ग्रैनाइटीकरण क्रिया की परिभाषा करते हुए डाक्टर अर्नेस्ट ई० व्हालस्ट्रॉम अपनी पुस्तक में कहते हैं: "ग्रैनाइटीकरण वह क्रिया है जिसके फलस्वरूप एकरस अथवा विविधरस की शिलाएं ग्रैनाइट शिला में पाषाणद्रव-अवस्था से स्वतंत्र परिवर्त्तित होती हैं।" श्री० एफ० एफ० ग्राउट इस क्रिया को परिभाषित करते हुए कहते हैं—"ग्रैनाइटीकरण-क्रिया के अंतर्गत वे सब क्रियाएं आती हैं जिनके प्रभाव से कोई भी अद्रवी ठोस शिला पहिले से अधिक ग्रैनाइट-रूपी हो जाती हैं।"

ग्रैनाइट-शिला की उत्पत्ति पर दो बिलकुल विरुद्ध पक्ष हैं। एक केवल पाषाणद्रव-द्वारा जनित शिलाएं मानता है और दूसरा पक्ष पृथ्वी की सारी शिलाओं को केवल ग्रैनाइटीकरण के फल स्वरूप मानता है। उदाहरण स्वरूप श्री वेकलैंड ने १८४६ में कहा है—कि बैसाल्ट तथा उस पाषाणद्रव के विभेदीकरण से उत्पन्न शिलाओं को छोड़कर शेष सभी तथाकथित अग्नि शिलाएं ग्रैनाइटीकरण का फल हैं। ग्रैनाइटीकरणपक्षी भी दो शिविरों में विभाजित हैं। एक पक्ष इस क्रिया को ठोस अथवा अद्रव अवस्था में परिचालित मानता है और दूसरे पक्ष के अनुसार इस क्रिया के फलीभूत होने में किसी भी परिमाण में द्रव-अवस्था का सहयोग रहा है इस प्रकार ग्रैनाइट शिलाओं की उत्पत्ति पर जो विचार हैं उन्हें इस प्रकार दर्शाया जा सकता है:—

ग्रैनाइट शिलाओं की उत्पत्ति

पाषाणद्रव-जनित पक्षीय | ग्रैनाइटीकरण-पक्षीय

ग्रैनाइटीकरण-पक्षीय: अद्रव-पक्षीय | द्रव-पक्षीय
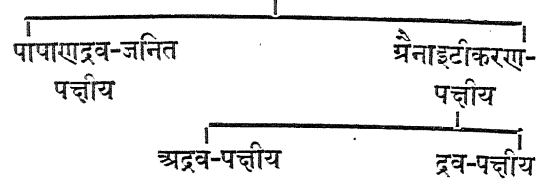
सन् १८३३ से इस विषय पर वैज्ञानिक-साहित्य की एक बाढ़ सी आ गई है। अमेरिका की भूशास्त्र समिति का प्रकाशन इस विषय पर अमूल्य साहित्य

है। ग्रैनाइट शिलाओं की उत्पत्ति पर तीन विचार-धाराएं हैं:—

प्रथम विचारधारा एडवर्ड स्वेस के द्वारा प्रस्तावित हुई। इसके अनुसार ग्रैनाइट-पाषाणद्रव सारी शिलाओं के द्रवीकरण के कारण उत्पन्न होता है।

द्वितीय विचार माइकेल डेवी के कार्य से आरंभ हुआ। इसके अनुसार ग्रैनाइट शिलाओं की उत्पत्ति सारी शिलाओं पर क्षारयुक्त गैसों के प्रभाव से हुई है।

तृतीय विचार वोग्ट के कारण है। इसके अनुसार ग्रैनाइट पाषाणद्रव एक अति वृहत् ग्रैबो पाषाणद्रव का अन्तिम भाग है।

ग्रैनाइटीकरण-क्रियाः

ग्रैनाइटीकरण पर सर्वप्रथम विचारक फ्रेंच वैज्ञानिक थे। उन्होंने ही सब से पहले यह अवलोकित किया कि ग्रैनाइट शिलाओं के पार्श्व में पायी जाने वाली शिलाओं में स्पष्ट परिवर्त्तन हुआ है और ज्यों-ज्यों दूरी बढ़ती जाती है—यह परिवर्त्तन कम होता जाता है। यह परिवर्त्तन निश्चित ही उन शिलाओं पर ग्रैनिटिक पाषाण द्रवाक्रमिक प्रबल ज्वाला गैसों और द्रवों के प्रभाव के कारण है। यह ग्रैनाइट पाषाणद्रव इन शिलाओं को ग्रैनाइट-रूपी शिलाओं में परिवर्तित कर देता है। मुख्य आक्रमण के पूर्व पाषाणद्रव के निःस्राव और ज्वाला आदि के कारण मूलशिलाओं में परिवर्त्तन होता है और जब मुख्य पाषाणद्रव उपस्थित होता है तो यह परिवर्त्तन इन शिलाओं और पाषाणद्रव के एकीकरण में सहायक होता है।

१९२७ में अमेरिकन वैज्ञानिक क्वार्क ने ओंटारियो की मिगमाटाइट-क्वॉर्टजाइट शिला का विवरण लिखते हुए बतलाया कि यह शिला अलक्षित रूप से ग्रैनाइट शिला में मिल जाती है। १९३३ में सेडरहोम ने जिस किया का प्रतिपादन किया उसके द्वारा अति गहरी दबी हुए शिलाओं का विस्तारक द्रवीकरण और तत्पश्चात् परिवर्त्तन को मान्यता दी गई थी। इस विस्तारक प्रादेशिक द्रवीकरण के फलस्वरूप ग्रैनिटिक पाषाणद्रव की उत्पत्ति हुई जिसने उन शिलाओं को अपने में मिलाकर मिगमाटाइट शिलाओं की रचना की। इस प्रादेशिक द्रवीकरण को जिसके फलस्वरूप लेई-रूपी गाढ़े, पाषाणद्रव पदार्थ की उत्पत्ति हुई, सेडरहोम ने 'एनाटेक्सिस' नाम दिया। बाद के विचारों में सेडरहोम इस 'एनाटेक्सिस' नाम दिया। बाद के विचारों में सेडरहोम इस एनाटेक्सिस-क्रिया को बहुत महत्व नहीं देते हैं और एक परिवर्तन प्रदर्शित करते हैं। द्रवीकरण से अधिक उन्होंने जोर निःस्राव और ज्वालागैसों पर दिया जो भौतिक और रासायनिक रूप से बहुत ही प्रबल रहते हैं और मूल प्रादेशिक शिलाओं को परिवर्त्तित करने में अति-समर्थ हैं। इन निःस्रावों को उन्होंने 'इकर' कहा। सन् १९३४ ई० में ए० एल० एंडरसन ने यह अवलोकित किया कि इडाहो बैथोलिथ की क्वॉर्टजाइट-दीवारें ग्रैनाइट में परिवर्त्तित हैं। १९३६ में वेगमैन ने मिगमाइटीकरण पर नया प्रकाश डाला और कहा कि यह क्रिया मूल शिलाओं में एक लहर की भाँति बढ़ती जाती है और पीछे ग्रैनाइट और नाइस शिलाएँ छोड़ती जाती हैं। शिलाओं में अंतरकणिकमय द्रव की उपस्थिति की इस क्रिया के सफलीभूत करने में वेगमैन ने बहुत मुख्यता दी। यह अग्रभाग जिसे वेगमैन ने लहर की भांति अग्रसर माना, उन्होंने "फ्रन्ट अथवा अग्रभाग विचार" कहा। १९४६ में बैकलैंड ने ग्रेनाइटीकरण पर विचार देते हुए कहा कि पृथ्वी की सारी अग्निशिलाएँ, बैसाल्ट आदि को छोड़कर, ग्रेनाइटीकरण के कारण हुई हैं। बैकलेंड वेगमैन के विचारों से सहमत हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, ग्रेनाइटीकरण मत वालों में दो पक्ष हैं, एक अद्रव-पक्षीय और दूसरा द्रव-पक्षीय। प्रथम पक्ष इस क्रिया को बिलकुल ठोस अवस्था में कार्यान्वित मानता है। ग्रेनाइटीकरण को सफलीभूत करने में द्रव-अवस्था का कोई भाग नहीं रहा। इस मत में बैकलेंड, बगे और रेनॉल्ड्स के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रथम दो वैज्ञानिकों के अनुसार ग्रेनाइटीकरण संपन्न करने वाला पदार्थ शिला के

अंतरकणिक छिद्रों से फैला होगा। रेनॉल्ड्स इस पदार्थ को तीन प्रकार से विस्तारित मानती हैं :—

(१) कणिक जालों के बीच में प्राप्त जगहों से

(२) कणिकों के भीतर कणिक-जालों के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक।

(३) अत्यंत ठोस रूप से जमे हुए कणिकों की सीमा होकर।

पर इन विचारों के विरुद्ध द्रव-पक्षीय हैं। डाक्टर व्हालस्टॉम के अनुसार इतने विस्तारक रूप से यह क्रिया केवल ठोस अवस्था में ही फलीभूत नहीं हो सकेगी द्रव-रूप का सहयोग अवश्य रहा होगा और फिर पानी जो सभी शिलाओं और खनिजों में तथा कणिकों में रहता है। वजन से १% भी यदि पानी रहा तो वह अत्यन्त सफल रूप से घुलन क्रियाएँ कर सकता है और ग्रैनाइटीकरण-पदार्थ को एक स्थान से दूसरे तक पहुँचाने में समर्थ हो सकता है। दूसरे द्रव अवस्था में रसायनिक क्रियाएँ भी तीव्र रहती हैं।

प्रसिद्ध यूरोपियन वैज्ञानिक प्रोफेसर पॉलनिग्ली पहिले पाषाण द्रव-पक्षी थे। १९४२ में लिखा हुआ उनका लेख इस बात का द्योतक है। प्रोफेसर निग्ली ग्रैनाइट शिलाओं को पाषाणद्रव के ठंडे होने के कारण मानते थे। पर १९४६ तक इनके विचार ग्रैनाइटीकरणकी ओर आगये और अपने उस वर्ष के लेख में इन्होंने तीन प्रकार की ग्रैनाइटशिलाएं स्वीकार की हैं :—

(१) मैगमाग्रैनाइट—जो पाषाणद्रव के ठंडे होने से बनी हो

(२) मेटाग्रैनाइट—आरकोज आदि स्तरी शिलाओं के द्रवीकरण और पुनः जगने से जो ग्रैनाइट बनी हों।

(३) मिगमाटिट ग्रैनाइट—जो निम्नलिखित क्रियाओं से बनी हों—

स्तरी शिलाएं→परिवर्तित शिलाएं→अपरिवर्तित शिलाएं→मिगमाटिट ग्रैनाइट

प्रोफेसर निग्ली भी ग्रैनाइटीकरण को मान्यता दे रहे हैं—यह इस पक्ष को अधिक शक्तिशाली बना देता है। रगुइन भी दो प्रकार की ग्रैनाइट मानते हैं—

ग्रैनाइट्स द एनाटेक्सी

ग्रैनाइट्स एन मौसिफस सरकांसक्रिट्स

इङ्गलैंड के सुप्रसिद्ध भूवैज्ञानिक प्रोफेसर रीड भी कहते हैं कि दो प्रकार की शिलाएँ—'ग्रैनाइट' और 'ग्रैनाइट' हैं। प्रोफेसर डैली पाषाणद्रव पक्षीय हैं और कहते हैं कि "ग्रैनाइटशिलाओं की उत्पत्ति की खोज देश और काल के गर्भ में हो सकती है।"

इस प्रकार यह प्रश्न अत्यंत विवादमय है। हमारे वर्तमान ज्ञान से यह तो नहीं कहा जा सकता कि केवल एक ही क्रिया ने ग्रैनाइट शिलाओं को जन्म दिया है—अर्थात केवल ग्रैनाइटीकरण ने ही सारी ग्रैनाइट शिलाएं बनाईं या केवल पाषाणद्रव के द्वारा ही सारी ग्रैनाइट शिलाएं बनीं। शिलाद्रवीकरण केवल एक विचार मात्र है पर रायोलिटिक पाषाणद्रव एक सत्यता है। प्रोफेसर रीड कहते हैं कि इस प्रश्न का कोई अद्वितीय हल नहीं है और न इस प्रश्न पर 'ऐसा अथवा वैसा' विचार रखने की आवश्यकता नहीं है।

भारत में सभी शिलाओं का इस आधार पर अध्ययन नहीं हुआ है। सम्भव है कि सूक्ष्म और प्रादेशिक पर्यवेक्षण और अध्ययन के पश्चात् हमें भारतीय अग्नि शिलाओं के बारे में मत-परिवर्त्तन करना पड़े।

[शेष अगले अंक में]

विज्ञान समाचार

हीराकुड

एक दन्तकथा के अनुसार आज से लगभग २०० वर्ष पूर्व महानदी के बीच एक छोटा सा टापू था जिसमें हीरे ढूंढने के लिए लोगों की रेलपेल मच गयी थी। स्त्री पुरुषों के झुंड के झुंड सैकड़ों कोस से बीहड़ मार्ग तय करते हुए टापू में पहुँचे। भाग्य ने उनका साथ दिया अथवा नहीं इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता पर हीरों की उस तथाकथित खोज के कारण उस दिन से इस टापू का नाम 'हीराकुड' अवश्य पड़ गया।

आज फिर हीराकुड का नाम विशाल नदी-घाटी योजनाओं के कारण समाचार पत्रों के शीर्षकों में आने लगा है। यहाँ जो बाँध बनाया जा रहा है उससे उड़ीसावासियों को बाढ़ और अनावृष्टि से त्राण मिलेगा और देश को मिलेगा अधिक अन्न, उद्योग-व्यवसाय और वाणिज्य।

महानदी

अपने नाम के अनुसार महानदी वास्तव में महानदी ही है। यह मध्यप्रदेश के रायपुर जिले में सिहावा के निकट से निकल कर बिलासपुर जिले में बहती हुई, वहाँ इसका पाट १ मील का हो जाता है, उड़ीसा में प्रवेश करती है। कई स्थानों पर यह बहुत वेग से बहती है और १४ मील तक पूर्वी घाट की तंग घाटी में होकर कटक से ७ मील पर धौलपुर में यह उड़ीसा डेल्टा में प्रवेश करती है। ५३३ मील की यात्रा कर अंत में यह कई शाखाओं में फटकर बंगाल की खाड़ी में जा गिरती है।

महानदी से प्रतिवर्ष ७ करोड़ ४० लाख एकड़-फुट जल बहता है जो अमेरिका की टेनेसी नदी के जल के परिमाण से भी कहीं अधिक है। पर सिंचाई के काम इसमें से केवल ५ प्रतिशत ही आता है। जहाँ वर्षाकाल में इसका बहाव १२, ७५,००० क्यूसेक होता है वहाँ गर्मियों में यह घटकर केवल २०० क्यूसेक ही रह जाता है।

इस बाँध के बनने से सबसे अधिक लाभ उड़ीसा राज्य को पहुँचेगा. रियासतों के विलीन हो जाने से जिसका क्षेत्रफल अब ५६,०१८ वर्गमील और आबादी १ करोड़ ४० लाख हो गयी है।

पहले के प्रयास

पिछले ३० वर्षों में महानदी और इस क्षेत्र की वैतरणी और ब्राह्मणी नदियों की बाढ़ों की रोकथाम के प्रयत्न कई बार हो चुके हैं। सर आर्थर काटन और श्री विश्वेश्वरैया जैसे सुयोग्य इंजीनियरों ने भी इस दिशा में कार्य किया पर उसके परिणाम स्वरूप नदियों के किनारों पर जो छोटे छोटे बाँध आदि बनाये गये उससे समस्या आंशिक रूप से ही हल हुई।

नवम्बर १९४५ में केन्द्रीय सरकार, मध्य प्रदेश सरकार और उड़ीसा सरकार के प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन ने केन्द्रीय जलविद्युत आयोग (सेंट्रल वाटर एंड पावर कमीशन अथवा इस समय के सेंट्रल वाटर पावर इरीगेशन एंड नेवीगेशन कमीशन) से अनुरोध किया कि वह महानदी के लिए बाढ़ नियंत्रण, सिंचाई, नौका-नयन और पनबिजली की एक बहु-उद्देश्यीय योजना तैयार करे। कमीशन इस निर्णय पर पहुँचा कि हीराकुड. टीकरपाड़ा और नाराज में तीन बाँध बनाये जायं जिनका यद्यपि एक दूसरे से कोई सम्बन्ध न हो फिर भी क्षेत्र के विकास के लिए तीनों का ही उपयोग हो सके। इस सम्पूर्ण योजना से २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई, २ लाख

किलोवाट बिजली और बंगाल की खाड़ी से मध्य प्रदेश की सीमा तक ३५० मील लम्बा और कम से कम ९ फीट गहरा जलमार्ग बनने की सम्भावना थी। कालान्तर से यातायात बढ़ने पर उड़ीसा के लिए चाँदवाली या धमरा में एक बन्दरगाह की भी आवश्यकता पड़ती। विशाल जलाशय समुद्री विमानों का अड्डा बन सकते थे और तालाब मछली पालने के काम और कृत्रिम झीलें जल विहार के काम आतीं।

प्रथम योजना

आयोग ने सिफारिश की कि सबसे पहले हीराकुड बांध का काम हाथ में लिया जाय जिसका बनाना सरल था और शीघ्र ही पैसे की दृष्टि से भी जिसके स्वावलम्बी होने की आशा की जा सकती थी।

बांध के चारों ओर का प्रदेश बड़ा सुन्दर है जहां "टील" के वृक्षों की बहुतायत है। इन वृक्षों की लकड़ी मकान बनाने के काम आती है। झारसगूड़ा से दो घंटे की मोटर यात्रा के पश्चात् बांध के हाल की ही बनी बस्ती के दर्शन होते हैं। योजना के प्रबन्ध विभाग की ओर से दर्शकों को एक इञ्जीनियर के सुपुर्द किया जाता है कि वह उन्हें सब कुछ दिखाये और पूरी पूरी जानकारी दे सके।

बांध का दृश्य

पास की एक पहाड़ी की चोटी से हीराकुड के विशाल बांध के अच्छी तरह दर्शन होते हैं। इञ्जीनियर आपको बतलायेगा कि बांध पूरा होने पर ३ मील लम्बा और नदी के तल के गहरे से गहरे भाग से १९१ फीट ऊँचा होगा। संसार का यह सबसे बड़ा बांध ४ भागों में बँटा हुआ है। ऊपर से यह २५ फीट चौड़ा होगा और इस पर बनी सड़क गाड़ियों के चलने के लिए काफी चौड़ी होगी।

सेवाभाव

पिछली वर्षा से पहले महानदी की धारा के ठीक सामने वाला बांध बनाने के लिए इञ्जीनियरों ने बड़ी ही शीघ्रता और तत्परता से काम किया। इस बांध को इतना ऊँचा उठाना था कि अधिक से अधिक बाढ़ में भी यह न डूबे। वर्षा भी पिछले वर्ष ९० इञ्च हुई जब कि इससे पहले इसका औसत ७१·२१" रहता आया है। यहां के कर्मचारियों ने कई बार प्राणों का खतरा मोल लेकर बांध की देखभाल की।

चारों यूनिटों के पूर्ण हो जाने पर यहां १,२३,००० किलोवाट बिजली पैदा हो सकेगी और ३७,५०० किलोवाट की क्षमता का पांचवां सेट आवश्यकता के समय काम देने के लिए हर समय तैयार रहेगा। दो और यूनिट लग जाने पर बिजली का उत्पादन १,९८,००० किलोवाट हो जायगा। बिजली की लाइनों का जाल फैल जाने पर रायपुर, क्योंझर, थलचार, कटक और अन्य बड़े केन्द्रों को बिजली मिल सकेगी। यह व्यवस्था दामोदर घाटी और मचकुण्ड के पावर हाउस से भी जोड़ दी जायगी और इस प्रकार और भी विस्तृत क्षेत्र में बिजली पहुँचाई जा सकेगी।

महानदी के आरपार हीराकुड बांध के जल-कुण्ड से सिंचाई के लिए पहला पानी शायद १९५५ की गर्मियों में मिल जायगा। इस जल-कुण्ड के किनारों की लम्बाई १५५ मील होगी और इसका पानी १,५७,६०० एकड़ भूमि में फैला रहेगा। इसमें कुल ६७.५ लाख एकड़-फुट जल इकट्ठा किया जा सकेगा। विदेशी विशेषज्ञों का मत है और बहुतेरे भारतीय विशेषज्ञ भी उनके इस मत से सहमत हैं कि चूँकि महानदी में भारी रेत की अपेक्षा बारीक रेत अधिक होती है, इसलिए इस जल-कुण्ड की आयु १०० वर्ष से आगे ४०० वर्ष तक पहुँच सकती है। उड़ीसा और मध्य-प्रदेश के उन निवासियों के पुनस्संस्थापन के लिए व्यवस्था की जा रही है, जो इस कुण्ड के निर्माण से प्रभावित होंगे। इनकी क्षति-पूर्ति पर्याप्त रूप से की जायगी।

१९५६ में इस योजना के पूरी हो जाने पर, उससे प्रति वर्ष लगभग ७.९१ लाख एकड़ अर्ध-शुष्क भूमि की सिंचाई के लिए जरूरी पानी मिल सकेगा।

इसके आलावा सूखे महीनों में उस भूमि के लिए भी पानी मिलेगा, जहाँ पहले से नहरें मौजूद हैं। डेल्टा के प्रदेश में ११.३७ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई की जा सकेगी। ख्याल है कि सिंचाई सम्बन्धी सारी योजना के पूर्ण हो जाने पर लगभग ७,३५,००१ टन अन्न और २, ९७, ००० टन गन्ना अधिक पैदा होने लगेगा। चूंकि योजना का क्षेत्र अनेक प्रकार के खनिजों से भरा पड़ा है, इसलिए पन-बिजली मिलने से इन खनिजों का भी पूरा सदुपयोग किया जा सकेगा।

साज-सामान

सितम्बर में भारी वर्षा हो जाने से, हीराकुड का काम जनवरी तक जोर नहीं पकड़ सका। इस वर्ष का कार्यक्रम पूरा करने के लिए ५०,००० कर्मचारी लगे हुए हैं। भारी भरकम मशीनों की मरम्मत के लिए एक अच्छी 'वर्कशाप' भी है, और इस 'वर्कशाप' के पास ही एक बिजलीघर है, जो न केवल हीराकुड को ही, बल्कि सम्बलपुर को भी बिजली पहुँचाता है। योजना का काम चलाने के लिए रेल-विभाग से १२ पुराने इंजन तथा ६.४ मालगाड़ी के डिब्बे भी खरीदे गये हैं। हर तरह का सामान, फालतू पुर्जे, आदि इकट्ठे रखने के लिए ६-७ लम्बे-चौड़े गोदाम हैं, जिनका बहुतेरा सामान 'डिस्पोजल्स' विभाग से सस्ते दामों पर खरीदा गया है।

योजना के काम के लिए एक गवेषणा-केन्द्र भी है, जहाँ वैज्ञानिक जन बांध के काम में लायी जाने वाली मिट्टी, कंकरीट, आदि की परीक्षा करते रहते हैं। इन लोगों ने धूप में पकायी हुई रालदार ईंटें बनाने का एक तरीका भी निकाला है। ये ईंटें गाँवों में मकान बनाने के लिए अधिक उपयोगी हो सकती हैं, क्योंकि ये भारी वर्षा में भी अधिक अच्छा काम देती हैं।

सुझाव-सन्दूक

योजना प्रशासन की ओर से एक 'सुझाव-संदूक, की व्यवस्था की गयी है। हर कर्मी इस संदूक में योजना-सम्बन्धी अपने सुझाव, लिखकर डाल सकता है। इन सुझावों पर चीफ इंजीनियर स्वयं विचार करते हैं और क्रियात्मक तथा मितव्यय वाले सुझावों को कार्यान्वित भी किया जाता है। प्रयोग के तौर पर कर्मचारियों की सहकारी समितियां स्थापित करने का भी विचार किया जा रहा है। ऐसा हो जाने पर, योजना का काम ठेकेदारों को न देकर, इन समितियों को सौंपा जाया करेगा, जिससे कर्मचारियों की आमदनी बढ़ जायगी और इससे ठेकेदार जैसे बीच के आदमी की जरूरत न रह जायगी।"""मजदूरों की मजदूरी १२ आना प्रतिदिन से बढ़कर १॥) रु० प्रति मजदूर प्रतिदिन हो गयी है, और इससे योजना का अनुमानित खर्च भी बढ़कर लगभग ९२ करोड़ रु० हो गया है।

सीमेंट, चूने और मशीनों के इस छोटे से कस्बे में योजना के काम में लगे हुए कर्मियों के बालकों की पढ़ाई का भी पूरा ध्यान रखा गया है, जिसके लिए एक हाई-स्कूल तथा एक प्राइमरी स्कूल खुला है। हाई स्कूल में ४०५ और प्राइमरी स्कूल में ४६१ बच्चे शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। कर्मियों के इलाज के लिए एक अस्पताल भी है, जिसमें रोगियों के लिए ४० बिस्तरों का स्थान रखा गया है। आसपास के गांवों के लोग भी इस अस्पताल में इलाज कराने के लिए आते रहते हैं। अस्पताल में एक्स-रे का इंतजाम है और आपरेशन का भी। मलेरिया का प्रकोप १९४९ में प्रति हजार ५४.९ था, जो कम होकर २ रह गया है। किन्तु जल-कुण्ड के बन जाने पर मच्छर पैदा होने की भी आशंका है, और इस समस्या के अध्ययन के लिए एक मलेरिया-दल अभी से जाँच-पड़ताल कर रहा है। अधिकारियों को पूरी आशा है कि कुण्ड में पानी की सतह कम करके वे मच्छर न पैदा होने देंगे।

इस प्रकार टीका-टिप्पणी, टेकनिकल मतभेदों और मानवीय त्रुटियों के बावजूद भी, विशाल हीराकुड बांध बनकर ऊपर उठता जा रहा है गरीबों के घर से अभाव, कष्ट और भूख को निकाल भगाने के लिए, इस रूप में, वह, हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं का प्रतीक है।

भारतीय रेलवे शतवार्षिकोत्सव

रेलवे इंजीनियर भूगोल की चुनौती का कैसे सामना करते हैं और विशाल पहाड़ों के बीच से या ऊपर रेलें कैसे चला देते हैं? सिग्नल करने के तरीके में क्या प्रगति हुई है? पूरी कोच बनाने का क्या अर्थ है? यात्रियों के लिये कौन सी नयी सुविधाओं की व्यवस्था की गयी है? पिछले सौ सालों में भारतीय रेलों ने क्या प्रगति की है?

नयी दिल्ली में आयोजित भारतीय रेल शतवार्षिकोत्सव प्रदर्शनी में जो सामग्री और नमूने दिखाये गये हैं उनसे इन सब प्रश्नों के उत्तर तो मिलते ही हैं, बल्कि और भी बहुत सी जानकारी प्राप्त होती है।

सौ साल पहले, भारत में सब से पहली रेल बम्बई से थाना के बीच २१ मील से कुछ ही अधिक दूरी के लिये रवाना हुई थी। वह इंजन जो भारत की सबसे पहली गाड़ी खींच कर ले गया था, काल के गाल में जा चुका है, किन्तु उसके कुछ समकालीन अब भी विद्यमान हैं और कुछ तो अब भी अपनी ड्यूटी पर तैनात हैं।

लौह अश्व

नयी दिल्ली प्रदर्शनी में इन पुराने लोहे के घोड़ों में से एक वह एक्स्प्रेस इंजन भी दिखाया गया है जो कलकत्ता-रानीगंज रेल मार्ग पर चलता था। इस इंजन ने लगभग ५० वर्षों तक अच्छा काम किया और २० मील प्रति घंटा की रफ्तार से चलता रहा, जो उस समय के लिये असाधारण बात थी। यह चार पहियों के पांच छः लकड़ी के डिब्बे खींचता था।

रेल-यात्रा के उस प्रारम्भिक काल में चलने वाले इंजनों में से बचा हुआ छोटी लाइन का सेटर्न नाम का एक और इंजन भी प्रदर्शनी में रखा गया है। एक और इंजन ऐसा है जो एक भारतीय राजा ने एक खिलौने के रूप में विदेश से मंगाया था। यह इंजन राज-उद्यान में दो फुट चौड़ी पटरी पर मनोरंजन के उद्देश्य से चलाया जाता था और इसको चलाने में चंदन की लकड़ी और चमेली के तेल का उपयोग किया जाता था। इसी से सिंधिया स्टेट रेलवे का आरम्भ हुआ।

फेयरी क्वीन

फेयरी क्वीन इंजन स्वयं एक ऐतिहासिक इंजन है। १८५७ के भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम को ठंडा करने के लिए यह इंजन ब्रिटिश फौज को ले गया था।

इन्हीं के मुकाबले विशाल आधुनिक इंजन प्रदर्शित किये गये हैं जो १०० टन से भी अधिक वजन के हैं। कुछ तो अभी चितरंजन कारखाने से तैयार होकर आये हैं। आज के विशाल इंजनों के मुकाबले पुराने एक्स्प्रेस इंजन बहुत ही छोटे और क्षीणकाय दिखाई पड़ते हैं।

प्रिंस आफ वेल्स की गाड़ी

लगभग आधी सदी पहले आरामदायक यात्रा की क्या व्यवस्था थी? शतवार्षिकोत्सव प्रदर्शनी में इस सम्बन्ध में कम से कम एक उत्तर अवश्य मिलता है—वह है प्रिंस आफ वेल्स (बाद में सम्राट एडवर्ड सप्तम) की यात्रा के काम में लाया गया सैलून। यह सैलून भारत में बनाया गया था। इसमें चार पहिये थे इसकी लम्बाई चौड़ाई १६′ × ७′ थी और बाहर से उसका रंग गहरा भूरा और सफेद था। उस समय तक गाड़ियों में बिजली नहीं लगती थी, इसलिये इसमें मिट्टी का तेल जला कर रोशनी की व्यवस्था की गयी थी।

आरम्भिक दिनों में यात्री गाड़ियाँ पूरी तरह लकड़ी, विशेष कर सागवान, की बनाई जाती थीं। चार पहियों वाली ये गाड़ियां ४० से ६० यात्री ले जाती थीं और इनके दरवाजे बाहर की तरफ खुलते थे। लम्बा सफर करने वालों के लिये पाखानों आदि की कोई व्यवस्था नहीं थी।

दुमंजली गाड़ियाँ

सन् १८६३ में जब बी० बी० एण्ड सी० आई० और ईस्ट इंडियन रेलवे ने तीसरे दर्जे की दोमंजिली

गाड़ियाँ चलाई, तो सचमुच वह दृश्य भी दर्शनीय रहा होगा। नीचे की मंजिल में यात्री लकड़ी की बेंचों पर और ऊपर फर्श पर बैठते थे। उन दिनों बम्बई के राज्यपाल की सरकारी यात्राओं के लिये एक दुमंजला सैलून बनाया गया था।

इन गाड़ियों में ब्रेक की समुचित व्यवस्था न थी। सिर्फ पहली और आखिरी गाड़ी में दोनों गाड़ी के पास हाथ के ब्रेक होते थे। एक गार्ड पहली गाड़ी की छत पर ब्रेक के पास बैठता था और दूसरा गार्ड पिछली गाड़ी की छत पर बैठा हुआ सतर्कता से देखता रहता था ताकि आवश्यकता पड़ने पर इंजन वालों को ब्रेक लगाने की चेतावनी दे सके।

दुर्घटनायें

यह प्रणाली ठीक ढंग से नहीं चली। गाड़ियाँ इतनी अचानक और धक्के से रुकती थीं कि प्रायः यात्री अपना संतुलन कायम नहीं रख पाते थे। कभी गाड़ी पटरी से उतर जाती थी और कभी प्लेटफार्मों से आगे निकल जाती थी। धक्के से रुकने के कारण लोगों के चोटें लगना कोई असाधारण बात नहीं थी।

वैक्यूम ब्रेकों की प्रणाली बीसवीं सदी के आरम्भ के दिनों में प्रचलित हुई। उन्हीं दिनों गैस की रोशनी की भी व्यवस्था होने लगी। लगभग २० वर्ष बाद बिजली की रोशनी का इंतजाम हो गया।

प्रदर्शनी में रखे गये प्रदर्शनों द्वारा एक सदी में भारतीय रेलों द्वारा की गयी प्रगति पर प्रकाश डाला गया है। व्यापक नमूनों को देखकर यह जानकारी स्पष्ट रूप से मिलती है।

सुरंगें बनाकर पश्चिमी घाट तक रेलें ले जाने के काम के नमूने दिखाये गये हैं एक और रोचक प्रदर्शन है—रैक रेलवे जो भारत में अपनी तरह की एक ही है। यह रेल नीलगिरि पहाड़ियों पर चलती है। १२½ मील की सीधी चढ़ाई और उटकमंड जाते हुए कल्लर से कुन्नूर के बीच १६ सुरंगें पार करनी पड़ती हैं।

प्रकृति से होड़

उत्तर-पूर्वी रेलवे के दार्जिलिंग सेक्शन का नमूना एक और ऐसा ही उदाहरण है जिससे ज्ञात होता है कि मानवीय प्रयत्नों ने किस प्रकार प्राकृतिक बाधाओं पर काबू पाया है। दार्जिलिंग मार्ग पर इंजन के दोनों ओर आगे दो-दो व्यक्ति रेत लिये बैठे रहते हैं और पटरी पर डालते जाते हैं।

१८८३ में भारतीय रेलों से लगभग १० करोड़ व्यक्तियों ने यात्रा की और आज, आधी शती बाद, यह संख्या १३० करोड़ के आसपास पहुँच गयी है।

पिछले सौ सालों में भारतीय रेलों द्वारा की गयी प्रगति की यही गाथा है। भारतीय रेल शतवार्षिकोत्सव प्रदर्शनी पिछली सफलताओं पर प्रकाश डालते हुए दर्शक में भावी प्रगति के संबंध में विश्वास पैदा करती है।

मुनिया की चहक

शायद आपको बुलबुल और उसकी मीठी आवाज बहुत प्यारी लगती है, लेकिन ऐसे भी हजारों हैं जिन्हें इन चिड़ियों से परेशानी होती है और वह भी इसलिये कि ये मिला जुला खाना खाती हैं जिसमें कीड़े मकोड़े तो होते ही हैं, साथ ही दाने और फल भी। काली मिर्च उपजाने वाले बेचारे किसानों की आंखों से ये चिड़ियाँ आँसू निकाल लेती हैं।

सौभाग्य से भारत में बुलबुल उतनी खतरनाक नहीं है जितनी कि उसकी बहन मुनिया। मुनिया एक छोटी चिड़िया है जिसके झुंड के झुंड धान के खेतों और खलिहानों में भरे रहते हैं। यद्यपि बुलबुल की तरह उनकी चहक उतनी ही मधुर होती है लेकिन वे धान की खेती को बेहद नुकसान पहुँचाती हैं। खास तौर पर आसाम में मुनिया धान की फसलों का बहुत विध्वंस करती हैं।

लेकिन, और बहुत सी बातों की तरह मनुष्य की चतुराई ने इस मामले में भी बचाव के तरीके ढूंढ़ निकाले हैं। उदाहरण के तौर पर फिलिपाइन्स वासियों

का तरीका यह है कि वे इन चिड़ियों को एक प्रकार के लासा (बर्ड लाइम) से फाँसते हैं। आसाम के किसानों को भी यही तरीका अपनाना चाहिये। लासे का गोंद फाइक्स नोटा (पीपल) से निकलता है। लासा लिपटी लकड़ियों को खेतों में खड़ा कर दिया जाता है और जब मुनियाँ खाना खाने से पहले इन लकड़ियों पर आराम से बैठती हैं तो बस फिर लासा अपना काम कर देता है और मुनियाँ जहाँ की तहाँ चिपकी रह जाती हैं।

एक और तरीके से, जहरीले चुग्गे का प्रयोग भी किया जाता है। इसमें ०.२ से ०.५ प्रतिशत बछनाग लगे चावल का इस्तेमाल किया जाता है तरीका यह है: ६०-६० ग्राम पिसे हुए बछनाग, खाने के सोडा और नमक में दो चम्मच सेक्रीन और एक प्याला लाँड्री का कलफ मिलाकर ३½ गैलन गरम पानी में डालिये। धीरे धीरे तब तक उबालते और चलाते जाइये जब तक कि लेई क्रीम रंग की न बन जाय। इस लेई को एक लकड़ी की नाँद में डाले हुए २५ किलोग्राम धान पर डाल दीजिये। फिर उसको खूब चलाइये ताकि सभी धान लेई में सन जाएँ। जब ये पूरी तरह सूख जाएँ तो इन्हें इस्तेमाल में लाइये।

यह जहरीला चुग्गा एक खम्भे के ऊपर बंधी हुई थाली में रखा जाता है और उसके चारों तरफ की जाली लगा दी जाती है और उसमें सिर्फ मुनियाँ के आने भर की जगह रहने दी जाती है। एक बार मुनियाँ ने एक दाना चुना नहीं कि बस काम तमाम।

लेकिन एक बात ध्यान रखने की है। जहरीला चुग्गा डालने वाले लोग वह चुग्गा (विषैला धान) स्वयं न खा जायँ और न मरने वाली चिड़ियों को ही खायें। इतनी सावधानी कर लेने से ही उन्हें मुनियों से और अधिक कष्ट नहीं होगा। लेकिन असावधानी से विषैला धान खा लेने पर उनकी भी वही गति हो सकती है जो मुनियों की।

समालोचना

श्री छोटु भाई सुथार का "विश्वदर्शन" (तारक परिचय) लेखक का स्तुत्य प्रयत्न है। गुजराती भाषा में ज्योतिः शास्त्र पुस्तक-पुस्तिकाओं में यह छोटी पुस्तिका सी तारों के विषय में सरल भाषा में तथा विश्वस्त रूप में अच्छी सामग्री पाठकों के मनोरंजन और ज्ञान के लिए उपस्थित करती है। समय २ पर दृष्टिगोचर होने वाले तारामंडल के चित्रों से विषय आसानी से समझ में आ सकता है। परिशिष्टों में विविध सारणिओं से पुस्तक को छोटा रखते हुए पर्याप्त ज्ञान-समृद्धि पाठकों को दी है। आशा की जाती है कि लेखक की इस कृति का गुजराती समाज समुचित आदर करेगा और श्री सुथार को इस अति रोचक विषय में अन्यान्य पुस्तकें लिखने का प्रोत्साहन प्रदान करेगा।

न. म. अंताणी.

भू. पू.—डीन, फेकल्टी आफ साइंस, आगरा विश्वविद्यालय

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—*विज्ञान प्रवेशिका, भाग १*—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक—ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम, एस, सी; ।≈)

२—*चुम्बक*—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी; मू० ॥≈)

३—*मनोरंजन रसायन*—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी; २)

४—*सूर्य सिद्धान्त*—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८)। इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—*वैज्ञानिक परिमाण*—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—*समीकरण मीमांसा*—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १॥) द्वितीय भाग ॥≈)

७—*निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स)*—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपालकृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी; ॥।)

८—*बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित*—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—*वर्षा और वनस्पति*—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।≈)

१०—*सुवर्णकारी*—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।≈)

११—*विज्ञान का रजत जयन्ती अंक*—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१२—*व्यङ्ग-चित्रण*—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम ए०; १७५ पृ०, सैकड़ों चित्र, सजिल्द २)

१३—*मिट्टी के बरतन*—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले० प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द २) (अप्राप्य)

१४—*वायुमंडल*—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०—डाक्टर के० बी० माथुर, सजिल्द, २)

१५—*लकड़ी पर पालिश*—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का ब्योरेवार वर्णन। ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन-भटनागर, एम० ए०, २१८ पृष्ठ, ३ चित्र, सजिल्द; ५) (अप्राप्य)

१६—*कलम पेवंद*—लेखक श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; २० चित्र; मालियों मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी, सजिल्द; २)

१७—*जिल्दसाजी*—इससे सभी जिल्दसाजी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम ए० सजिल्द, २)

१८—*तैरना*—तैरना सीखने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है। ले०—डा० गोरखप्रसाद, मूल्य १)

१९—*सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग*—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़ों पौधों की अचरज-भरी दुनिया सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन-कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६) (अप्राप्य)

२०—*वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ*—ले०—डा० संतप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ॥।)

२१—*खाद्य और स्वास्थ्य*—ले०—डा०—ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ॥)

२२—*फोटोग्राफी*—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, सजिल्द मूल्य ४)

२३—*फल संरक्षण*—फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा, जैम, जेली, शरबत, अचार, चटनी, सिरका, आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २॥)

२४—*शिशु पालन*—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई। गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि का वैज्ञानिक विवेचन। मूल्य ४)

२५—*मधुमक्खी पालन*—द्वितीय संस्करण। ले०—पंडित दयाराम जुगड़ान; क्रियात्मक और ब्योरेवार; मधुमक्खी पालकों या जन-साधारण को इस पुस्तक का अधिकाँश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा, मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, सजिल्द; ३)

२६—*घरेलू डाक्टर*—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी०, घोष, एम० बी० बी० एस, डी० टी० एम० प्रोफेसर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच० डी०, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। ५० चित्र, सजिल्द, ४)

२७—*उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर*—संपादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। मूल्य ३॥)

२८—*फसल के शत्रु*—लेखक श्री शंकर राव जोशी, फसलों को नष्ट करने वाले रोगों, कीड़ों, आदि से रक्षा के सुगम उपाय। मू० ३॥)

२९—*साँपों की दुनिया*—ले० श्री रामेश वेदी, साँपों के भेद पहचान आदि का विशद वर्णन। मू० ४)

३०—*पोर्सलीन उद्योग*—ले० प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस, पोर्सलीन की वस्तुएँ, पात्र आदि बनाने का वर्णन मू० ॥)

३१—*राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ*—भारत की राष्ट्रीय वैज्ञानिक अनुसंधानशालाओं का सचित्र परिचय। मू० २)

३२—*गर्भस्थ शिशु की कहानी*—ले० मारग्रेट शी गिल्बर्ट (अनु० प्रो० नरेन्द्र) मा की कोख में शिशु शरीर की रचना का सरल वर्णन मू० २॥)

हमारे यहाँ नीचे लिखी पुस्तकें भी मिलती हैं:—

१—*साबुन विज्ञान*—विद्यार्थियों और व्यवसाइयों के लिये एक सरल और सुबोध पुस्तक, जिनमें साबुन तैयार करने की विभिन्न विधियाँ और नाना प्रकार के साबुन तैयार करने की रीतियां हैं, विवरण के साथ-साथ सैकड़ों के साथ-साथ अनुभूत और प्रमाणित नुसखे भी दिये गये हैं। लेखक श्री श्याम नारायण कपूर बी० एस-सी, ए० एच० बी० टी० आई०, फेलो, आयल टेकनोलोजिस्ट एसोसिएशन मूल्य ६)

२—*भारतीय वैज्ञानिक*—१२ भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियां—ले०—श्री श्यामनारायण कपूर, सचित्र ६० पृष्ठ, सजिल्द; मूल्य ३)

३—*वैक्युमब्रेक*—ले० - श्री ओंकारनाथ शर्मा। यह पुस्तक रेलवे में काम करने वाले फिटरों इंजन-ड्राईवरों, फोरमैनों और कैरेज एग्जामिनरों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। १६० पृष्ठ ३ चित्र जिनमें कई रंगीन हैं, २)

४—*यांत्रिक चित्रकारी*—ले० ओंकारनाथ शर्मा, मूल्य २॥)

५—*विज्ञान के महारथी*—लेखक- श्री जगपति चतुर्वेदी। संसार भर के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के जीवन व खोजपूर्ण कार्यों का विस्तृत वर्णन है। मूल्य २)

६ *पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ*—ले० श्री जगपति चतुर्वेदी। जितने प्रमुख भौगोलिक अन्वेषण हुए हैं उन सबका रोचक वर्णन है। मूल्य १॥)

७—*विज्ञान जगत की झाँकी*—ले० प्रो० नारायण सिंह परिहार। सामान्य ज्ञान तथा विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी पुस्तक है। मूल्य २)

८—*खोज के पथ पर*—ले० श्री शुकदेव दुबे—जान को हथेली पर रखकर दुर्गम स्थानों एवं पर्वतों के खोज करने वालों का रोमांचकारी वर्णन। मूल्य ॥)

पता—विज्ञान परिषद, प्रयाग

डा० आर० वैद्यनाथ स्वामी, प्रोफेसर इंडियन स्टेटिस्टिकल इंस्टिट्यूट कलकत्ता। लखनऊ साइंस कांग्रेस के अवसर पर विज्ञान परिषद, प्रयाग द्वारा आयोजित शिक्षण माध्यम विचार-विमर्श की दूसरी बैठक का सभापतित्व आपने किया था।

डा० ए० सी० चटर्जी, डीन, फेकल्टी आफ साइंस लखनऊ वि० वि०। स्थानीय मंत्री, इंडियन साइंस कांग्रेस, लखनऊ।

विज्ञान के नियम

१—वार्षिक मूल्य ३) तथा प्रति अंक का ।-) है

२—प्रतिमास प्रथम सप्ताह में विज्ञान प्रकाशित होता है

३—ग्राहक किसी भी मास से बनते हैं।

४—वार्षिक मूल्य सदा दो एक मास पूर्व अग्रिम भेजने से ।=) वी. पी. व्यय की बचत हो सकती है।

५—नमूने की प्रति माँगने पर या बिना मांगे भी ज्ञात पतों पर मुफ्त भेजी जाती है।

लेखकों से निवेदन

१—लेख किसी भी विषय के वैज्ञानिक पक्ष पर होना चाहिए।

१—लेख मनोरंजक और सुबोध होना चाहिए।

३—कागज पर एक ओर ही सुपाठ्य लिखना चाहिए।

४—चित्र सदा काली स्याही से बने होने चाहिए। हल्के या अन्यरंग में बने चित्रों का ब्लाक नहीं बन सकता।

५—लेख भेजने के दो मास पश्चात् भी न छपने पर स्मरण-पत्र अवश्य भेजें।

मई १९५३
वृष २०१०

भाग ७७
संख्या २

वार्षिक मूल्य
चार रुपए

प्रति अंक
छः आने

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools,
College and Libraries

विज्ञान के नियम

१—वार्षिक मूल्य ३) तथा प्रति अंक का ।=) है

२—प्रतिमास प्रथम सप्ताह में विज्ञान प्रकाशित होता है।

३—ग्राहक किसी भी मास से बनते हैं।

४—वार्षिक मूल्य सदा दो एक मास पूर्व अग्रिम भेजने से ।=) वी. पी. व्यय की बचत हो सकती है।

५—नमूने की प्रति माँगने पर या बिना मांगे भी ज्ञात पतों पर मुफ्त भेजी जाती है।

लेखकों से निवेदन

१—लेख किसी भी विषय के वैज्ञानिक पक्ष पर होना चाहिए।

२—लेख मनोरंजक और सुबोध होना चाहिए।

३—कागज पर एक ओर ही सुपाठ्य लिखना चाहिए।

४—चित्र सदा काली स्याही से बने होने चाहिए। हल्के या अन्यरंग में बने चित्रों का ब्लाक नहीं बन सकता।

५—लेख भेजने के दो मास पश्चात् भी न छपने पर स्मरण-पत्र अवश्य भेजें

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ४) चार रुपया एक प्रति का ।≈) छः आना।

विज्ञान

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५

भाग ७७ | वृष २०१०; मई १९५३ | संख्या २

बीज कैसे उत्पन्न हुआ ?

आज से लगभग ३० करोड़ वर्षों पूर्व की बात है जब संसार के अनेक भागों में पत्थरकोयला उत्पन्न करने वाले आदिम जंगल खड़े दिखाई पड़ते थे। इनमें सघन वृक्षावलियाँ पटी पड़ी थीं जिनका रूप विलुप्त हो चुका है। किन्तु जिस प्रकार आज देवदारु, चीड़, पलाश आदि के जंगल हमें दिखाई दे, कुछ आश्चर्य का भाव उत्पन्न करने के लिए हमें विवश नहीं करते उसी प्रकार उन दिनों के वे विचित्र वृक्ष साधारण बात ही हो सकते थे और कोई देख सकने वाला होता तो उन्हें देख कर कोई नई बात का अनुभव नहीं करता। परन्तु वह तब के युग के जंगलों की बात थी और अब पलाश, देवदारु, बबूल आदि के जंगलों की बात है। यदि हम उन दिनों के सम्पूर्ण पेड़-पौधों की रूपरेखा से परिचित हो पाते तो बड़ी ही प्रसन्नता की बात होती। परन्तु यहाँ पर हम मुद्गरहरिता तथा अश्ववार नामक वनस्पतियों की ही चर्चा करेंगे।

आज मुद्गरहरिता (क्लब मास) नाम के पौधे अपने इसी नाम के पूर्वज विशाल वृक्षों का उपहास करते दिखाई पड़ सकते हैं किन्तु कभी इनके विशाल रूप के अकेले फैले वृक्षों के घोर जंगल रहने के प्रमाण प्रस्तरावशेषों द्वारा हमें प्राप्त होते हैं। इनके पत्तों, तनों, डालों आदि के गिरते-पड़ते, मोटी तहों के रूप में संचित भंडार से रूपान्तरित होकर कोयले की रचना हुई। उन तहों के क्षेत्र में इनके पूर्व रूप के विशाल आकारों के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इन वृक्षों की चर्चा करने के पहले इस मुद्गरहरिता वंश के वर्तमान रूप के पुरातन तथा नवीन वनस्पतियों के आकार-प्रकार से भिन्नता प्रकट करना उचित है।

एक वर्तमान मुद्गरहरिता को हम पुदीने रूप में भूतलगर्भी लता या डंठल उत्पन्न करते देखते हैं जिसमें से पल्लव कनखे रूप में फूटकर धरातल के ऊपर तने रूप में फैलते हैं। इसे लताकृति मुद्गरहरिता (रनिंग पाइन) नाम दिया जाता है। लाइकोपोडियम क्लेवेटम वैज्ञानिक नाम है। यह उत्तरी शीतोष्ण कटिबंध के देशों में प्रायः सर्वत्र उत्पन्न होता है। इसे उष्ण कटिबंध के प्रदेशों तथा ६००० फीट ऊँचे पर्वत-शृंगों पर भी उगते पाया जाता है। इस तरह

जलवायु को हराकर अपना प्रसार करने में इसे समर्थ देखा जाता है। इसके कनखे या पल्लव के शिखर पर मंजरी रूप में लंब-प्रकृति बीजाणुदानी-गुच्छ होता है। उनको शुंडीय मंजरी कहा जा सकता है। इनमें बीजाणु उत्पन्न होकर इनकी संतान-वृद्धि करता है। इनकी रचना पर ध्यान देना आवश्यक है।

प्रत्येक शुंडीय मंजरी या शंकु में एक मध्य शिरा होती है। उससे आवद्ध चारों ओर लिपटे पीलापन लिए त्रिकोणीय बीजाणु-पत्रक होते हैं। इन बीजाणु-पत्रकों की रचना पत्रकों की भाँति ही होती है, परन्तु उनमें हरितवर्णीय पदार्थ क्लोरोफिल का सर्वथा अभाव होता है। उनकी आकृति कुछ चौड़ी तथा अधिक गावदुम रूप में होती है। प्रत्येक बीजाणु-पत्रक की आधार-तली में एक वृक्क-आकृति की थैली मढ़ी होती है जो बीजाणुओं का भंडार होती है। उसमें सैकड़ों बीजाणु भरे होते हैं। वसंत आगमन पर वे पल्लव उत्पन्न होते हैं। बीजाणु-पत्रक भी समय पाकर अपनी बीजाणुदानी का मुँह खोलकर स्वर्णिम पीत-वर्णीय बीज को ग्रीष्म ऋतु के उत्तरार्द्ध में संसार-यात्रा करने के लिए अपने गर्भ से बाहर फेंकने का साहस करता दिखाई पड़ता है तथा नवीन वनस्पतियों के उत्पन्न होने का उपक्रम प्रारम्भ होता है। इसके पल्लव या ऊपर निकली शाखा को पत्रकहीन कहा जात तो कोई अनुचित नहीं हो सकता। क्योंकि अनुपत्रक इतने क्षुद्र आकार के होते हैं कि उनको उगे हुए डंठल में चिपका सा ही पाया जाता है।

भूलोष्ठिनी मुद्गरहरिता लता में संतानोत्पादन के साधन पर्णांगी (फर्न) के ही सदृश होते हैं। किन्तु उसमें कुछ उल्लेखनीय विचित्रताएँ होती हैं। यह स्मरणीय है कि फर्न का बीजाणु बिना किसी गर्भाधान क्रिया (सेचन क्रिया) के ही एक नवजात वनस्पति उत्पन्न करने में समर्थ होता है जिसे बीजाणुकी (प्राथेलेस) या जन्युधर नाम दिया जाता है। चपटे हरिततल की भाँति यह वनस्पति-संतान फिर दुबारा जन्म धारण करने का उपक्रम करने के लिए अपने अधोतल में नर और मादा रूप के दो अवयव पदार्थ उत्पन्न करते हैं। इनमें जल की सहायता से रेंग कर नर मादा तक पहुँच कर गर्भाधान करता है। वनस्पति जगत में इस रूप की प्रारंभिक सृष्टि के सन्तानोत्पादक साधनों में नर और मादा दोनों के मिल कर एक आकार निर्मित करने को गर्भाधान होना कहा जा सकता है। उससे ही नया पौधा उगता है। जब हम लताकृति मुद्गरहरिता की सन्तोत्पादन विधि पर ध्यान देते हैं तो इसमें हमें जन्यु (गैमेट) या बीजाणुकी फर्न की बीजाणुकी से बड़े आकार का दिखाई पड़ता है। उसका आकार कुछ वर्गों में गाजरनुमा होता है और कुछ में बेडौल रूप का मुड़ा तथा मांसल होता है। जब सन्तानोत्पादन क्रिया प्रारम्भ होने को होती है तो इसमें घोर दीर्घसूत्रता दिखाई पड़ती है। सैकड़ों बीजाणुओं में से कोई एक उपयुक्त वातावरण पाकर उगने का अवसर पाता है किन्तु उसे अंकुरित होने में दो तीन वर्ष लग जाते हैं। यह केवल प्रारम्भ होता है। जहाँ दो तीन वर्ष केवल बीजाणु से अंकुरित होकर बीजाणुकी या जन्युधर बनने में लगते हैं वहाँ बीजाणुकी से फिर नए वनस्पति उत्पन्न कर द्विजन्मा रूप का सन्तानोत्पादन विधान पूरा करने में और भी समय लगना आवश्यक होता है। खोजों द्वारा ज्ञात हो सका है कि इस बीजाणुकी से फिर वनस्पति उगने में १०, १५ वर्ष लग जाते हैं। एक बात और भी विचित्र होती है। इस बीजाणुकी या जन्युधर में निम्नतल के स्थान पर ऊपरी तल पर ही जननअंग उत्पन्न होते हैं। इनमें नर द्वारा मादाओं में गर्भाधान होकर नया वनस्पति उत्पन्न होकर लताकृति मुद्गरहरिता (रनिंग पाइन या लाइकोपोडियन क्लेवेटम) का नाम धारण करता है। इस वनस्पति को अपनी नई संतान उत्पन्न करने में इस ढंग से दीर्घसूत्रता पूर्वक लगभग ४० व लगर्ष जाते हैं। किन्तु कन्याकेश वनस्पति को इन विधियों में केवल कुछ मास ही लगते हैं।

आधुनिक भूलुण्ठिनी या अन्य मुद्गरहरिता के कनखों रूप में पौधों की ऊँचाई एक फुट या उससे कुछ अधिक पाई जाती है किन्तु कार्बनजनक (कार-

कोनिफेरस) काल में इनके विशाल वृक्षों के समान रूप थे जो आधुनिक आकार के सौगुने ऊँचे होते थे। नाम में साम्य इतनी विषमरूपता में शोभा नहीं देता अतएव उनको अंतर्राष्ट्रीय रूप से प्रसिद्ध लेपिडोडेंड्रन नाम से ही पुकारना समीचीन हो सकता है। यह कहना अधिक युक्तिसंगत हो सकता है कि आधुनिक मुद्गरहरिता और लेपिडोडेंड्रन किसी एक वर्ग से विकसित होकर भिन्न-भिन्न रूप पाकर इतनी विषमरूपता दिखाते हैं अतएव आधुनिक हरिता को लेपिडोडेंड्रन का ठीक वंशज न कर शेर-बिल्ली की तरह भाई-बंधु कहा जा सकता है।

यदि किसी वनस्पति की शाखा-प्रशाखाओं पर हम ध्यान दें तो हमें उनके पत्ते कुछ दिनों लगे रहकर टूट जाने पर उनकी भेंटी (विनाल या वृन्त) के शाखा या प्रशाखा से संधिस्थल पर कुछ चिन्ह बना दिखाई पड़ेगा। प्रशाखा से पत्रक तक रस आने-जाने के लिए नसों का जाल निकला होता है। वे नसें या शिराएँ पत्रक के टूटते ही उससे असंबद्ध हो जाती हैं उनके नीचे पड़े रह कर मुँह बंद करने से कुछ चिन्ह बना रह सकता है। प्रशाखा के तल पर इस स्थल को विनाल संधि-मंच या वृन्त संधि-मंच कहा जा सकता है। यह उभाड़ पान के आकार का दिखाई पड़ सकता है पत्रक टूट जाने पर नीचे के तल के वृद्धिशील कोषों की क्रियाशीलता से कुछ समय में यह स्थल सपाट-सा बन जाता है और ऊपरी छाल इस वृन्त-संधिमंच का नाम मिटा चुकी होती है किन्तु लेपिडोडेंड्रन में ऊपरी तल पर कुछ ऐसा प्रभाव नहीं पड़ पाता था कि छाल पर से वह आकार लुप्त हो जाय अतएव तने और शाखाओं में वह स्थायी रूप में बना हुआ पड़ा पाया जाता। यह एक बड़ी उल्लेखनीय बात थी जिससे उसके प्रस्तरावशेषों को पहचाना जा सकता है। कभी-कभी केवल ऊपरी चिन्ह को प्रदर्शित करने वाली मोटी छाल ही अपना रूप बदल कर कोयला बनाने वाले पदार्थ कार्बन की तह सी बनाए सुरक्षित पाई जाती है किन्तु कहीं पर तो वह मूल पदार्थ नष्ट हो चुका होता है, परन्तु उसके कभी शिला के निर्मायक वर्ग या अर्द्धपंकिल रूप में फँसे रह जाने से वाह्याकृति की छाप बन गई होती है।

लेपिडोडेंड्रन विचित्र वृक्ष था। यह २ फीट व्यास का तना बना कर १०० फीट तक लम्बा होता था। पत्र-वृन्त-मंचों की पंक्तियाँ तिरछी बनी ऊपर उठती हुई तने के चारों ओर आवेष्ठित दिखाई पड़तीं। इससे सम्पूर्ण छाल की चारखाने की आकृति दिखाई पड़ सकती। इन पत्रवृन्त-मंचों अर्थात् पत्ते की भेटियों के तने से निकलने के स्थल का उभाड़ साँप के फन का आकार बनाए जान पड़ता अथवा उसका सम्पूर्ण तल साँप के चमड़े सा दृश्य उपस्थित करता। तना पहले लम्बा, शाखाहीन ही बढ़ा होता, परन्तु ऊपर जाकर स्कंध बन कर दो शाखाएँ फूटी होतीं। उन शाखाओं से फिर अन्य छोटी शाखाएँ प्रशाखाएँ और टहनियाँ फूटी होतीं। इनमें सर्वत्र पतली तथा बड़ी लम्बी पत्तियाँ निकली होतीं इनको ८ इंच से लंबा तथा आधी इंच चौड़ा आकार बनाए देखा जा सकता है। ये लम्बोतरी पत्तियाँ अपने उगने के लिए तने, शाखा या टहनी आदि में कोई अन्तर नहीं समझती हैं। इन रूपों की टहनियों या प्रशाखाओं के शिखर पर बालीनुमा बीजाणुदानी-गुच्छ निकला होता है।

सिगिलारिया भी लेपिडोडेंड्रन का भाई-बन्द था। इसका तना अधिक स्थूल होता है। शाखा कदाचित् ही निकलती। शीर्ष पर कई फुट ऊँचाई के फलक की भाँति पत्तियाँ निकली होतीं। ये पत्तियाँ लेपिडोडेंड्रन से बड़ी तथा लम्बी होतीं। इस वृक्ष के तने पर शल्कों की पंक्ति ऊपर-नीचे खड़े रूप में होती। जड़ के समीप ६ फीट व्यास की गोलाई के तने पाए जा सके हैं। शाखाहीन तने की लंबाई १०० फीट तक होती थी।

लेपिडोडेंड्रन की चर्चा के साथ इसके भाई-बन्धु रूप के कुछ वर्तमान वनस्पतियों की सन्तानोत्पादक विधि का वर्णन विशेष कौतूहलवर्द्धक है। हमने ऊपर मुद्गरहरिता वनस्पतियों की चर्चा की है। उनके कुछ

रूपों का चित्र भी प्रदर्शित है। एक दूसरा वनस्पति सेलागिनेला (कीलकहरिता) वर्तमान काल में पाया जाता है। इसे मुद्गरहरिता का समवर्गी कह सकते हैं। इन दोनों प्रकार के वनस्पतियों के आकार-प्रकार में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। वाह्याकृति में इनमें समानता पाई जाती है। पत्तियों की रचना तथा शाखा फूटने की विधि में बहुत थोड़ा अन्तर ही होता है। हमारे चर्म-चक्षुओं को तो इनके बीजाणु-दानी-गुच्छ भी समान ही जान पड़ सकते हैं, परन्तु सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर उनमें भारी अंतर ज्ञात हो सकता है।

कीलकहरिता (सेलागिनेला) वनस्पति के बालीनुमा बीजाणुदानी-गुच्छ में मुद्गरहरिता (क्लब मास या लाइकोपोडियम) की ही भाँति बीजाणुदानी अवस्थित दिखाई पड़ती है। इसमें लगभग आधी संख्या की बीजाणुदानियों में केवल चार श्यामवर्णीय, दीर्घाकार कंटकित बीजाणु विद्यमान होते हैं। ये दीर्घाकार बीजाणु अन्य साधारण रूप के क्षुद्र बीजाणुओं से १०० गुना बड़े होते हैं। अतएव इन दोनों प्रकार को दीर्घाकार बीजाणु (मेगास्पोर) और क्षुद्राकार बीजाणु (माइक्रोस्पोर) नाम दिया जाता है। चार संख्या में ही एक बीजाणुदानी में रहने वाले बीजाणु मादा बीजाणु होते हैं तथा बहुत अधिक संख्या में रहने वाले क्षुद्र बीजाणु नर बीजाणु कहे जाते हैं। यह एक विचित्र रूप होता है जिसमें हम केवल एक बीजाणु ही नहीं पाते जो गर्भाधान या सेचन बिना ही अमैथुनी सृष्टि कर धरती पर बीजाणुकी को जन्म दे सकता हो।

मुद्गरहरिता वंश (लाइकोपोडियम या क्लबमास)में बीजाणु से जो संतान बीजाणुकी नाम की उत्पन्न होती है उसमें स्वतः नर तथा मादा रूप के जननांग धरातल पर अंकुरण क्रिया में उसके निचले तल में बन जाते हैं किन्तु सेलागिनेला (कीलकहरिता) में यह क्रिया अंकुरण के समय की प्रतीक्षा नहीं करती। नर और मादा जननांगों के उत्पन्न होने का विधान माता की कोख की भाँति उस वनस्पति के बीजाणुदानी-गुच्छ में होता है। उन जननांगों का क्षुद्र (नर) बीजाणु तथा दीर्घ (मादा) बीजाणु रूप पृथक्-पृथक् बीजाणुदानियों में उत्पन्न पाया जाता है। इस तरह यह वनस्पतियों के सन्तानोत्पादन विधान में निश्चिततः एक पग आगे उन्नति कहा जा सकता है। यह ध्यान में देने की बात है कि सन्तानोत्पादन की मुद्गरहरिता-विधियों के अनुरूप इनमें दीर्घ बीजाणुओं को भूमिष्ठ होकर भटकने की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने दुर्ग या कोटर के अन्दर ही पड़ा रह जाता है।

कीलकहरिता में बीजाणुदानी गुच्छ में ही नर तथा मादा पक्षों का उत्पन्न हो जाना एक पग ही बढ़ना माना जा सकता है। उन दोनों पक्षों का संयोग होकर नवअंकुर उत्पत्ति के लिए या तो धरातल कार्यक्षेत्र बन सकता है या बीजाणुदानी से अलगाव होने के पूर्व ही यह क्रिया प्रारम्भ हो चुकी हो सकती है। कीलकहरिता इन दोनों प्रकार के नमूने उपस्थित करता है। कुछ कीलकहरिता में ऐन्द्रिक अंगों की विशेष अधिक प्रगति हो सकने के पूर्व ही बीजाणुओं को अपने रक्षक आवरण से अधिक से अधिक समय तक अटके पड़े रहते पाते हैं। स्वतंत्र रूप में संतानोत्पादन कर सकने में समर्थ हो सकने के लिए उनके टूट पड़ने के पूर्व ही गर्भाधान या सेचन क्रिया का श्रीगणेश हो जाता है अर्थात् बीजाणु के अंकुरण की प्रारंभिक अवस्थाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात है क्योंकि हम कीलकहरिता के इस सन्तानोत्पादन विधान में अंकुरण के लिए नर और बीजाणुओं का संयोग कराकर कोई स्वतंत्र साधन धरती पर अवतरित करने रूप में बीज के उत्पन्न होने की कहानी प्रारम्भ होते देखते हैं। इस घटना से हमें वनस्पति जगत के विकास की अपूर्व कथा खुलकर सामने प्रकट होती जान पड़ती है। इस घटना-शृंखला के लिए हमें प्रस्तरावशेषों की उधेड़बुन नहीं करनी पड़ती। यह तो वर्तमान वनस्पतियों के ही रूपों से इस मर्म का उच्च-स्वर से उद्घाटन करती जान पड़ती है। बीज के उत्पन्न होने से स्वतन्त्र रूप में नई संतान-वृद्धि का साधन निकल आने में वनस्पति जगत

एक आधुनिक कीलकहरिता (स्पाइक मास या सेलागिनेल)
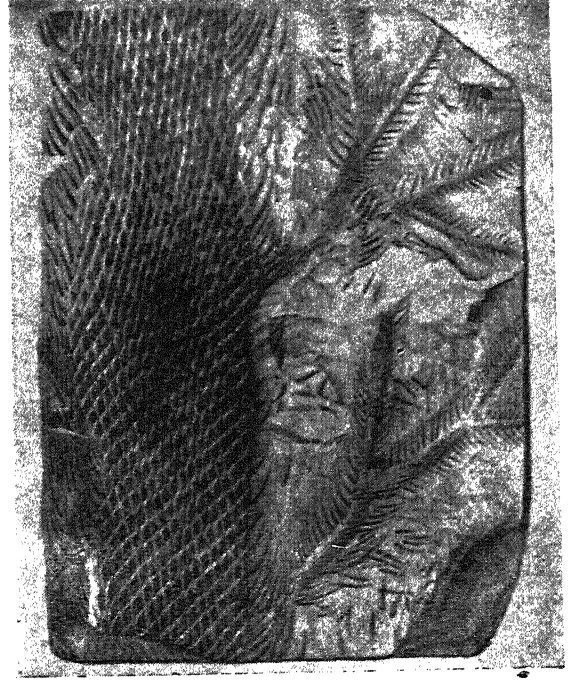
लेपिडोडेंड्रन (तना और टहनी)
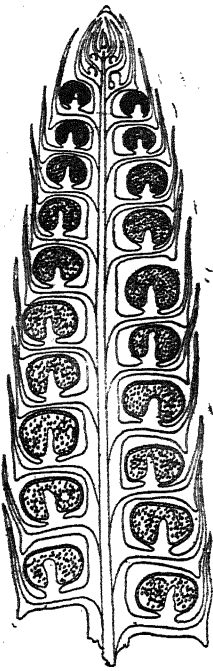
(सिगिलारिया)

(मुद्गरहरिता (क्लब मास) के शंकु की लम्बी काट)
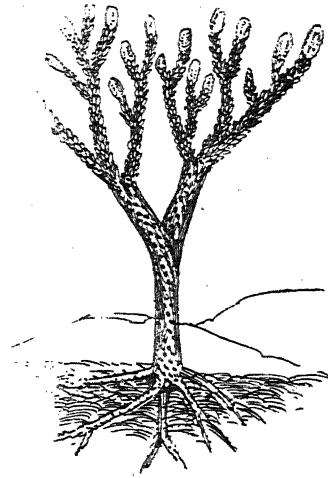
(लेपिडोडेंड्रन)
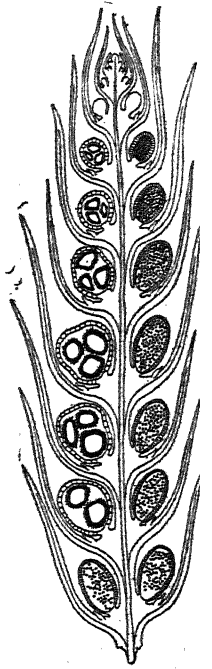
(कीलकहरिता के एक शं की लम्बी काट)

में कितना युगान्तर आ सका होगा। उसकी संतान-वृद्धि न रुक सकने का किस प्रकार निश्चय हो सका होगा, यह बात वनस्पति विज्ञान की तनिक भी अभिज्ञता रखने वाले व्यक्ति के लिए सहज अनुभव हो सकने योग्य है। बीजों के प्रादुर्भाव ने ही वनस्पतियों की वृद्धि का साधन प्रबल आधार-शिला पर रखकर उन्हें भूमिजय करने में समर्थ किया।

फर्न केवल उभयगुणी बीजाणु उत्पन्न करने में समर्थ हुए। उन्होंने जहाँ तक वनस्पतियों की उत्पादन-विधि को विकसित किया, उससे आगे बीज उत्पन्न करने में समर्थ वनस्पतियों को बढ़ते देखा गया जो कालान्तर में निम्नतर वनस्पतियों की होड़ में पराजित न होकर वंश-रक्षा कर उगते रह सकते थे। इस नूतन शक्ति का श्रीगणेश कीलकहरिता ने जिस प्रकार किया, वह एक सर्वथा नवीन मार्ग नहीं था। बीजाणुओं में श्रम-विभाजन का प्रारम्भ कुछ पूर्व से मुद्गरहरिता वर्ग के वनस्पतियों ने कार्बनजनक काल में ही प्रारम्भ कर दिया था। बीजाणुओं के आकार में विषमता पहले इतनी अधिक उल्लेखनीय नहीं थी। चार दीर्घ बीजाणुओं के स्थान पर हम बहुत प्राचीन प्रस्तरावशेषों में १६ दीर्घ बीजाणु एक बीजाणुदानी में रखने का उदाहरण पाते हैं। बाद में इनकी जगह आठ दीर्घ बीजाणुओं को पाया जाता। उसके भी पश्चात् चार दीर्घ बीजाणु एक बीजाणुदानी में होने लगे। उस सीमा तक की प्रगति को ही इस कीलकहरिता वनस्पति ने अब तक सुरक्षित रक्खा। है जिससे एक बीजाणुदानी में ४ दीर्घ (मादा रूप के) बीजाणु रहते हैं।

यह कथा तो यहीं समाप्त नहीं हो सकती। प्रकृति का क्रम आगे भी बढ़ता। इसलिए एक बीजाणुदानी में चार की जगह दो और फिर दो की जगह एक ही दीर्घ बीजाणु होने की व्यवस्था हो सकती थी। प्रारंभिक रूपों में चार दीर्घ बीजाणु ही पहले एक बीजाणुदानी में उत्पन्न होते। परन्तु तीन की वृद्धि न हो पाती और केवल एक पूर्ण विकसित हो पाता। ऐसे प्रस्तरावशेष प्राप्त हुए हैं जिनमें एक बीजाणुदानी में तीन तो बौने रूप के ही दीर्घ बीजाणु हैं, परन्तु एक वृद्धि-प्राप्त है। दूसरी बात इन बीजाणुओं के आकार और संख्या के अतिरिक्त उनकी बाह्य स्थिति में हुई। जिन बीजाणुपत्रकों के छोर पर ही पहले बीजाणुदानियाँ उत्पन्न होतीं, वे बीजाणुपत्रक इन बीजाणुदानियों को चारों ओर से आवेष्ठित कर इस प्रकार उत्पन्न होने लगे कि एक रक्षक थैली सी बन जाती जिसमें ऊपर की ओर एक द्वार खुला रहता। इस प्रकार मादा बीजाणु जहाँ अपने कोटर या दुर्ग रूप की बीजाणुदानी से पृथक् नहीं होता, वहाँ यह दूसरी रक्षा-पंक्ति इस बीजाणुपत्रक रूप की थैली या आवरण रूप में बनी। पहली रक्षा-पंक्ति बीजाणुदानी के आवरण या खोल रूप में होती। इस तरह दुहरी खोलों के अन्दर रक्षित बीजाणु बाहर भटक सकने के लिए शक्ति संग्रह करता जान पड़ता है। यही बीज के उत्पन्न होने की कहानी है। बीज कोई दूसरी वस्तु नहीं है। वह तो दीर्घकाय बीजाणु (मेगास्पोर) का ही रक्षित रूप है जिसमें एक दीर्घ बीजाणु के बीजाणुदानी तथा बीजाणुपत्रक से ढक रखने की व्यवस्था होती है। वह जनक वनस्पति की प्रशाखा से पृथक् होने के पूर्व ही पुष्प रूप में रहकर नर बीजाणु के समरूपी परागकणों से गर्भाधान क्रिया युक्त या सेचित हो चुका रहता है। इसके अंग-उपांगों के नाम दूसरे हैं, परन्तु यथार्थतः वस्तु वही है जो बीजाणुओं के रूप में अन्यत्र दिखाई पड़ सकती है।

मुद्गरहरिता वर्ग की बीजाणुदानियों से पृथक् ही स्वतन्त्र रूप में विकसित बीजों को अन्य वनस्पतियों में देखा जा सकता है। उनके बीजों की रचना तथा उनकी रक्षक थैलियों की आंतरिक बनावट में विशेष विभिन्नता पाई जा सकती है। किन्तु वे सब ऐसे ही साधनों के प्रतिरूप हैं।

प्रस्तरावशेषों के अध्ययन में बड़ी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वनस्पतियों के प्राचीन रूपों के अध्ययन में यह देखा गया है कि पूर्ण आकार तो कहीं एकत्र ही सुरक्षित मिलते नहीं।

एक ही अंग, पत्ती, बीजाणुदानी, प्रशाखा आदि के रूप भी छिन्न-भिन्न हो सकते हैं जिनमें कोई एक भग्नखंड ही देखने को मिल सकता हो। अतएव यह कई बार सम्भव है कि पत्ती के ही टुकड़े-टुकड़े रूपों में से पहले कोई छोटे टुकड़े सुलभ होकर किसी छोटी पत्ती वाले वनस्पति का ही भ्रम उत्पन्न करा दें। अतएव पहले उन सुलभ टुकड़ों के कुछ नाम रख लिए जाते हैं। ऐसे ही अन्य स्थानों या समयों पर मिले अन्य खंडों की सुलभता से उसके पूर्ण रूप के पत्ते या किसी अंग का आकार-प्रकार ज्ञात किया जाता है। यही बात भिन्न-भिन्न अंगों के सम्बन्ध में हो सकती है। पूर्ण वनस्पति तो सुलभ होना एक दुर्लभ बात ही होती है किन्तु पृथक्-पृथक् अंग प्रस्तरावशेष रूप में जब प्राप्त होते हैं तो उनके नाम रख लिए जाते हैं। फिर ऐसा हो सकता है कि समकालीन या समस्थानीय शिलाओं में ये विभिन्न अंग मिलकर कभी कोई एक अंग दूसरे के साथ संयुक्त प्रकट कर सकते हों और कभी दूसरा तीसरे के साथ या तीसरा चौथे के साथ। इसलिए इन विभिन्न अंगों का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित कर एक पूर्ण रूप के वनस्पति का आकार-प्रकार समझ लेने या खड़ा करने का प्रयत्न किया जाता है।

लेपिडोडेंड्रन के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों में बड़ी खोज-बीन हो सकी है। वह योरप, अमेरिका आदि के कोयला-क्षेत्रों में अपना विशेष स्थान रखता है। उन क्षेत्रों में इसके अंग-उपांग मिलते जाने से खोजियों ने उनके नाम रखने प्रारम्भ किए। उदाहरणतः कहीं केवल पत्तियों के ही प्रस्तरावशेष मिले तो उनका नाम रख लिया गया। उसे (लेपिडोफिलम) आप कह सकते हैं। कहीं जड़ ही मिली। उसे आप लेपिडोमूल (स्टिगमारिया) कह सकते हैं। कहीं पर केवल बीज मिले। उन्हें आप लेपिडो-बीज (लेपिडोकार्पन) कह सकते हैं। कहीं कहीं पर केवल बीजाणुदानी-गुच्छ या बीजाणुओं के भंडार की शुंडीय बाली मिली। उसे लेपिडो-शंकु (लेपिडोस्ट्रोबस) कह सकते हैं। इन सब को पहले कहीं समय-समय पर पाकर नाम रख लिया गया। पहले यह ज्ञात न हो सका कि वे किस वनस्पति के अंग-उपांग हैं। परन्तु धीरे-धीरे कई आधारों पर इनके पारस्परिक सम्बन्ध को सिद्ध कर लेपिडोडेंड्रन का रूप निश्चित किया जा सका है। हमें यहाँ पर लेपिडो बीज (लेपिडोकार्पन) के नाम से चौंक उठने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक लेपिडोबीज (लेपिडोकार्पन के प्रस्तरावशेष में ४८ क्षुद्र (नर) बीजाणु रक्षित प्राप्त हुए। ये बीजाणु सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर उसी प्रकार से सिद्ध हुए जो बीजाणुदानियों में शंकु में होते हैं। ऐसे शंकु भी उसी स्थान पर मिले जहाँ समरूपी बीजाणुओं को रक्षित रखने वाला लेपिडो-बीज (लेपिडोकार्पन) प्राप्त हुआ था। इसे देखकर यह बहुत कुछ संभव ज्ञात होता है कि ये दोनों प्रकार के बीजाणुओं के भंडार बीज तथा बीजाणुदानीगुच्छ एक ही वृक्ष पर उत्पन्न होते होंगे। यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है कि इतना अधिक विकास का मार्ग पकड़ कर बीज सरीखी दृढ़ सन्तानोत्पादक विधि उपलब्ध करने पर भी लेपिडोडेंड्रन काल के चपेट से अपनी रक्षा करने में क्यों असमर्थ हुए। हमें आज के अधिकांश मुद्गरहरिताओं में बीज उत्पन्न करने की विधि का अभाव ही दिखाई पड़ता है। उनमें बीजाणुओं की विधि से ही संतानोत्पादन करने का विधान पाया जाता है।

जब हम पूर्वकाल की स्थितियों का ध्यान करते हैं तो हमें ज्ञात होता है किस प्रकार जंगलों के जंगल विस्तृत भूमि आच्छादित करते रहे होंगे। निम्न तल की भूमि में असीम वनस्पतियों की बाढ़ होती रहती होगी। उधर कभी समुद्र का भारी अतिक्रमण हो जाता होगा और यह समुद्र-तट के निकट के पेड़ पौधों से आच्छादित वनस्थली जलमग्न होकर समाधि ले लेती होगी। धरती के तल के ऐसे उलट-पलट कुछ भौगर्भिक कारणों या प्राकृतिक परिवर्तनकारी शक्तियों के प्रभाव में होते रहते होंगे। यही कारण है कि आज तलभंजन की क्रियाओं से वर्षा, नदी की

धाग आदि के प्रहार से ऊपर के कुछ भाग क्षीण हो जाने पर हमें कहीं नदी के पेटे या समुद्र के अंचल में प्राचीन-कालीन जंगल के चिह्न बहुसंख्यक वृक्षों के खूँट (जड़ तथा तने के कुछ भाग) निकट-निकट धरती में अपने मूल स्वाभाविक अवस्था में भूमि के अन्दर प्रविष्ट रखे हुए दिखलाई पड़ते हैं जिनको प्रस्तरावशेष रूप में हो सकने के कारण करोड़ों वर्ष तक धरती में पड़े रहकर आज तक सुरक्षित रूप रखने का अवसर प्राप्त हो सका। यही दशा बड़े-बड़े जंगलों को जल-समाधि लेने की हो सकती है जिनसे वनस्पतियों के वंशों का लोप हो सकता हो। लेपिडोडेंड्रन के वंश का लोप कदाचित् इसी प्रकार होने का अवसर आता रहा हो। परन्तु कुछ वृक्ष ऊपरी तल के स्थानों में पड़े रह कर कुछ अधिक समय तक कदाचित् अपना विकास करने का अवसर पा सके हों और उनमें बीज का उदय हुआ हो परंतु बीज की दुर्बल तथा प्रयोगात्मक अवस्था के कारण कदाचित् प्रकृति ने इनका भी सर्वथा लोप कर देने का निश्चय किया हो। अतएव लेपिडोडेंड्रन के बीजाणु-धर्मी रूपों के अधिकांश प्रस्तरावशेषों के अतिरिक्त कतिपय बीजधर्मी वृक्षों के भी उदाहरण मिलकर इनकी कथा समाप्त करते हैं।

एक बार बीज उत्पन्न करने की युक्ति ज्ञात कर लेने पर भी इन विशेष विकसित रूप के लेपिडोडेंड्रनों को अंकुरण तथा नई सन्तानोत्पादन क्रिया में कितना समय लगता होगा, इसे जान सकने का आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। परन्तु उनके नामलेवा या किसी प्रकार बादरायण सम्बन्ध से सगोत्रीय आज के विद्यमान मुद्गरहरिता वर्ग के वनस्पतियों की अंकुरण क्रिया में दीर्घकाल लगने का जो नमूना हमें देखने को मिलता है, वही अवस्था यदि उन सुदूर भूतकालीन बीज नाम के पदार्थ से सज्जित लेपिडोडेंड्रन वर्ग के वनस्पतियों की रही हो तब तो उनकी वंश रक्षा एक निराशा की ही बात हो सकती थी। किन्तु आज ऐसे क्षीण साधन के संतानोत्पादन विधान से हम मुद्गरहरिता तथा कीलकहरिता को किस प्रकार अपनी जीवन-रक्षा किए पाते हैं, इसका मर्म-भेदन कोई कुशल वनस्पति विज्ञानवेत्ता ही कर सकने में समर्थ हो सकता है।

बीज की उत्पत्ति की यह कथा सुनकर हमारा ध्यान फूलों की ओर जाता है। बीज को हमारे तथा वनस्पति के जीवन में कितनी महत्ता है। उसके विशद विवरण की उलझन में पड़ना विषयांतर ही हो सकता है, परन्तु इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि संसार के आज के वनस्पति अधिकांशतः बीजधर्मी हैं। हमारे भोजन, वस्त्र, तथा आवास के सभी साधनों में बीज-धारी वनस्पतियों का ही मुख्य हाथ होता है। अतएव जिस युक्ति से अपनी बीजधर्मिता को वनस्पतियों ने अधिक पुष्ट किया, वह हमारे विशेष कौतूहल की बात हो सकती है, परन्तु हम यहाँ पर फूलों की चर्चा का वर्णन करने का लोभ संवरण करना ही उचित समझेंगे। केवल इतना ही कह देना उचित होगा कि फूलों ने अपने पत्रकों से बीजों की रक्षा का एक अन्य आवरण उपस्थित कर अपने कर्तव्य को पूर्ण करने में उचित ही योगदान किया।*

[—जगपति चतुर्वेदी, स० सम्पादक, 'विज्ञान']

---

*विलुप्त वनस्पति से।

पृथ्वी की उत्पत्ति

कृष्णचन्द्र दुबे, एम० एस-सी०, भौमिक विज्ञान विभाग, सागर वि० वि०

पृथ्वी की उत्पत्ति का प्रश्न विचारशील और जिज्ञासु मानव-मस्तिष्क के लिये सदैव एक प्रश्न बना रहा है। आदि काल से मनुष्य इस ओर सोचता रहा है और ज्ञान की सीमाओं में बँधा हुआ अनेकानेक विचार देता रहा है। संसार की प्रायः सभी धार्मिक पुस्तकों में इस प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है। उन विचारों को देखने से यह स्पष्ट है कि जहाँ तक आधुनिक वैज्ञानिक अथवा विचारक अपने विचार नाना प्रयोगों और खोजों के आधार पर रखता है, हमारे प्राचीन विचारकों के पास ऐसा कोई भी आधार नहीं था—केवल चिंतना के ही आधार पर उन्होंने जटिलतम प्रश्नों पर भी कई बहुत शुद्ध विचार दिये हैं।

उस सुदूर काल में पृथ्वी का स्वरूप तथा उसका अन्य आकाशीय तत्वों से सम्बन्ध ज्ञात नहीं हुआ था और इसी कारण पृथ्वी की उत्पत्ति पर जो विचार उस काल में रखे गये वे भ्रमात्मक हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् में इस संसार का निर्माण जल से बताया गया है। छांदोग्योपनिषद् में अग्नि को आदि वस्तु मानकर उससे जल तथा जल से भूमि की उत्पत्ति मानी गई है। इसी ग्रन्थ में संसार को एक पिंड मानकर उत्पत्ति मानी गई है। सर्वप्रथम केवल एक अज्ञात शक्ति थी। वह एक पिंड के रूप में साकार हो उठी। कुछ काल (जिसे एक वर्ष का बताया गया है) पश्चात् यह पिंड दो भागों, स्वर्ण और रजत, में विभाजित हुआ और स्वर्ण आकाश तथा रजत भाग पृथ्वी बन गया। पिंड के तरल पदार्थ से सागर बने। इसी प्रकार का वर्णन बेबीलोन, ईरान, फारस और ग्रीस आदि के धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। ग्रीकों के "ऑरफिक कॉसमोगोनी" नामक ग्रन्थ में क्रोनॉस और एडरेस्टिया ने एक भारी अंडा बनाया और ऊपरी भाग से आकाश तथा नीचे के भाग से पृथ्वी का निर्माण हुआ।

बाइबिल में पृथ्वी की उत्पत्ति पर कहा है "आरंभ में ईश्वर ने आकाश और पृथ्वी की रचना की। पृथ्वी शून्य और आकारहीन थी और अंधकार व्याप्त था। ईश्वर की आत्मा जल के ऊपर घूमी। और······।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक भ्रममूलक चिंतना के आधार पर दिये गये ये सारे विचार हमारे आज के वैज्ञानिक जगत के लिये केवल ऐतिहासिक महत्व ही रखते हैं। पृथ्वी की उत्पत्ति पर वैज्ञानिक विचारों का आरम्भ सन् १६०० से हुआ जब "गैलिलियो" ने अपना प्रथम दूरदर्शक-यंत्र सूर्य की ओर घुमाया। गैलिलियो और गैलिलियो के पूर्व भी 'कॉपरनिकस' ने मानव मस्तिष्क से यह अंधकार हटाया कि पृथ्वी ही आकाश का मुख्य मात्र केन्द्र है। उन्होंने ही सर्वप्रथम यह सुझाया कि हमारी पृथ्वी इस महान आकाश में धूलि कण समान है। वह 'सौर-मंडल' का एक ग्रह है और इस मंडल के अन्य ग्रहों के साथ सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है।

सौर-मंडल क्या है? इस आकाशीय समाज में सूर्य, नौ ग्रह, ३० उपग्रह; १५०० से अधिक छोटे छोटे ग्रह तथा कई पुच्छल तारे हैं। पृथ्वी की उत्पत्ति का प्रश्न संपूर्ण सौर-मंडल की उत्पत्ति के प्रश्न से संबन्धित है। सभी ग्रहों का समान दिशा में सूर्य के चारों ओर घूमना तथा ग्रहों के बीच की दूरी इत्यादि यह दर्शाते हैं कि सौर-मंडल की उत्पत्ति के पीछे कोई घटना थी। यह सुव्यवस्थित सौर-जगत योंही—बिना किसी आधार के, बिना किसी घटना के उत्पन्न हो गया होगा, यह अधिक युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

जैसा कहा जा चुका है, पृथ्वी की उत्पत्ति पर वैज्ञानिक विचारों का श्रीगणेश उसी दिन से हुआ, जिस दिन गैलिलियो के दूरदर्शक यंत्र का मुख आकाश की ओर घूमा। पर प्रथम विचार जिसे हम वैज्ञानिक-विचारों की श्रेणी में रखते हैं या रख सकते हैं—सन् १७५५ में प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक इमानुएल कांट ने तथा स्वेडेनवर्ग ने एक दूसरे से स्वतन्त्र अलग-अलग दिया। इनके विचारों के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में सूर्य एक निहारिका के मध्य में स्थित था जो उसके चारों ओर घूमती थी। कालान्तर में यह नाभस चपटी हो गई और इसके सभी भाग एक ही दिशा में परिचालित हुए। जो हिस्से कुछ बड़े और अधिक घने थे, उनके चारों ओर अन्य भाग इकट्ठे हो गये। इस प्रकार इस वृहत निहारिका का स्थान छोटी-छोटी कई निहारिकाओं ने ले लिया। इन पिंडों से ग्रह-उपग्रहों की उत्पत्ति हुई होगी ऐसा कांट-स्वेडेनवर्ग का अनुमत है।

कांट के सिद्धांतों की ओर भी सुधरे हुए रूप में फ्रेंच-गणितज्ञ लैपलेस ने सन् १७९६ में अपनी पुस्तक "एक्सपोजीशन दे सिस्ताम द मंडे" में प्रस्तुत किया। उनके मतानुसार आदि अवस्था में सूर्य एक परिभ्रमी नाभस-पिंड के मध्य स्थित था। उष्म-विकिरण के फल स्वरूप इस नाभस में संकुचन हुआ। संकुचन होने से परिभ्रमण में तीव्रता आई। एक ही समान दिशा में निरन्तर परिभ्रमण होने से इस नाभस के मध्य भाग में एक उभरन उत्पन्न हुई जो एक चरमसीमा तक पहुँच कर वलय के रूप में अलग हो गई। लैपलेस के अनुसार इस प्रकार नभस से दस वलय भिन्न हुए—जो ग्रह बने। यह विचार कुछ काल तक मान्य रहा; परन्तु जब यह पता चला कि सौर-मंडल के सभी सदस्यों की परिभ्रमण-दिशा एक ही नहीं है—कुछ उपग्रह विरुद्ध दिशा में परिभ्रमण करते हैं; तो लैपलेस की विचारधारा के लिये एक प्रश्न उपस्थित हुआ जिसे वह न समझा सके। कोणीय-गमता के आधार पर भी वैज्ञानिकों ने लैपलेस के विचारों का विरोध किया। पर विरोध करने के पूर्व यह बात ध्यान देने योग्य है कि लैपलेस ने स्वयं स्पष्ट कह दिया था कि ये विचार पृथ्वी की उत्पत्ति समझने में केवल एक सुझाव है। कोई सिद्धान्त नहीं है।

कांट, स्वेडेनवर्ग और लैपलेस के विचारों के अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट है कि ये विचार पृथ्वी की केवल एक ही पिंड से उत्पत्ति मानते हैं अर्थात् पृथ्वी की उत्पत्ति में आदि नभस के सिवा और किसी अन्य आकाशीय-तत्व ने भाग नहीं लिया है। लैपलेस के विचारों की भी दुर्बलताएँ थीं उन्हें दूर करने के लिये तथा इस आधार पर कि पृथ्वी की उत्पत्ति दो आकाशीय सदस्यों के संपर्क के कारण हुई है। सन् १९०० के लगभग से अमेरिकन वैज्ञानिकों, भौमिकविद् चैम्बरलिन और ज्योतिषविद् मूल्टन ने एक नया विचार जगत के सन्मुख रखा जो वैज्ञानिक-सिद्धान्त कहलाया। इनके अनुसार आकाश में विचरण करता हुआ एक तारा सूर्य के निकट आया और उसके आकर्षण के प्रभाव से सूर्य वेला उठी। हम सभी लोग मानते हैं कि वेला क्या है। जो लोग समुद्र तट पर रहते हैं उन्होंने वेला तरंगें देखी हैं। चन्द्र और सूर्य के आकर्षण के कारण पृथ्वी के जल-मंडल में ज्वार उठता है और इसी से वेला तरंगें होती हैं। वे इसी प्रकार इस तारा के निकट आने से सूर्य में वेला उठी। एक दूरी तक आने के पश्चात् सूर्य और यह तारा दोनों एक अपरिवलीय-दिशा या अर्धेंद्र-वक्ररेखा में हट गये। इस आकर्षण के कारण वेला-वर्धन एक काष्ठा दशा तक पहुँच कर सूर्य से विलग हो गया और उसके चारों ओर विषम पथ में परिक्रमा करने लगा। सूर्य से विलग हुआ यह पिंड वायुरूप था जो क्रमशः द्रवरूप तथा घन-रूप में परिवर्तित हुआ। और ये सभी भाग एक ही दिशा में सूर्य के चारों ओर घूमने लगे। इन छोटे-छोटे भागों को लघुग्रह कहा गया है। इनमें से जो भाग तुलनात्मक बड़े थे उन्होंने छोटे भागों को अपने में खींच लिया और इस प्रकार ये ग्रहों के केन्द्र बने। आकार की वृद्धि निकटवर्ती छोटे भागों को अपने में

खींचने के कारण हुई। तापमान की वृद्धि छोटे टुकड़ों का इन केन्द्र भागों पर गिरने और संघर्षण के कारण हुई। उपग्रहों की रचना भी ऐसे ही हुई। ग्रहों के निकट जो लघुग्रह भाग थे उन्होंने कुछ छोटे भागों को आकर्षित करके उपग्रहों को जन्म दिया। इस प्रकार पृथ्वी की उत्पत्ति समझाने के प्रयास में भी कुछ दुर्बलताएँ थीं। एक तो यह कि इन लघुग्रहों में परस्पर इतना संघर्षण होगा कि इसके पूर्व कि वे अपने को ग्रहपिंड रूप में स्थित कर सकें— इन परस्पर आघातों के कारण आकाश में वियोजित हो जावेंगे—ग्रह नहीं बन सकेंगे। फिर जैसा हम आगे चलकर भूकंपों के अध्ययन में देखेंगे, पृथ्वी भिन्न-भिन्न स्तरों में विभाजित है और इन स्तरों का घनत्व और नाप भीतर की ओर बढ़ता जाता है। तो इन स्तरों की उपस्थिति यह विचार नहीं समझा सकती। इस दूसरे आक्षेप का स्वेदन करने के लिये सन् १९२० में अमेरिकन जोसफ बैरल ने इस विचार में कुछ सुधार किये। सूर्य से वायुरूप में वेला विलग होकर द्रव अवस्था से होती हुई घन अवस्था में परिवर्तित हुई। परन्तु इसके पश्चात् इस अवस्था में भी परिवर्तन आया। लघुग्रह के आघातों और संघर्षण के कारण तापमान में इतनी वृद्धि हुई कि लघुग्रह पुनः द्रव अवस्था में आ गये और इस अवस्था में घनत्व के आधार पर स्तरीकरण हुआ और भारी भाग मध्य की ओर चला गया।

परन्तु इस विचार के विरुद्ध जो प्रथम आक्षेप था उसे यह हल नहीं कर सका और इसके बाद पृथ्वी की उत्पत्ति अधिक विश्वस्त आधार पर समझाने के लिये गणितज्ञ-हेरॉल्ड जेफ्रिज और ज्योतिषविद् सर जेम्स जीन्स ने "वातिय-उत्कल्पना" का प्रतिपादन किया। इनके अनुसार सूर्य से ग्रहोत्पादक पदार्थ परितप्त ज्वाला वायु के रूप में निकला। आकाश में विचरण करते हुए तारे के कारण सूर्य में जो वेला रही वह एक काष्ठ सीमा तक पहुच कर वायु रूप में फूट निकली और जैसे जैसे यह तारा समीप आता गया, यह फुहार बढ़ती गई और धीरे धीरे घटती भी गई। जैसे जैसे वह तारा हटता गया, फल यह हुआ कि तारे के प्रभाव के कारण पहिले तो यह फुहार सूर्य से कुछ दूरी तक चली गई पर बाद में तारे के हटते ही वह सूर्य क परिक्रमा करने लगी। यह वायु-पिंड बहुत बड़ा था तथा इसका व्यास कई हजार मील था। यह वातिपिंड ही सौर-मण्डल के सभी ग्रहों का पूर्वज था।

ये दो विचार जो चेम्बर्लिन और मूल्टन ने अपने लघुग्रह सिद्धान्त में तथा जीन्स और जेफ्रीज ने "वायुरूपी सिद्धांत" में दिये—कोई बिलकुल नये नहीं थे। १७५० के लगभग बफन ने पृथ्वी की उत्पत्ति को आकाशीय सदस्यों के योग से समझाई थी पर बफन के अनुसार यह रचना सूर्य और तारे में संघर्ष के कारण हुई। इस संघर्षण के फलस्वरूप दोनों तारों से जो भी भाग टूटा-फूटा, उसमें से कुछ तो सदा के लिये शून्य में चला गया पर जो कुछ समीप रहा वह आकर्षण के कारण परिक्रमा करने लगा और इसने सारे ग्रहों को जन्म दिया यहाँ हम देखते हैं कि चैंबरलिन और मूल्टन तथा जीन्स और जेफ्रिज ने सूर्य और तारे में वास्तव में संघटन हुआ हो, यह उचित नहीं समझा। एक दूरी तक आकर तारा वेला-उत्पात कर सका—इसकी अधिक सम्भावना इन्होंने देखी। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यह आकस्मिक लव कितना बड़ा था ? हम यह जानते हैं कि हमारा सूर्य भी एक तारा है। इसलिये यदि सूर्य में बेला की उत्पत्ति हो सकी तो उस तारे में भी हुई होगी। इसमें से सूर्य का वेलावर्धन ही छिन्न-भिन्न हुआ, यह दर्शाता है कि वह आकस्मिक तारा सूर्य से कहीं बड़ा था। जार्ज गैमोव ने अपनी पुस्तक "पृथ्वी की जीवनी" नामक पुस्तक में कहा है कि हमारे ग्रहों का वह 'पिता' सूर्य से बड़ा था।" उस आकस्मिक तारे को 'गैमोव' सौर जगतपिता कहते हैं।

पर यहाँ हम जेफ्रीज और जीन्स के मूल विचारों की ओर भी हैं। इसके विरुद्ध यह आपत्ति है कि

जिस तापमान पर यह वाति-फुहार सूर्य से निकली उस तापमान में वह पिंड के रूप में स्थिर नहीं रह सकेगी, शून्य में भी निग्रथित हो जावेगी। उदाहरण के लिये एक पहरन अंक के ताप पर उद्जन वाति के अणुओं का प्रवेग प्रति सैकंड सौ मील रहता है। तो इस ताप पर सारा पदार्थ नितर वितर हो जावेगा, वह ग्रह रचना न कर सकेगा। एक अन्य विरोध यह है कि वेला-उत्पादक शक्तियाँ इस अंश को गति तो दे सकती हैं परन्तु परिभ्रमण-शक्ति नहीं। जीन्स जेफ्रिज ने विचारों में संशोधन किया परन्तु फिर भी वे उपर्युक्त दुर्बलताएँ दूर न कर सके। जेफ्रिज ने कहा कि सूर्य और तारे में वास्तव में संघटन ही हो गया। ज्यों ज्यों ये दो तारे एक दूसरे के समीप आते गये—दोनों में वेला वर्धन हुआ और मुख्य संघटन के पूर्व ही बहुत सा ग्रह-उत्पादक पदार्थ आकाश में उपस्थित था। संघटन के पश्चात् दोनों सदस्य फिर अलग होकर चले गये पर वाति-अंश को तारे के हटते ही 'परिक्रमा गति' मिल जावेगी। कोणीय गमता की कठिनाई को दूर करने के लिये जीन्स ने यह विचार दिया कि ग्रहों के जन्म के समय सूर्य सभी से बहुत बड़ा था और इससे वह पदार्थ जिससे दूरवर्ती ग्रहों की रचना हुई है बहुत दूर गया हो—यह सम्भावना नहीं है। परन्तु अवलोकनों और अध्ययनों से यह बात स्पष्ट है कि सूर्य में कोई परिवर्तन नहीं है और उस काल में भी सूर्य उतना ही बड़ा था जितना अभी है। तो यह सुझाव भी असफल हो जाता है।

कोणीय-गमता को हल करने के लिये रसेल ने यह विचार दिया कि सूर्य द्विमय तारा का सदस्य था। और वह दूसरा तारा आकार में सूर्य से बहुत छोटा था तथा वह सूर्य की परिक्रमा करता था। रसेल के अनुसार आक्रमणकर्ता तारा सूर्य से न टकरा कर सूर्य के इस साथी से टकरा गया और इसे छिन्न भिन्न कर दिया। क्योंकि आरंभ से ही यह छोटा तारा सूर्य की परिक्रमा कर रहा था ग्रहों की कोणीय गमता का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता। इस तारे के भिन्न टुकड़ों ने ग्रहों को जन्म दिया। इस तरह के और भी प्रत्ययवादी विचार आये। 'लिटलेटन' ने यह विचार दिया कि प्रथम तीन तारों का एक समूह था—एक सूर्य और दो और तारे। अन्य आकाशीय भागों को अपने में आकर्षित कर ये दोनों ग्रह बढ़ते गये। ये दोनों ही तारे सूर्य की परिक्रमा करते थे। एक अवस्था में ये दोनों तारे मिल गये पर यह अवस्था अधिक समय तक नहीं रही। कोणीय-गमता के कारण ये फिर टूटकर अलग अलग हो गये। इस क्रिया में जो पदार्थ छिन्न-भिन्न हुआ उसे सूर्य ने हस्तगत कर ग्रहों की रचना की—जिनमें पृथ्वी भी एक है। हॉयल के विचारानुसार सूर्य एक द्विमय—आकाशीय क्रम का एक भाग था जिसमें उसके सिवा एक उससे भी बड़ा तारा था जो अपने बड़े आकार के कारण सूर्य के आक्रमण से बचता रहा। एक ऐसी अवस्था आई कि यह तारा कई सहस्र अंश ताप की वाति-फुहारें छोड़ने लगा जो कई हजार मील तक जाती थीं। इसमें से बहुत सा भाग तो शून्याकाश में सूर्य के आकर्षण के बाहर चला गया परन्तु बाद में सूर्य इस वाति-फुहार का कुछ भाग हस्तगत करने में सफल हो गया। यह पदार्थ वाति-रूप से द्रव और तत्पश्चात् घन अवस्था पर आया और फिर ग्रहों की रचना कर सका। ग्रहोंकी रचना इसके बाद वैसे ही हुई जैसा हम आगे लिख आये हैं।

तो इस उपर्युक्त छोटे से विवरण में हमने देखा कि पृथ्वी की उत्पत्ति समझाने के ये सब प्रयास जिनमें दो तारों को आधार माना गया, असफल रहे। वैज्ञानिक समीक्षा के समय ये सभी प्रयास ठहर नहीं सके। और इसके बाद चक्र ऐसा घूमा कि वैज्ञानिकों का ध्यान फिर से उन्हीं आधारों की ओर गया जिसमें केवल एक ही तारा, अथवा सूर्य, सौर-जगत का उद्गम माना गया था। दूसरे शब्दों में यह कहना अनुचित न होगा कि वैज्ञानिक पुनः कांट-लैपलैस की ओर लौटे।

आल्फवेज के विचारों में विद्युत्चुम्बकीय शक्तियों

को प्रमुख स्थान दिया गया। आल्फवेन ने यह दर्शाया कि एक विद्युतित लव पर सूर्य की अभ्याकृष्टीय शक्ति से उसकी चुंबकीय शक्ति अधिक तीव्र रहती है। आल्फवेन ने अनुमान किया कि शून्य में अपनी गति के बीच सूर्य क्लीव अणुओं के वातिमेघ में पहुँच गया। सूर्य की अभ्याकृष्टि के कारण ये क्लीव अणु उसमें त्वरित प्रवेग से गिरना चाहेंगे। फलस्वरूप सूर्य की निकटता में यह मेघ भाग तापमय हो जायेगा। जब अणुओं की गतिक-ऊर्जा उनकी अयनन ऊर्जा के बराबर हो जावेगी, ये अणु संघटन से अयनित हो जावेंगे और तब ये अयन चुम्बकीय शक्तिरेखाओं की दिशा में सूर्य की परिक्रमा करने लगेंगे। अयनों और विद्युदणुओं के संमिश्रण से द्रव अवस्था को पारकर लघुग्रहों की उत्पत्ति होगी। उपर्युक्त विचार केवल दूरवर्ती ग्रहों की ही उत्त्पत्ति समझ सकता है क्योंकि जिस दूरी पर अयनन-क्रिया हो सकती है वह शनि की दूरी से भी अधिक है। समीपवर्ती ग्रहों की उत्पत्ति समझाने के लिए आल्फवेन ने कहा कि अणुओं के साथ साथ इस वातिमेघ में धूम्रकण भी थे। ये धूम्रकण भी सूर्य की ओर खिंचकर अयनित हो जाते हैं और जिस दूरी पर यह क्रिया होती है—वहाँ वाष्पन नहीं होता। तत्पश्चात् वाति अयनित हो जाती है। कणों में परस्पर आकर्षण होता है और कालान्तर में द्रवीकरण के पश्चात् लघुग्रहों की उत्पत्ति हो जाती है। आल्फवेन के विचारों ने पृथ्वी की उत्पत्ति तथा सौर जगत को एक नया ही प्रकाश दिया पर आल्फवेन के उपरान्त जो अवलोकन हुए हैं उसके आधार पर समीक्षा करने से आल्फवेन के विचार भी असफल सिद्ध हो जाते हैं। उदाहरण स्वरूप टेर हार का कहना है कि जैसी अयनन-क्रिया का पक्ष आल्फवेन ने किया है—वह सम्भव नहीं है। सूर्य के चुम्बकीय-क्षेत्र पर भी वैज्ञानिक जगत में शंका ही है।

तो इस प्रकार हम देख चुके कि पृथ्वी की उत्पत्ति समझने में ये सभी विचार असफल रहे और ऐसी दशा में वैज्ञानिकों का ध्यान फिर से लैपलेस की ओर आकर्षित हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। द्वितीय महासमर की तोपों और गोलों की घर्राहट और गड़गड़ाहट के बीच सन् १९४५ में एक युवक जर्मन वैज्ञानिक सी० एफ० फौन वीजैकर ने फिर लैपलेस की ओर चरण बढ़ाया और अब हमें यह कहने को बाध्य किया कि लैपलेस का मार्ग ही उचित था। वीजैकर के विचारानुसार आकाश के अनंत शून्य में विचरण करने में आदि सूर्य एक आकाशीय वातिमेघ के बीच पहुँच गया। इस वातिमेघ की रसायनिक रचना सूर्य की रसायनिक रचना के ही समान थी। इस मेघ से सूर्य ने क्लीव अणुओं और धूलि कणों को आकर्षित करके अपने चारों ओर एक आवरण या वेष्ठन बना लिया जो उसकी अभ्याकृष्टि के प्रभाव से एक दूसरे से स्वतंत्र दिशाओं में उसके चारों ओर घूमने लगे। इस आवरण का पुंज सूर्य के पुंज का लगभग $\frac{1}{10}$ वाँ था। आंतरिक संघट्टनों और परस्पर रगड़ के कारण इस वेष्ठन की काया प्रायः गोलाकार हो गई और इस गोलाकार पिंड का व्यास प्रायः वर्तमान सौर-मंडल के व्यास के बराबर ही था तथा पिण्ड की मोटाई व्यास का $\frac{1}{10}$ वाँ भाग थी। इसके भिन्न भागों का तापमान सूय से उस भाग की दूरी पर निर्भर था। वीजैकर ने ग्रहों की कोणीय गमता का प्रश्न भी बहुत ही सुन्दर रूप से हल किया जो इनके पूर्व-विचारों में नहीं मिलता। इस अनुमान के अनुसार आगे चलकर इस वेष्ठन में उथल-पुथल के फल स्वरूप समान गति से घूमने वाले कण बंधों के आकार में आ जावेंगे। इन भिन्न बाँधों में अपने को इस प्रकार जमाने की चेष्टा रहेगी कि वे एक दूसरे को कम से कम रुकावट पहुँचा सकें और ये बंध अपने को पुर्वानुपर वलयों में अपने को रच लेंगे। सबसे अस्थायी अवस्था वह होगी जब प्रत्येक वलय में एक अनुकूल संख्या के बंध रहेंगे। वीजैकर कहते हैं कि प्रत्येक वलय में पाँच बंध रहे होंगे। बंधों के बीच के गोलों में बहुत अधिक गति प्रावण्य रहेगा और इसके फल

[शेष पृष्ट ४९ पर]

परिषद् (Academy)

[रामव्रत प्रसाद सिन्हा, कृषि विशारद (इला०), विज्ञानाचार्य]

विद्वानों का समय-समय पर एक जगह इकट्ठा होकर विचार विमर्श करना, नई खोजों पर प्रकाश डालना, पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा उस ज्ञान या खोज को सब साधारण तक पहुँचाना, यही तो परिषद् की स्थापना का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य को लेकर सन् १६६० ई० में राजकीय सभा (Royal Society, London) की स्थापना की गई। इस सभा में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान ही सभ्य निवार्चित किये जाते हैं। इन्हें 'सभ्य राजकीय सभा' (F. R. S.) कहते हैं।

विभिन्न विषयक परिषद्—इसके बाद तो विद्वानों ने यह अनुभव किया कि हर विषयों की अलग अलग परिषदें होनी चाहिये, जिससे उस विषय से सम्बन्धित सर्व समस्याओं पर ठीक से विचार किया जाय यानी उस विषय का सांगोपांग अध्ययन किया जाय। बस क्या था, प्रत्येक विषय की अलग-अलग परिषद् बनने लगी। इङ्गलैंड ही में राजकीय उद्यान सभा (Royal Society of Horticulture), राजकीय भूगोल सभा (Royal Geographic Society), राजकीय कला सभा (Royal Society of Arts) तथा राजकीय साहित्य सभा (Royal Society of Literature) आदि बनी। राजकीय उद्यान सभा की स्थापना सन् १८०४ में हुई। इसकी स्थापना उद्यान शास्त्र सबन्धी समस्याओं का अध्ययन करना तथा उससे उत्पन्न कठिनाइयों को दूर करना है। फूलों-फलों के बीज, उसकी रक्षा, पौधे सम्बन्धी वैज्ञानिक जानकारी को सर्वसाधारण तक पहुँचाना, यही इसका उद्देश्य है। सभा की तरफ से 'राजकीय उद्यान सभा की पत्रिका' (Journal of the Royal Society of Horticulture) भी प्रकाशित होती है, जो अपने क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। सभा के सभ्य निवार्चित किये जाते हैं, जिन्हें 'सभ्य राजकीय उद्यान सभा'-(F. R. H. S.) कहते हैं।

राजकीय भूगोल सभा की स्थापना सन् १८३० में की गई और उसका उद्देश्य भूगोल सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करना तथा उसको सर्वसाधारण तक पहुँचाना है। सभा की ओर से दो पत्रिका भी निकलती है। इसके भी सभ्य निवार्चित किये जाते हैं।

राजकीय साहित्य सभा की स्थापना सन् १८२५ में की गई। इसके सभ्य साहित्यिक व्यक्ति ही हो सकते हैं। इस सभा का काम ही साहित्य सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करना है। इस प्रकार इङ्गलैंड में कितनी ही परिषदें सुचारु रूप से काम कर रही है। अब अन्य देशों की परिषद् पर लिख रहा हूँ।

जर्मनी—जर्मनी में विज्ञान परिषद्, बर्लिन (DEUTSCHE AKADEMIE DER WISSENSCHAFTEN ZO BERLIN) की स्थापना सन् १७०० ई० में की गई। यह जर्मनी की महत्वपूर्ण परिषद् है। इस परिषद् में विज्ञान विषयक विद्वान सभ्य निर्वाचित किये जाते हैं।

पोलैंड—पोलैंड में पोलिश विज्ञान तथा साहित्य परिषद् (Polish Academy of Sciences & Literature) की स्थापना १८७३ में की गई। इसके सभ्य विज्ञान तथा साहित्यिक विद्वान ही हो सकते हैं। यह पोलैंड की महत्वपूर्ण संस्था है।

आष्ट्रीया—आष्ट्रीयन विज्ञान परिषद् की स्थापना सन १८४७ ई० में की गई। विज्ञान विषयक विद्वान सभ्य निर्वाचित किये जाते हैं।

नेदरलैंड—राजकीय विज्ञान परिषद्, (Royal Academy of Science) अमस्टर्डम की स्थापना

सन् १८०८ ई० में हुई। इस संस्था के सभ्य विज्ञान विषयक विद्वान होते हैं।

रूस—विज्ञान परिषद् की स्थापना सन १६७५ ई० में की गई। इस में पारिषद् (Academician) का निर्वाचन होता है। पारिषद् (Academician) वही हो सकते हैं, जिन्होंने विज्ञान को कुछ अनुपम देन दी हो। लेनिन कृषि विज्ञान परिषद् (Lenin Academy of Agricultural Science) भी महत्वपूर्ण संस्था है। इसके सभ्य भी अपने विषय के प्रकांड पंडित होते हैं। परिषद् की ओर से कृषि विज्ञान संबंधी कई पत्र-पत्रिका तथा पुस्तकादि का प्रकाशन किया जाता है। इन पुस्तकों से वही लाभ उठा सकते हैं जो रूसी भाषा जानते हों। पत्र-पत्रिकाओं में अँग्रेजी में सारांश भी छापा जाता था परन्तु अब वह बन्द कर दिया गया है।

अमेरिका—राष्ट्रीय विज्ञान परिषद् (National Academy of Sciences, Wash.) वाशिंगटन की स्थापना सन १८६२ ई० में की गई। विज्ञान के विभिन्न विषयक विद्वान इसके सभ्य निर्वाचित किये जाते हैं। परिषद् की ओर से एक पत्रिका (Proceedings of the National Academy of Sciences) भी निकलती है। फिलाडेल्फीया प्राकृतिक विज्ञान परिषद् (Philadelphia Academy of Natural Sciences) भी एक महत्वपूर्ण परिषद् है। परिषद् की पत्रिका भी निकलती है।

राष्ट्रीय भौगोलिक सभा (National Geographic Society वाशिंगटन, की स्थापना भूगोल सम्बन्धी विद्याओं का अध्ययन, खोज आदि कर सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिये की गई थी। तब से इस संस्था ने भूगोल संबंधी महत्वपूर्ण काम किया है। इसने अपने प्रतिनिधि भेजकर, विश्व के कोने २ से भूगोल संबंधी तथ्यों को इकट्ठा कर 'राष्ट्रीय भौगोलिक पत्रिका' में प्रकाशित किया है। विश्व के सब हिस्सों का मानचित्र (Map) प्रकाशित किया है। सभा में भूगोल के विद्वान तथा उसमें रुचि लेने वाले सज्जन सदस्य निर्वाचित किये जाते हैं। सभा की ओर से 'राष्ट्रीय भौगोलिक पत्रिका' (National Geographic Magazine) का प्रकाशन किया जाता है, जो विश्व की एक मात्र अनूठी भूगोल संबंधी सचित्र मासिक पत्रिका है।

कनाडा—कनाडा की राजकीय सभा (Royal Society of Canada) की स्थापना १८८२ ई० में की गई। सभा में विभिन्न विषयक विद्वान सभ्य (F.R.S.C.) निर्वाचित किये जाते हैं। सभा की ओर से कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जाता है। यह कनाडा की महत्वपूर्ण संस्था है।

अफ्रिका—द० अफ्रिका की राजकीय सभा (Royal Society of South Africa) है। इस संस्था में विभिन्न विषयक विद्वान सभ्य (F.R. S.S.Af.) निर्वाचित किये जाते हैं। सभा की ओर से पत्रिका का भी प्रकाशन होता है।

जापान—जापान परिषद् (Gapan Academy) की स्थापना सन् १८८७ ई में की गई। इस परिषद् में विभिन्न विषयक विद्वान सदस्य निर्वाचित किये जाते हैं। परिषद् की ओर से पत्रिका का भी प्रकाशन होता है।

भारतवर्ष—भारतवर्ष में इसकी तरफ विद्वानों का ध्यान अभी अभी गया है। विज्ञान परिषद, प्रयाग की स्थापना सन् १९१३ ई० में की गई। परिषद् की ओर से 'विज्ञान' का प्रकाशन शुरू से आजतक सुचारु रूप से चल रहा है। परिषद् की ओर से हिन्दी की बहुत सी वैज्ञानिक पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं तथा करने की कोशिश की जा रही है। परिषद् ने हिन्दी की काफी सेवा की है और यह उस समय की बात है जब कि हिन्दी से अंग्रेजों या उसके पिट्ठू भारतीय जलते थे, उसकी प्रगति में रोड़ा अटकाते थे। भारत में इंडियन साइंस कांग्रेस एसोसिएशन (भारतीय विज्ञान कांग्रेस) महत्वपूर्ण संथा है। प्रतिवर्ष इसके वार्षिक अधिवेशन में विज्ञान के सभी विषयों की चर्चा होती है। वस्तुतः इसके संस्थापक धन्यवाद के पात्र हैं।

हमारे देश में परिषद् की आवश्यकता—हमारे देश में कला, साहित्य, वाणिज्य तथा विज्ञानादि के लिए प्रत्येक विषयक परिषद् की आवश्यकता है और यह इसलिये आवश्यक है कि उस विषय के विद्वान एक जगह इकट्ठे होकर उस समस्या पर विचार करें, नवीन खोजों को प्रकाश में लायें या परिषद् की पत्रिका द्वारा सर्वसाधारण तक उस खोज को पहुँचायें। इस प्रकार परिषद् की आवश्यकता सर्वविदित है। यहाँ पर कुछ परिषदों की स्थापना पर लिख रहा हूँ।

१—राष्ट्रीय कला परिषद् (National Academy of Arts) की स्थापना कला सम्बन्धी समस्याओं पर अध्ययन करने तथा उस कला को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिये की जाय। परिषद् अपनी प्राचीनकला को विश्व के अन्य देशों के आगे रक्खे। परिषद् द्वारा कला की रक्षा के लिये हर समय कदम उठाये जायँ तथा भारतीय कला को विदेशों में दिखाया जाय। इसके सभ्य कलाविशारद या उसमें रुचि लेने वाले सज्जन ही निर्वाचित किये जायँ।

२—राष्ट्रीय साहित्य परिषद् (National Academy of Literature) की स्थापना भारतीय भाषा तथा साहित्य की रक्षा के लिये की जाय। परिषद् देश की या विश्व की श्रेष्ठ पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में करें। समय समय पर सभ्य इकट्ठे होकर साहित्य की गति-विधियों पर विचार करें तथा उससे उत्पन्न परिस्थितियों के निराकरण का मार्ग सुझा दें। अपने अधिकार, प्रकाशक का अधिकार तथा जनता की सुविधाओं पर विचार करें।

३—राष्ट्रीय विज्ञान परिषद् (National Academy of Sciences, की स्थापना भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य को लिखने तथा अनुवाद के लिये की जाय। इसके सभ्य देश तथा जनता को देखते हुये वैज्ञानिक समस्याओं पर अध्ययन करें। समय समय पर सभ्य इकट्ठे होकर वैज्ञानिक खोजों पर प्रकाश डालें, उससे उत्पन्न परिस्थितियों पर विचार करें तथा उस ज्ञान को सर्वसाधारण तक पहुँचायें।

४—राष्ट्रीय कृषि विज्ञान परिषद् (National Academy of Agricultural Sciences) की स्थापना कृषि विज्ञान सम्बन्धी विषयों का अध्ययन, नवीन खोजों सम्बन्धी विचार विनिमय तथा उसको प्रोत्साहन देने के लिये की जाय। नवीन खोज जो किसानों के लिये लाभदायक हो, उसे सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिये प्रयत्न किया जाय। समय समय पर सभ्य इकट्ठे हों और कृषि विज्ञान सम्बन्धी समस्याओं पर विचार कर, कृषि विज्ञान को प्रोत्साहन दें।

५—राष्ट्रीय उद्यान परिषद् (National Academy of Horticulture) की स्थापना उद्यान शास्त्र सम्बन्धी विषयों के अध्ययन के लिये की जाय। इस विषय के विद्वान समय समय पर इकट्ठे हों, जहाँ पर फूलों फलों की रक्षा बीज, बुवाई और कलम आदि करने पर विचार किया जाय।

६—राष्ट्रीय भूगोल परिषद् (National Academy of Geography) की स्थापना देश की भौगौलिक समस्याओं के अध्ययन के लिये की जाय। इस विषय के विद्वान समय समय पर इकट्ठे होकर देश की भौगौलिक समस्याओं पर विचार करें, खोच-पूर्ण निवन्ध पढ़ें तथा इससे सम्बन्धित बातों पर विचार-विनिमय कर, सर्वसाधारण को फायदा पहुँचावें।

७—राष्ट्रीय नाटक परिषद् (National Academy of Drama) की स्थापना नाटक सम्बन्धी अध्ययन तथा उसके विकास के लिये की जाय।

८—राष्ट्रीय संगीत परिषद् (National Academy of Music की स्थापना भारतीय संगीत तथा उससे सम्बन्धित समस्याओं के अध्ययन के लिये की जाय।

९—राष्ट्रीय चिकित्सा परिषद् की स्थापना चिकित्सा सम्बन्धी विषयों तथा उससे उत्पन्न समस्याओं पर विचार करने के लिये की जाय। इस परिषद् में देश के चिकित्सक भाग लें तथा नवीन

चिकित्सा पद्धति को भारतवर्ष में कहाँ तक उपयोग में लाया जा सकता है उस पर विचार करें। किसी भी चिकित्सा को उपयोग करने से पहले परिषद् में उससे उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों पर विचार किया जाय। डाक्टर लोग देश-विदेश की नवीन दशा आदि के उपयोग पर विचार कर सकते हैं।

१०—राष्ट्रीय वाणिज्य परिषद् की स्थापना देश की व्यापार सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन तथा उससे उत्पन्न परिस्थितियों पर विचार करने के लिये की जाय। इस प्रकार प्रत्येक विषय की परिषद् की स्थापना की जाय जहाँ पर उससे सम्बन्धित समस्याओं पर ठीक-ठीक विचार किया जाय।

विद्वानों का कर्तव्य—प्रत्येक विषय के विद्वानों का कर्तव्य है कि वे इस काम को अपने हाथ में लें, अपने-अपने विषय की अलग-अलग परिषद् की स्थापना करें, सदस्य बनायें, पत्र-पत्रिका निकालें तथा देश की जनता को शिक्षित बनायें। कुछ लोग कह सकते हैं कि इसके लिये रुपये कहाँ से आयेंगे ? उनका यह कहना यथार्थ है। परन्तु विश्व की करीब-करीब जितनी परिषदें बनीं उसकी स्थापना विद्वानों ने ही की। बाद को दानियों से पैसे मिले तथा सरकार से मिले।

परिषद् की पत्रिका—प्रत्येक परिषद् की अपनी-अपनी पत्रिका होनी चाहिये, जिससे वह अपनी खोजों को सर्वसाधारण तक पहुँचा सके। परिषद् की पत्रिका का नीति-निर्धारण देश की समस्यों को देखते हुये करना चाहिये। इस प्रकार अन्य देशों से शिक्षा लेकर हमें भी अपनी भाषा हिन्दी को अपनाना चाहिये। सिर्फ अँग्रेजी भाषा-भाषी देशों में सारी कार्यवाही अंग्रेजी में होती है, रूस, जर्मनी आदि में नहीं। उनके परिषद् की कार्यवाही रूसी तथा जर्मन आदि भाषा में होती है।

पृथ्वी की उत्पत्ति

[पृष्ठ ४५ का शेष]

स्वरूप प्रत्याबल के कारण हलचल होगी और बंधों को अलग करने वाले गोलों के ऊपर भ्रमरों की उत्पत्ति हो जावेगी जिनकी परिभ्रमण दिशा बंधों की परिभ्रमण-दिशा के विपरीत होगी। बंधों की अपेक्षा इन ग्रहों में संघनन होना अधिक संभव है और इस क्रिया के कुछ केन्द्रक बन जावेंगे जो फिर अन्य भागों को आकर्षित करके अपने आकार में वृद्धि करते जावेंगे। पूर्वोत्तर वृद्धि अभ्याकृष्टि के कारण भी होगी। वीजैकर कहते हैं कि प्रत्येक वलय की भ्रमण कक्षा कालांतर में एक हो जावेंगी और इस प्रकार एक ग्रह की रचना कर सकेंगी। पर यह कैसे होगा, क्यों होगा, इसके बारे में उनके विचार शांत हैं। इस अवस्था में इन ग्रहों का वायुमंडल बड़ा भारी होगा और उपग्रहों की उत्पत्ति इसी प्रकार वायुमंडल से होगी।

वीजैकर के विचारों में कुछ संशोधन हेरहार ने किए हैं जो क्लिष्ट होने के कारण यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं। वीजैकर स्वयं स्वीकार करते हैं कि कुछ क्रियाओं को समझना-समझाना मानव मस्तिष्क के बाहर की बात है।

भारतीय रेलें

ठीक सौ साल पहले, १६ अप्रैल, १८५३ को, भारत में पहली रेलगाड़ी बोरी बंदर (बंबई) से लगभग २२ मील दूर थाना नामक स्थान के लिए पहली बार छूटी थी। उन दिनों यह अपनी तरह की पहली घटना थी, इसलिए भारत ही नहीं बल्कि सारे एशिया में इसकी खूब चर्चा हुई। उस दिन से लगातार बढ़ते-बढ़ते, आज भारत भर में लगभग ३४, १२० मील की लम्बाई में रेल-लाइनें फैल चुकी हैं। दूसरे अंतर्देशीय परिवहन साधनों का पूरा विकास न हो पाने से, इस देश में रेलों का विशेष महत्व है।

रेलों के विकास को पहले ब्रिटेन में जो सफलता मिली, उससे उन्हें भारत में भी चालू करने का हौसला बढ़ गया। भारत जैसे लम्बे-चौड़े और राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश के लिए रेलें बहुत लाभप्रद समझती गयीं, क्योंकि उनके जरिये सेना और सैनिक सामग्री ढोने में भी बहुत सुविधा हो सकती थी। इसलिए, इंगलैंड में स्टाकटन-डार्लिंगटन रेलवे खुलने के केवल २० वर्ष के भीतर, ब्रिटिश हितों ने भारत में भी रेलें चालू करने के प्रस्ताव रखने शुरू कर दिये।

पहले ठेके

किन्तु भारत में रेलें निकालने में कई कठिनाइयाँ भी थीं, जिनका ख्याल करके, पहले प्रयोग के रूप में कुछ ही लाइनें बिछाने की नीति अपनायी गयी। इस नीति के अनुसार, हवड़ा से रानीगंज तक की १२० मील की दूरी में लाइन डालने के लिए ईस्ट इंडियन रेलवे कम्पनी को ठेका दिया गया। इसी प्रकार, बंबई से कल्याण (३३ मील) तक की लाइन के लिए जी० आई० पी० रेलवे को और मद्रास से अरकोनम (३९ मील) तक की लाइन के लिए मद्रास रेलवे कम्पनी को ठेके दिये गये।

इसके बाद, लार्ड डलहौजी ने, उन दिनों गवर्नर-जनरल थे, इस बात पर जोर दिया कि भारत जैसे देश में रेलें चालू करने का काम तेजी के साथ और व्यापक रूप में छेड़ा जाना चाहिये। इस मत को 'कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स' ने भी स्वीकार किया, और १८५९ के अन्त तक, लगभग ५,००० मील की लम्बाई में रेल-लाइनें बिछाने के लिए ८ रेलवे-कम्पनियाँ बन गयीं। इनकी गारंटी शुदा पूंजी ५२५ लाख पौंड की थी।

भारत में रेल-विकास का पहला अध्याय १८४९ से १८६९ तक का कहा जा सकता है। गारंटी शुदा असली रेलवे-कम्पनियों ने इसी अवधि में मुख्य ट्रंक-लाइनों का निर्माण आरम्भ किया। प्राइवेट कम्पनियों ने रेल-लाइनें डालने के ठेके जिन शर्तों पर सरकार से प्राप्त किये, वे ऐसी थीं कि कम्पनियों को घाटे का डर बहुत ही कम रह गया। कम्पनियों के अनुरोध पर उनकी पूंजी के ५ प्रतिशत प्रत्याय की गारंटी भी कर दी गयी, और रेलों के काम के लिए जितनी भी भूमि की जरूरत थी, वह उन्हें मुफ्त में दी गयी।

पहला अध्याय १८४९–१८६९

दूसरी ओर, कम्पनियों से यह तय हुआ कि जो भी फालतू लाभ होगा, उसका एक हिस्सा हर छमाही में सरकार बटा लेगी। किन्तु यह तभी किया जायगा जब उस छमाही का गारंटी-शुदा व्याज कम्पनी को मिल चुका होगा। कुछ समय बाद, अनुभव से मालूम हुआ कि व्याज की यह गारंटी-शुदा दर काफी ऊँची है, और शर्तें ऐसी हैं कि उनसे रेल-लाइनों के शीघ्र निर्माण में बाधा पड़ती है तथा खर्च भी अधिक बैठता है।

अन्य अड़चनें

अन्य अड़चनें भी पैदा हुईं। ठेकों में विनिमय की दर जोरदार रखी गयी थी, उसमें १ रुपया बराबर था १ शि० १० पेंस के। ठेकों में यह शर्त भी थी कि (भारत) सरकार और इन (ब्रिटिश) कम्पनियों के बीच जो हिसाब होगा, उसमें रुपया इसी विनिमय-दर से पौंडों में बदला जायगा। किन्तु रुपये का मूल्य बढ़ कर जब २ शिलिंग के बराबर हो गया, तो सरकार को नुकसान होने लगा। सिर्फ १८६२-३ में ही, उसे इस मद में २४ लाख पौंड का नुकसान बैठा। १८५३ से १८६७ तक के १४ वर्षों में, सरकार ने गारंटी शुदा ब्याज के तौर पर कम्पनियों को १३१.६ लाख पौंड की रकम चुकायी, जिसमें से केवल ३३ लाख पौंड की रकम रेलों की आमदनी में दी गयी।

दूसरा अध्याय

सरकार को होने वाले इस नुकसान की दृष्टि से, रेल-विकास संबंधी नीति में परिवर्तन करना बहुत ही जरूरी जान पड़ा। १८६९ में लार्ड लारेंस भारत के गवर्नर-जनरल थे। उन्होंने कहा कि मौजूदा नीति पर ही चलते रहने का परिणाम यह होगा कि सारा मुनाफा तो कम्पनियों को मिलता रहेगा, और सारा नुकसान सरकार को उठाना पड़ेगा। इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि रेलों के निर्माण का काम, कम्पनियों से कराने के बजाय, सरकार को खुद अपने हाथ में लेना चाहिये। उन्होंने कहा कि इस प्रकार से खर्च कम बैठेगा, जिसका लाभ देश के सारे लोगों को होगा। इसलिए यह काम सरकार को खुद अपने इंजीनियर रख कर तथा देश से ऋण लेकर करना चाहिये।

उनकी यह नीति स्वीकार कर ली गयी, और फलस्वरूप सरकार ने कई नयी रेल-लाइनों का निर्माण कार्य आरम्भ कर दिया। 'इंडस वैली रेलवे' तथा 'राजपूताना रेलवे' ऐसी ही लाइनें थीं। कम्पनियों को जो ठेके दे रखे गये थे, उनमें भी संशोधन किये गये, ताकि उन पर अधिक नियंत्रण रखा जा सके। लेकिन, फिर भी, भारत-सरकार के काफी विरोध के बावजूद भी, भारत-मंत्री (सेक्रेटरी आफ स्टेट) ने निश्चय किया कि २५ साल के पट्टों की अवधि बीत जाने पर सरकार को कई रेलें खरीद लेने का जो अधिकार मिला हुआ है, वह छोड़ दिया जाय।

छोटी-लाइन की शुरूआत

लार्ड डलहौजी ने जिन ट्रंक-लाइनों की तजवीज थी, उनका काम १८७१ में पूरा हो गया, और ५,०५१ मील की लम्बाई में रेलें चलने लगीं। लार्ड लारेंस ने कहा कि रेलों की सुविधा अधिक से अधिक लोगों को मिलनी चाहिये, इसलिए यदि सारी बड़ी-लाइनें न भी हों, तो भी कुछ नुकसान नहीं है, और उनकी जगह छोटी-लाइनें निकाल देने में कोई हर्ज न होगा। इसलिए निश्चय हुआ कि सरकार छोटी-लाइनें भी बनाये। छोटी-लाइन बनाने में उन दिनों प्रति मील केवल १०,००० पौंड का खर्च बैठता था, जब कि बड़ी लाइन बनाने में प्रति-मील १७,००० पौंड का खर्च था।

वर्ष १८७५ तक रेलों के लिए अधिक रुपया मंजूर किया जाने लगा था, किन्तु अफगान-युद्ध के कारण और बार-बार अकाल पड़ने से रेल-निर्माण के लिए वस्तुतः कम ही धन उपलब्ध होने लगा। इसलिए, सरकार के साधन व उपाय सीमित हो जाने के कारण, सरकार द्वारा रेल-निर्माण की नीति १८८१ तक ही चल सकी, और उसके बाद यह काम कम्पनियों के जरिये कराना फिर जरूरी हो गया। किन्तु इस बार 'गारंटी' की शर्तें पहले से कुछ भिन्न रखी गयीं, और इस व्यवस्था के अंतर्गत निर्मित रेलों को (स्टेट रेलवे लाइन्स, वर्क्ड बाइ कम्पनीज) 'कम्पनियों द्वारा संचालित सरकारी रेलवे-लाइनें' कहा गया।

पिछली शताब्दी के अन्त में, अर्थात् १९०० में भारत की सारी रेलों की कुछ बातें निम्नलिखित संख्याओं से प्रकट होती हैं:—

लाइनों की लम्बाई······२४, ७५२ मील, पंजीगत लागत खर्च··३,२९,५३,३४,००० रु०, कुल

आमदनी···३१,५४,३२,००० रु०, संचालन—व्यय १५,०६,३१,००० रु० और शुद्ध आय···१६,४८, ०१,००० रु० ।

रेलवे बोर्ड का गठन—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यह अनुभव किया गया कि रेलों की प्रशासनिक व्यवस्था के विषय में जाँच की जानी चाहिये। अक्टूबर १६०१ में इस कार्य के लिये सर टामस राबर्टसन को भारतीय रेलों के विशेष कमिश्नर के रूप में नियुक्त किया गया। उनके द्वारा किये गये अध्ययन और सिफारिशों के परिणामस्वरूप भारतीय रेलों पर सरकारी नियंत्रण रखने वाला केन्द्रीय संगठन वर्तमान रूप धारण करने लगा। सरकार द्वारा रेलों का निर्माण आरम्भ किये जाने पर सार्वजनिक निर्माण विभाग से भिन्न एक अलग सरकारी रेल विभाग की आवश्यकता का अनुभव किया गया था और १८७४ में एक विभाग खोल दिया गया था जो पहले एक केन्द्रीय डायरेक्टर के, बाद में एक केन्द्रीय डायरेक्टर के साथ तीन प्रादेशिक डायरेक्टरों के और फिर एक केन्द्रीय डायरेक्टर-जनरल के अधीन रखा गया। १८६७ में इसको भारत सरकार के एक सचिव के अधीन कर दिया गया। श्री राबर्टसन ने एक अध्यक्ष या चीफ कमिश्नर की अध्यक्षता में दो और कमिश्नरों के एक छोटे से बोर्ड की नियुक्त की भी सिफारिश की थी, जो १६०५ में बना दिया गया। भारतीय रेलों सम्बन्धी सब कार्य इस बोर्ड को सौंप दिये गये।

रेलवे विकास, १९००-१९१४—देश के लिये नयी रेलों की आवश्यकता और उनके निर्माण के लिये धन की व्यवस्था करने के विषय में सुझाव देने के लिये सरकार ने १६०७ में 'मैके समिति' की स्थापना की। इस समय सरकार को रेलों से लाभ होना शुरू हो गया था। मैके समिति ने बड़े पैमाने पर रेलों के निर्माण की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा कि यदि कुल १,००,००० मील लम्बा रेल मार्ग भी बना दिया जाय तो 'अतंतोगत्वा भारत की आवश्यकताओं के लिये वह भी छोटा होगा' और 'सरकार को रेल-व्यवस्था के निरन्तर और तीव्र विकास-कार्य को अपना एक महत्वपूर्ण कर्तव्य समझना चाहिये।' यह सिफारिश की गयी कि अगले आठ वर्षों में नये निर्माण और विकास कार्यों पर १० करोड़ पौंड व्यय किया जाय। रेलों का निर्माण-कार्य चलता रहा और १६०१-१६१४ की अवधि में लगभग १०,००० मील रेल मार्ग और बढ़ा दिया गया।

प्रथम विश्व-युद्ध—प्रथम विश्व-युद्ध में सैन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में भारतीय रेलों ने बहुत सहयोग दिया। अल्पकालीन सूचना पर ही सेना, सामग्री और रसद के परिवहन और पूर्वी अफ्रीका और मेसोपोटेमिया में रेल-सामग्री और कर्मचारियों की भारी माँग की पर्ति के लिये व्यवस्था करनी पड़ी। रेल-कारखानों के बहुत से भागों में युद्ध-सामग्री बनायी गयी। ब्रिटेन से, जहाँ से सबसे अधिक रेल-सामग्री भारत आती थी, रेल-सामग्री का आयात रुक जाने के कारण रेलों के रख-रखाव आदि की समस्यायें बड़ी गम्भीर हो गयीं। जब युद्ध समाप्त हुआ उस समय भारतीय रेल परिवहन व्यवस्था बड़ी बुरी हालत में थी और देश के आर्थिक हित के लिये उसका पुनस्संस्थापन अत्यन्त आवश्यक था।

सन् १६१६ में ईस्ट इंडिया कम्पनी का ठेका समाप्त हो रहा था और जनमत इस पक्ष में नहीं था कि ब्रिटिश कम्पनियाँ भारतीय रेलों का कार्य-संचालन करती रहें और वह चाहता था कि रेलों की प्रबन्ध-व्यवस्था सरकार के हाथ में होनी चाहिये। इस बात का कोई कारण नजर नहीं आता था कि जब देश में ही कुशल और अच्छे कमचारी उपलब्ध हैं तो लगभग सभी ऊँचे पदों के लिये विदेशों से ही व्यक्तियों को क्यों लाया जाय। देश के औद्योगीकरण के हित में भी यही ठीक समझा गया कि रेलों का प्रबन्ध सरकार के हाथ में रहना ही उत्तम होगा। यह अनुभव किया गया कि कम्पनी के प्रबन्ध में, जिसके डायरेक्टर इंग्लैंड में रहते हैं, देश के आर्थिक विकास की ओर उतना ध्यान दिये जाने की सम्भावना नहीं है, जितनी सरकारी हाथों में। १६२० में सर विलियम एकवर्थ की अध्यक्षता में एक समिति बनायी गयी जिसको

रेलों का प्रबन्ध और अर्थ-व्यवस्था, भावी नियंत्रण और संगठन के विषय में विशद् जाँच करने का काम सौंपा गया। समिति ने बहुमत से यह सिफारिश की कि कम्पनियों के ठेके उनकी अवधि के बाद समाप्त कर दिये जायँ। इसके अतिरिक्त उसने रेलवे बजट को देश के साधारण बजट से अलग करने की भी सिफारिश की। इस बात पर भी जोर दिया गया कि रेलों के मूल्य ह्रास (डेप्रीसियेशन) के लिये पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिये और रेलों के लाभ में सरकारी मांगें सीमित होनी चाहिये। उच्च अधिकारियों के भारतीयकरण, सामग्री की खरीद आदि के विषय में भी समिति की सिफारिशें जनमत के अनुकूल ही थीं।

सरकार ने 'वकवर्थ समिति' की सिफारिशें स्वीकार कर लीं और २१ सितम्बर, १९२४ के एक प्रस्ताव के अनुसार रेलवे का बजट देश के साधारण बजट से अलग कर दिया गया। रेलवे बोर्ड का पुनस्संगठन कर दिया गया, उसमें एक चीफ कमिश्नर और एक वित्तीय कमिश्नर रख दिया गया। टेक्निकल विभागों का भी विस्तार किया गया। १९२९-३० तक सरकार के अधीन नार्थ वेस्टर्न, अवध एण्ड रुहेलखंड, ईस्ट बंगाल रेलवे, ईस्ट इंडियन रेलवे (जो बाद में अवध एण्ड रुहेलखंड रेलवे में मिला दी गयी), जी० आई० पी० रेलवे और बर्मा रेलवे आ गयीं।

भारतीय रेलवे १९२४-१९३७—रेलवे बजट अलग होने पर और भी कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए—एक समुचित मूल्य-ह्रास कोष खोल दिया गया, हिसाब की जाँच (एकाउन्ट्स) का काम अलग कर दिया गया, अलग अलग रेलों की प्रशासनिक-व्यवस्था में भी सुधार किया गया और बड़ी बड़ी रेलों में, विशेषकर नार्थ वेस्टर्न और इस्ट इंडियन रेलवे में, 'डिवीजन' बना दिये गये, रेलवे-श्रमिकों की स्थिति में सुधार की व्यवस्था की गई, विकास और नये निर्माण-कार्यों के लिये सुव्यवस्थित कार्यक्रम बनाये गये और रेल मार्ग में काफी वृद्धि की गयी, इत्यादि। इस तरह के सब विकास-कार्यों पर १९२४-३२ की अवधि में लगभग ९०० लाख पौंड के बराबर पूँजी व्यय हुई। ५,३६० मील रेल मार्ग की वृद्धि पर ही लगभग ३०० लाख पौंड व्यय हुए। इस अवधि में सरकारी रेलों की आर्थिक स्थिति का का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

	(लाख रु० में)
ट्रैफिककी कुल आमदनी	१,०१,२२
संचालन व्यय	५३,४०
मूल्य-ह्रास कोष	११,३१
खर्च काटकर ट्रैफिक की आमदनी	३६,५१
खर्च काटकर अन्य आमदनी	८०
खर्च काटकर आमदनी	३५,७१
व्याज	२६,९४
बचत	८,७७
साधारण आमदनी दी गयी रकम	५,९८
रेलवे संरक्षित कोष 'ए'	२,७९

मन्दी—सन् १९३१ में संसार भर में जो मन्दी आई उसका प्रतिकूल प्रभाव रेलों पर भी पड़ा। संरक्षित कोष की रकम एक-दो साल ही में चुक गई और साधारण आमदनी में रेलवे बचत का जो हिस्सा दिया जाता था उसको बन्द करके भी पूँजी पर व्याज देने के लिये मूल्य-ह्रास कोष में लगभग २३० लाख पौंड रकम लेनी पड़ी। १९३७-३८ में स्थिति में कुछ सुधार हुआ। मन्दी के दिनों (१९३०-३७) में रेलवे की आर्थिक स्थिति का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

	(लाख रु० में) (औसत)
ट्रैफिक (यात्रियों और माल की ढुलाई आदि) की कुल आमदनी	८९,८८
संचालन व्यय	५०,५२
मूल्य-ह्रास कोष	१३,४३
खर्च काटकर ट्रैफिक की आमदनी	२५,९३
खर्च काटकर अन्य आमदनी	४८
खर्च काटकर कुल आमदनी	२६,४१
व्याज	३२,१८

वचत	५.७३
केन्द्रीय राजस्व में दी गयी रकम	८२
रेलवे संरक्षित कोष 'ए'	—२.२७

पहली अप्रैल १९३७ को बर्मा भारत से अलग हो गया और उसके साथ साथ बर्मा रेलवे भी अलग हो गयी।

द्वितीय विश्व-युद्ध—द्वितीय विश्व-युद्ध पहले युद्ध की अपेक्षा अधिक देर तक चला और इस अवधि में रेलों पर अपेक्षाकृत और भी अधिक दवाव पड़ा। १९१८ में भारतीय रेलें जिस बुरी हालत में थीं, १९४५ में उनकी उससे भी कहीं अधिक दुर्दशा थी। मन्दी का समय होने के बाद १९३७ से भारतीय रेलें पिछली कमी और घाटे की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील थीं किन्तु १९३९ में द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने से इस कार्य में बाधा पड़ गयी। त्रुटियाँ और कठिनाइयाँ होते भी, युद्ध के प्रथम दौर में भारतीय रेलों को मध्य पूर्व के लिये इंजन, मालगाड़ी के डिब्बे और लाइनों की सामग्री भेजनी पड़ी। सेना के उपयोग के लिये बिचली लाइन (मीटरगेज) के ८ प्रतिशत से अधिक इंजन, १५ प्रतिशत वैगन और ४,००० मील रेलवे लाइन और ४० लाख स्लीपर दिये गये। इसके लिये २६ ब्रांच लाइनें बंद कर दी गयीं और गाड़ियों में कमी कर दी गयी। बाद में, जापान से युद्ध करने के लिये जब भारत को अड्डा बना दिया गया तो रेलों का काम और भी बढ़ गया। बहुत से रेल कारखानों में युद्ध-सामग्री बनने लगी। सेना और सैन्य सामग्री के परिवहन का इतना अधिक दवाव रेलों पर पड़ा कि रेलवे-व्यवस्था लगभग डावांडोल हो उठी।

युद्ध समाप्ति के बाद रेलों के युद्धोत्तर पुनस्संस्थापन और विकास की दीर्घ कालीन योजनायें बनायी गयीं किन्तु देश के विभाजन से इस कार्य में बड़ा व्यवधान पड़ गया, क्योंकि उन दिनों करोड़ों की संख्या में लोगों को एक स्थान से दूसरे में पहुँचाने का विशाल कार्य रेलों पर आ पड़ा। द्वितीय विश्व-युद्ध में एक संतोषजनक बात यह हुई कि युद्ध के दिनों में सामग्री की बहुत कम खरीद होने के कारण रेलों के मूल्य ह्रास और सुरक्षित कोष बचे रहे। एक और बात यह हुई कि इन दिनों में कम्पनी के अधीन बाकी रेलें भी सरकार के हाथ में गयीं। पौंड पावने की तेजी से बढ़ती रकम का इस प्रकार सदुपयोग हो गया।

समस्यायें—यात्रियों की संख्या ढाई गुनी हो गयी। माल की ढुलाई में भी पर्याप्त बढ़ती हुई। बहुत से इंजन, गाड़ियाँ और वेगन पूरी उम्र हो जाने के कारण काम में लाने लायक नहीं रहे। रेलवे लाइनों की स्थिति में बहुत ह्रास हो गया। इन सब बातों का स्वाभाविक प्रभाव रेलों की कार्य-कुशलता पर पड़ा। विभाजन का दुष्प्रभाव पड़ने के अतिरिक्त करांची का बन्दरगाह हाथ से चले जाने के कारण दिल्ली, बम्बई मार्ग पर बहुत अधिक बोझ बढ़ गया और इसके लिये विशेष व्यवस्था करनी पड़ी। विभाजन का झटका तो १९४८ तक करीब करीब सह लिया गया था किन्तु ऊपर बताये गये बाकी कारणों से परिवहन व्यवस्था पर दवाव जारी रहा और कई बार भयंकर रुकावटें पड़ी।

१९४७-४८ के बाद का विकास

इंजनों की समस्या काफी गंभीर थी और इसी को सबसे पहले सुलझाया गया। जल्दी ही बहुत से इंजन विदेशों से मंगवाये गए और इससे स्थिति में काफी सुधार हुआ। साथ ही देश में ही इंजन बनाने का विचार किया गया और चित्तरंजन में एक कारखाना स्थापित किया गया जो दो साल में बनकर तैयार हो गया और उसमें ५० इंजन बन भी चुके हैं। वैसे यहाँ साल में १२० इंजन और बायलर तथा दूसरे पुर्जे बनाने की योजना है। टाटा इंजीनियरिंग लोकोमोटिव कम्पनी भी, जिसमें सरकार के भी हिस्से हैं, अब बायलर और इंजन बना रही है।

रेलों में भीड़ भाड़ का मुख्य कारण सवारी गाड़ियों के डिब्बों में कमी रहना है। रेलवे के कारखानों और बंगलोर की हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट

फैक्टरी में के डिब्बे बनने से समस्या आंशिक रूप से हल हुई है पर अधिकांश तभी हल होगी जब मद्रास के निकट पेराम्बूर में गाड़ियाँ बनाने का कारखाना चालू हो जायगा।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद इन पाँच सालों में रेलवे संगठन और नीति में भी व्यापक परिवर्तन हुये हैं। १९४८ में किराये और भाड़े की नयी व्यवस्था की गई। किराये की दर पहले हर रेलवे पर अलग अलग थी उसको समान स्तर पर लाया गया। भाड़े की दरें भी अलग अलग थीं, जिनमें काफी अन्तर था। इसके लिए एक समिति बैठाई गई और उसकी रिपोर्ट के अनुसार भाड़े की दरों में काफी लाभकारी परिवर्तन किये गये हैं जो १ अक्टूबर १९४८ से लागू किये जा चुके हैं। भारतीय रेलवे कानून का भी १९४८ में संशोधन किया गया जिसके अधीन एक ऐसा रेलवे दर न्यायाधिकरण बनाने की व्यवस्था की गयी जिससे आदेशात्मक अधिकार प्राप्त हों।

स्वाधीनता के अनन्तर टेक्निकल क्षेत्र में रेलवे की आत्म भरित होने की भावना भी युक्तियुक्त थी। १९४९ से इस दिशा में प्रयत्न आरम्भ हुए और अब इंजन, सवारी तथा माल गाड़ी के डिब्बे और रेल की पटरियाँ तथा इमारतें और पुल आदि बनाने का सारा काम पूरी तरह से भारतीय इंजीनियरों के हाथ में है और इसका परिणाम भी पूर्णतः सन्तोषजनक है।

अभिसमय का पुनरीक्षण

१९४९ में रेलवे वित्त व्यवस्था को साधारण वित्त व्यवस्था से पृथक् करने वाले १९२४ के अभिसमय (कन्वेंशन) का पुनरीक्षण हुआ जिसके अधीन साधारण करदाता को रेलवे उद्योग का हिस्सेदार माना गया और उसे ४ प्रतिशत लाभांश की गारंटी दी गयी। इससे वित्तीय दृष्टि से रेलवे की स्थिति सुदृढ़ हुई और उसके विकास में भी सहायता मिली।

रेलवे का पुनर्वर्गीकरण

व्यवस्था और भौगोलिक आधार पर रेलवे का पुनर्वर्गीकरण एक ऐसा विषय था जो पिछले २५ वर्षों से विचाराधीन था। देश के विभाजन के बाद उत्तर पश्चिमी रेलवे और बंगाल आसाम रेलवे के बँट जाने के कारण कुछ रेलें ऐसी रह गई थीं जिनके पास न अपने वर्कशाप थे और न आर्थिक दृष्टि से वे सम्पन्न थीं। १ अप्रैल १९५० तक देशी राज्यों का भारत के साथ वित्तीय विलयन पूरा हो चुका था और सांगली राज्य के ४ मील लम्बे रेल पथ से लेकर हैदराबाद राज्य के १५०० मील लम्बे रेल पथ जैसे छोटे बड़े रेल पथ भी भारत सरकार की रेलवे व्यवस्था के अंग बन गये थे। इसलिए इन सबको मिलाकर संख्यायें थोड़े पर बड़े बड़े वर्ग बनाना हर दृष्टि से बहुत आवश्यक था। १९४९ से इस प्रश्न पर पूर्ण गम्भीरता के साथ विचार किया जा रहा था और १४ अप्रैल १९५१ को सबसे पहले दक्षिण रेलवे को जन्म दिया गया जिसका मुख्यालय मद्रास में रखा गया और जिसमें पहले की मद्रास एंड साउथ मराठा रेलवे, साउथ इंडियन रेलवे और मैसूर स्टेट रेलवे शामिल की गईं। ५ नवम्बर १९५१ को केंद्रीय और पश्चिमी रेलवे बनाई गयीं और इनके मुख्यालय एक दूसरे से अलग पर बंबई में ही रखे गये। हैदराबाद स्टेट, धौलपुर और सिंधिया स्टेट रेलवे को ग्रेट इण्डियन पेनिनसुला रेलवे से मिलाकर केन्द्रीय रेलवे बनाई गयी और बंबई बड़ौदा और सेंट्रल इण्डियन रेलवे में सौराष्ट्र, जयपुर, राजस्थान और कच्छ स्टेट रेलवे को शामिल कर पश्चिम रेलवे बनायी गयी। पुनर्वर्गीकरण का अंतिम दौर १४ अप्रैल १९५२ को उत्तर, उत्तर पूर्व और पूर्व रेलवे के निर्माण के साथ पूरा हुआ। उत्तर रेलवे में पहले की ईस्ट पंजाब, बीकानेर, जोधपुर रेलवे और ईस्ट इंडियन रेलवे के इलाहाबाद, लखनऊ और मुरादाबाद डिवीजनों को शामिल किया गया और मुख्यालय दिल्ली रखा गया। उत्तर पूर्व रेलवे केवल अवध तिरहुत और आसाम रेलवे को जोड़कर बनी है और इसका मुख्यालय गोरखपुर में है। पूर्व रेलवे में बंगाल नागपुर रेलवे और ईस्ट इंडियन रेलवे के

शेष डिवीजन शामिल हैं और इसका मुख्यालय कलकत्ता में है। इन रेलों की लम्बाई इस प्रकार है:—

रेलवे	रेलपथ की लम्बाई
(१) दक्षिण	६,०१७ मील
(२) केंद्रीय	५,४२८ मील
(३) पश्चिम	५,६३१ मील
(४) उत्तर	६,० ७ मील
(५) उत्तर पूर्व	४,७८७ मील
(६) पूर्व	५,६६७ मील

व्यवस्था और विकास

वित्तीय तथा देश के आन्तरिक साधनों के सीमित होते हुए भी रेलों के पुनर्निर्माण और सुधार के कार्यक्रम बनाने पड़े हैं। देश में नई लाइनें खोलने की आवश्यकता तो बहुत है पर आसाम रेल लिंक और डीसा से नये बंदरगाह कांदला तक के रेलपथ ही अभी तक बन पाये हैं। दोनों की लम्बाई तो लगभग १८० मील ही है पर जिन प्रदेशों में से ये गुजरते हैं वे एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। युद्ध काल में उखाड़ी गयी लाइनों को फिर से बिछाने का काम किया जा रहा है। पंचवर्षीय योजना के अधीन रेलों की कार्य-क्षमता बढ़ाने पर भी विचार किया जा रहा है। अगले तीन सालों की बड़ी-बड़ी निर्माण योजनाओं में बिहार में गंगा पर रेल और सड़क का पुल बनाना, नई लाइनें खोलना और कुछ को दुहरा करना कोयले, सीमेंट और इस्पात उद्योग की वृद्धि तथा उत्तर और दक्षिण की छोटी लाइनों को मिलाने के लिए २०० मील लम्बी लाइन डालना शामिल है। इसके अतिरिक्त कुल रेलों को बिजली से चलाने और आवश्यक पुर्जों के भारत में ही बनाने की भी योजना है।

उपसंहार—यह दावा करना न्याय-संगत ही होगा कि भारतीय रेलों का इतिहास प्रगतिशील और सराहनीय रहा है। सरकारी प्रबन्ध में होते हुए भी व्यापारिक सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं की गई है। आर्थिक दृष्टि से भी वे बहुत सुदृढ़ हैं। आशा है ३१ मार्च १९५३ को मूल्य ह्रास कोष, राजस्व सुरक्षित कोष और विकास कोष में क्रमशः ९ करोड़, ३ करोड़ और २ करोड़ पौंड और इस तरह कुल १४ करोड़ पौंड जमा होंगे।

१९५१-५२ का हिसाब किताब इस प्रकार है :—

(लाख रु० में)

	१९५१—५२
यातायात से कुल प्राप्ति	२,९०,८२
साधारण संचालन व्यय	१,९४,०४
मूल्य ह्रास कोष में दी गयी रकम	३०,००
संचालित लाइनों के लिए भुगतान	३१
यातायात से प्राप्ति	६६,४७
खर्च काटकर विविध मदों से आमदनी	४,७२
विशुद्ध राजस्व	६१,७६
साधारण राजस्व में दिया गया लाभांश	३३,४१
विकास कोष	१०,००
राजस्व सुरक्षित कोष	१८,३४

पिछली एक शताब्दी के उत्साह वर्धक इतिहास को लेकर भारतीय रेलें जन-सेवा के लिए नवीन विश्वास और आशा सहित दूसरी शताब्दी में प्रवेश करेंगी। साधनों के सीमित रहते हुये पिछले दो महायुद्धों तथा देश विभाजन की भीषण कठिनाइयों को उन्होंने जिस सफलता तथा सहिष्णुता के साथ झेला है उससे इस बात का संकेत मिलता है कि भविष्य में यदि कोई संकट उपस्थित हुआ तो वे बड़ी योग्यता से उसका सामना कर सकेंगी और देश में यातायात रूपी जीवन धारा का प्रवाह अवरुद्ध न होने देंगी जिससे देश समृद्ध और समुन्नत बन सके।

बाल-विज्ञान

सोचिये क्यों ?

(*शीलचन्द्र जैन*)

आपके दिल में यह उमंग उठती होगी कि आप अपने मित्रों से ऐसे प्रश्न पूछें और ऐसी आश्चर्य जनक बातें बतायें जिन्हें सुनकर वे दंग रह जायें। जो प्रयोग व प्रश्न यहाँ दिये गये हैं आप अपने मित्रों से उनके उत्तर तथा कारण पूछिये। किन्तु इससे पहले स्वयं भी समझने की आवश्यकता है कि ऐसा है क्यों ?

(१) एक पिंजरा है जो टिन की पत्तियों का बना है। उसका भार तुला द्वारा ज्ञात किया गया तो पाँच पौंड निकला। उसमें एक चिड़िया छोड़ी गई जिसका भार आधा पौंड है। यदि चिड़िया पिंजड़े में उड़ रही हो तो बताओ पिंजरे का भार क्या होगा? यदि टिन की पत्ती वाले पिंजरे के स्थान पर काँच का बन्द पिंजड़ा जिसका भार छः पौंड है लिया जाये। वही चिड़िया पिंजड़े में बन्द कर दी जाये और यदि वह उसमें उड़ती रहे तो बताओ कि तुला पिंजड़े का ही भार दिखायेगी या पिंजड़े और चिड़िया दोनों का ?

उत्तर है टिन वाले पिंजरे का भार पाँच पौंड और काँच वाले का साढ़े छः पौंड होगा। सोचिये ऐसा क्यों ?

(२) एक घिर्री पर से रस्सी दोनों ओर लटकी हुई है। रस्सी के एक किनारे से वजन लटका है दूसरे छोर से एक बन्दर लटका हुआ है। यह वजन बन्दर के वजन के बराबर है । अब बन्दर कूद २ कर रस्सी के ऊपर चढ़ना आरम्भ करता है तो बताइये कि बन्दर की उछल कूद से लटका हुआ वजन भी ऊपर या नीचे जावेगा या स्थिर ही रहेगा ?

उत्तर है जैसे बन्दर ऊपर चढ़ता जावेगा वैसे वजन भी ऊपर की ओर जावेगा। इस प्रकार से बन्दर और वजन पृथ्वी से समान दूरी पर होंगे।

(३) यह प्रयोग बहुत ही मनोरंजक है। इसको आप अपने मित्रों को दिखाकर जादूगर भी बन सकते हैं। एक गोल सिलन्डर लो जो एक ओर से खुला हो तथा एक ओर से बन्द होना चाहिये। इस सिलन्डर में बर्फ भरो। एक धातु का छोटा गोला बर्फ पर रखो। इसके पश्चात् एक पिस्टन द्वारा जो सिलन्डर पर ठीक से फिट आना चाहिये धातु के गोले पर दबाव डालो। कुछ ही क्षण बाद वह गोला सिलन्डर की पेन्दी में पहुँच जावेगा। किन्तु आश्चर्य है बर्फ ज्यों की त्यों जमी रहेगी।

(४) बर्फ के टुकड़े को पानी में डाल देने पर वह पानी पर तैरने लगता है। अपने मित्र को एक धागा देकर कहो कि बर्फ को बिना छुये हुये धागे की सहायता से उसे पानी में से उठा दे। तुम्हारा मित्र चक्कर में पड़ जावेगा। जब वह पूर्ण निराश हो जावे तो तुम तुरन्त धागे को बर्फ पर टिकाकर थोड़ा सा खाने का नमक धागे पर छोड़ो। थोड़ी देर बाद धागे को उठाओगे तो बर्फ भी धागे के साथ उठ आवेगा।

(५) लोहा पानी से भारी है। किन्तु फिर भी आप सुई को पानी पर तैरा सकते हैं। आप अपने मित्र से सुई को पानी पर तैराने के लिये कहिये। वह तुरन्त कहेगा पागल हुये हो ? कहीं सुई भी पानी

विज्ञान समाचार

कागज बनाने का नया साधन: केला

पूना स्थित हाथ से बनाये जाने वाले कागज के अनुसन्धान-केन्द्र में एक बड़ा आश्चर्यजनक आविष्कार हुआ है, जिससे बहुत लाभ की सम्भावना है।

कागज बनाने का यह नया देहाती तरीका जब प्रचलित हो जायगा तो भारत इस दिशा में न केवल स्वावलम्बी बन जायगा, अपितु देश के अधिकांशतः खाली रहने वाले बहुत से कृषकों को एक लाभप्रद 'पार्ट टाइम' रोजगार भी मिल जायगा। आजकल वर्ष में ११,००० टन ऐसा कागज विदेशों से आता है।

इस आश्चर्यजनक विधि को केन्द्र के मैनेजर जी० एच० गोंधलेकर ने निकाला है।

बम्बई सरकार की ग्रामोद्योग समिति के अंतर्गत सारे भारत में एक मात्र पूना में ही ऐसा आधुनिक उपकरणों से सज्जित अनुसन्धान-केन्द्र है जहाँ कि हाथ से बनाये जाने वाले कागज के विषय में वैज्ञानिक गवेषणाएँ की जा रही हैं।

गोंधलेकर ने केले और जूट की लुगदियों को मिलाकर १०० से अधिक परीक्षण किये। तब उन्हें ज्ञात हुआ कि ६० प्रतिशत कागज की लुगदी और ४० प्रतिशत जूट की लुगदी को मिलाने पर विदेशों से आयातित किस्म से भी अधिक मजबूत क्रैफ्ट कागज तैयार हो जाता है।

अपव्यय

भारत के बहुत से क्षेत्रों, विशेषतः दक्षिण में केले की खेती बहुत होती है और ८० लाख से अधिक एकड़ भूमि में यह लगाया जाता है। इनके तने किसी काम में नहीं आते।

बाल-विज्ञान (शेष अंश)

पर तैर सकती है? तो तुम उसको जरा धीरज बँधाओ और अपनी जानी हुई करामात से चकितकर दो।

कटोरे या प्याले को पानी से लबालब भर लो और सुई को एक किनारे से धीरे से फिसलाकर छोड़ दो। किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि फिसलाते समय सुई का अगला भाग जो पानी की ओर हो पहले ही पानी में नहीं डूबना चाहिये तथा पानी बिलकुल स्थिर रहना चाहिये।

इस प्रकार से ब्लेड भी पानी पर तैर सकता है।

(६) एक और आश्चर्य में डालने वाला प्रयोग है इसके द्वारा तो तुम पैसे तक कमा सकते हो। एक बाल्टी में पानी पूरी भर लो। इसके बीचोबीच एक प्याला रखो। बाल्टी में में रखे प्याले में एक पैसा या इकन्नी दुवन्नी डालो—कई बार ऐसा करने पर पता चलेगा कि पैसा बाल्टी में रखे प्याले में नहीं पहुँच पाता।

शर्त यह है कि पैसा बाल्टी के बीचो बीच से गिराना चाहिए तथा जोर से नहीं गिराना चाहिये।

तुम इसको अपनी किसी भी नुमाइश में रख सकते हो और घोषणा कर दो जो कोई बाल्टी में रखे छोले में पैसा या कोई दूसरा सिक्का (रुपया को छोड़कर, क्योंकि इसका भार अधिक होता है) डालेगा उसको उसका चौगुना इनाम में मिलेगा।

उदाहरणार्थ अकेले बम्बई प्रान्त में की जाने वाली ४०,००० एकड़ भूमि की केले की खेती में (सम्पूर्ण भारत की केले लगायी जाने वाली भूमि का १ प्रतिशत) ३,००,००० टन से ज्यादा हरे तने प्रति-वर्ष फेंक दिये जाते हैं। यदि इसका आधा भागा भी काम में लिया जाय, तो गोंधलेकर के हिसाब से, लगभग ६७५० टन लुगदी मिल सकती है। इसमें यदि जूट के फटे टुकड़ों से बनायी लुगदी और मिला दी जाय, तो भारत के वर्तमान आयात के बराबर ११ हजार टन क्रैफ्ट पेपर तैयार हो जायेगा।

गोंधलेकर द्वारा निर्धारित पारिवारिक इकाई के अन्तर्गत ४ एकड़ केलों के खेत को एक इकाई मान कर यह उद्योग गांवों में शुरू किया जा सकता है। एक इकाई में स्त्री-पुरुष सब मिल कर ६ आदमियों को 'पार्ट टाइम' काम मिल जाता है और वर्ष में ३ टन माल तैयार करने पर १०० रुपये से अधिक मासिक आय बढ़ जाती है।

सरल विधि

एक पारिवारिक इकाई को क्रैफ्ट पेपर बनाने के लिये एक बर्तन, एक भट्टी, कूटने का इंजन, सीमेंट की हौदी, कागज उठाने का बर्तन तथा अन्य सहायक औजारों की आवश्यकता होती है। ये चीजें उत्पादक के घर और उसके पास की जगह में लगाई जा सकती हैं और इनके लिये अतिरिक्त मकान की कोई आवश्यकता नहीं होती।

केले के तनों से कागज बनाने की विधि बिल्कुल सरल है। फसल के बाद केले के वृक्षों को जमीन की सतह के बिल्कुल बराबर काट दिया जाता है, जिससे कि अधिकतम परिमाण में रेशे मिल सकें। उन तनों को फिर खोल-खोल कर एक-एक परत अलग कर ली जाती है। ताजी कटी हुई उन परतों में ९३ प्रतिशत पानी होता है और केवल ७ प्रतिशत सूखा द्रव्य होता है। उनको एक से डेढ़ इंच के टुकड़ों में चौकोर काट लिया जाता है, और बौइलर के नमूने के बर्तन में लगभग ३० पौंड (सूखा माल) पकाया जा सकता है जिससे लगभग १८ पौंड लुगदी तैयार होती है। इसी प्रकार टाट के छोटे-छोटे टुकड़े करके ३ पौंड टुकड़ों से २० पौंड लुगदी तैयार बैठती है।

इसमें सूखे द्रव्य से ५० गुना पानी और १० गुना कास्टिक सोडा मिलाकर १० घंटे तक उसे पकने दिया जाता है। उस पकी हुई चीज में पानी डाल कर और उसे कूट कर लुगदी बना ली जाती है। फिर इस लुगदी को पहले से तैयार की गयी लुगदी के साथ उचित परिमाण में मिला कर २ प्रतिशत बिरोजा उसमें डाल देते हैं और मिलाकर उसे बेल देते हैं।

कागज के तख्ते बनाने का काम एक बर्तन में कपड़ा बिछा कर करना चाहिए। गीले तख्तों को एक बोर्ड के नीचे रख कर ऊपर से भारी पत्थरों से कुछ घंटों तक उसे दबाकर सुखा लेना चाहिये। इसके बाद उनको मशीन से चमका कर, आकार के अनुसार काट कर पैक कर दिया जाता है।

एक पारिवारिक इकाई को इस काम के लिये ५००० रुपये मूल्य के प्रारम्भिक उपकरणों की आवश्यकता होती है, परन्तु इन उपकरणों को बड़े पैमाने पर बनाने का काम सरकार अथवा कोई सहयोग पद्धति पर चलने वाला कारखाना अपने हाथ में ले तो उसके मूल्य में न्यूनतम २५ प्रतिशत कमी हो सकती है।

काम शुरू करने के लिए केवल दो मास प्रशिक्षण लेना आवश्यक है। यद्यपि इसका पाठ्यक्रम नियत रूप में नहीं है, परन्तु केन्द्रीय सरकार शिक्षार्थियों को प्रशिक्षण देने और उपकरणों को जुटाने के लिये उत्सुक है।

समुद्र के गर्भ में खनिज पदार्थों की प्रचुरता

सृष्टि के उस आदिकाल से ही जब मनुष्य ने सर्वप्रथम यह पता लगाया था कि समुद्र के जल में जीवनोपयोगी नमक विद्यमान है, संसार के समुद्रों से खनिज सम्पदा निकालने के प्रयत्न निरन्तर किए जाते रहे हैं।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि समुद्र ही संसार

का सबसे बड़ा खनिज-भण्डार है। विश्वस्त अनुमान के अनुसार, समुद्री जल के एक घन मील में १६ करोड़ ६० लाख टन लवण घुले रहते हैं। समुद्र के जल में पाये जाने वाले व्यापारिक महत्व के मुख्य-मुख्य खनिज पदार्थों में मैग्नेशियम, आयोडीन, ब्रोमाइन तथा सोना शामिल हैं।

लगभग २,२०० ई० पू० के प्राचीन चीनी आलेखों में समुद्र के जल से नमक निकालने का वर्णन मिलता है। प्राचीन ग्रीक, रोमन तथा मिस्री लोग भी समुद्र के जल को भाप बनाकर नमक हासिल करने की प्रक्रिया से परिचित थे। फ्रीफोर्ट (टैक्सास) की 'डौ केमिकल कम्पनी' के श्री सी० एम० शिगले का कहना है कि स्कौटलैंड में १७२० में भी समुद्री घास की भस्म से सोडा तथा पोटास तैयार किया जाने का वर्णन मिलता है।

कई सदियों तक सूर्य के ताप से ही जल को भाप बनाकर समुद्र से खनिज प्राप्त किये जाते थे। यह प्रक्रिया मन्द, श्रमसाध्य तथा खर्चीली थी, अतः उसके द्वारा समुद्र से खनिज पदार्थ हासिल करने में विशेष सफलता नहीं मिल सकी।

हर जमाने में लोग समुद्रों से खनिज प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस सम्बन्ध में अनेक परीक्षण किये गये, किन्तु अमेरिका में ओटोमोबील का आविष्कार होने तक वे सभी असफल सिद्ध हुए।

हर जमाने में लोग समुद्रों से खनिज प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे हैं। इस सम्बन्ध में अनेक परीक्षण किये गये, किन्तु अमेरिका में औटोमोबील का आविष्कार होने तक वे सभी असफल सिद्ध हुए।

औटोमोबील में प्रयुक्त होने वाले ईंधन की मदद से अनुसन्धान करने वाले वैज्ञानिकों तथा इंजीनियरों ने मालूम किया कि उच्चकोटि का पेट्रोल बनाने के लिये ब्रोमाइन में महत्वपूर्ण तत्व मौजूद हैं।

निःसन्देह उस समय मोटर वालों के लिये जो ईंधन उपलब्ध थे उनसे ईथल गैसोलिन (पैट्रोल) कहीं अधिक उत्कृष्ट है। फिर इसे अधिक मात्रा में क्यों न बनाया जाये।

इस कार्य के मार्ग में एक विकट बाधा उपस्थित है जो देखने में दुर्लंघ्य प्रतीत होती है। ब्रोमाइन की प्राप्ति एकमात्र समुद्र से ही हो सकती थी। अनुमानतः संसार का ९९ प्रतिशत ब्रोमाइन समुद्र में ही है। उस समय इसे समुद्र से निकालने का कोई तरीका मालूम नहीं था, किन्तु अमेरिकी वैज्ञानिकों ने उसे समुद्र से प्राप्त करने के सम्बन्ध में परीक्षण प्रारम्भ कर दिये। आरम्भ में ब्रोमाइन भूमिगत खारे पानी के बड़े तालाबों से प्राप्त किया जाता था, किन्तु इस प्रकार बहुत कम मात्रा में ही इसकी प्राप्ति हो सकती थी।

इसके बाद, १९३३ में 'डौ केमिकल कम्पनी' ने समुद्र से सीधे ब्रोमाइन प्राप्त करने के लिये प्रथम कारखाने की स्थापना की। यह कारखाना, उत्तरी कैरोलाइना में कुरेबीच पर स्थित है और बिल्कुल नयी पद्धति पर कार्य करता है। इससे पूर्व, इन्जीनियर लोग काफी मात्रा में जल को भाप बना कर थोड़ी मात्रा में नमक बनाते थे। नयी प्रक्रिया इसके विपरीत है और अब काफी मात्रा में जल से ब्रोमाइन को गैस बना कर प्राप्त किया जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के दिनों में मोटरगाड़ियों तथा वायुयानों के लिये पेट्रोल की आवश्यकता बहुत बढ़ गई। इसके लिये फ्रीपोर्ट (टैक्सास) के कारखाने द्वारा अमेरिकी उत्पादन में ६ करोड़ टन की वृद्धि की गई।

१९४१ में समुद्रों से खनिज प्राप्त करने की दिशा में एक और महत्वपूर्ण कार्य हुआ जबकि फ्रीपोर्ट के कारखाने द्वारा सर्वप्रथम समुद्री जल से मैग्नेशियम नामक धातु हासिल की गयी। पानी से मैग्नेशियम हाइड्रोक्साइड प्राप्त करने के तरीकों में सुधार किये जाने पर मैग्नेशियम का उत्पादन प्रारम्भ हुआ। यह धातु इस समय की अद्भुत और आर्थिक दृष्टि से उत्पादन-योग्य धातु है। यह अत्यन्त हल्की है और इसका वजन लोहे से चौथाई तथा अलूमीनियम से दो तिहाई है। औद्योगिक जगत में इसका अनेक कार्यों में उपयोग हो रहा है। यह धातुओं के मजबूत

सामान बनाने तथा जंग न लगने की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

आज अमेरिका में लगभग १०० प्रतिशत मैग्नेशियम तथा ८० प्रतिशत ब्रोमाइन सीधा समुद्र के जल से हासिल किया जाता। वैज्ञानिक इस सफलता को इस बात का द्योतक समझते हैं कि भविष्य में इस दिशा में पर्याप्त प्रगति की जा सकेगी और आशा है कि अब इन्जीनियरों को समुद्र से अन्य खनिजों के छोटे से छोटे कण प्राप्त करने में सफलता मिल जायगी।

आशा है कि किसी दिन समुद्र से आयोडीन भी प्राप्त होने लगेगा।

इस समय तक यह सीधे समुद्र से प्राप्त नहीं होता, और स्थलीय जलाशयों व झीलों आदि से ही प्राप्त किया जाता है।

विज्ञान की सहायता से विनाशकारी कीटों से फसलों एवं वृक्षों की रक्षा

१८९९ की ग्रीष्म ऋतु में दक्षिण कैलोराइना राज्य में कपास के पौधों को "विल्ट" नाम घातक रोग लग जाने के कारण एक कृषक बिल्कुल ही तबाह हो गया था। जो पौधे इस रोग का सामना कर पाये थे उनका भी रेशा बिल्कुल घटिया हो गया था। पौधों को "विल्ट" का रोग लग जाने से उनके पत्ते मुड़ जाते हैं और कुछ सूखे से प्रतीत होने लगते हैं। उस कृषक की समस्याओं को हल करने के कार्य में सहायता देने के लिए अमेरिकी कृषि-विभाग ने विलियम ओर्टन नामक एक युवक वैज्ञानिक को भेजा। उस कृषक तथा ओर्टन ने जानबूझ कर ऐसे स्थान में कपास के पौधे बोये जहाँ विल्ट का अधिक प्रकोप था। जो पौधे उस रोग का सामना कर सकते थे उसका पालन पोषण करके उन्हें बड़ा किया गया। उनकी कलमें लगाई गईं तथा १९०० में फिर वैसा ही किया गया।

उन दोनों व्यक्तियों के कार्य के परिणाम स्वरूप लम्बे रेशोंवाली कपास की कई ऐसी किस्मों का पता चला जो "विल्ट" का प्रतिरोध करने में समर्थ थीं। वे दोनों ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम उन सुधरी हुई किस्मों की खेती की थी जो विनाशक कीटों का प्रतिरोध कर सकती थीं। गत ५० वर्षों से इसी प्रक्रिया द्वारा फसलों में सुधार किया जा रहा है।

इसी दौरान में, उत्तरी डकोटा के परीक्षण-केन्द्र में, एच० एल० बोली सन की फसल को नष्ट करने वाले रोगों के सम्बन्ध में परीक्षण कर रहे थे। उनके परीक्षणों के परिणामस्वरूप सन की कुछ ऐसी किस्में मालूम हुईं जिन पर उन रोगों का प्रभाव नहीं होता था और इससे अस्थायी तौर पर उत्तर के मध्यवर्ती राज्यों में सन-उद्योग नष्ट होने से बच गया। गत ५० वर्षों से ओर्टन तथा बोली की विधियों को बराबर काम में लाया जा रहा है और उनमें सफलता मिलती रही है। अमेरिका की अधिकांश फसलों में सुधार करके उन्हें रोगों का मुकाबला करने योग्य बनाया गया है। इस सम्बन्ध में और अधिक कार्य किया जायेगा, पर ऐसे कार्यों में समय अवश्य लगता है।

गत वर्षों में कृषक पौधों के उन रोगों को काबू करने में सफल रहे हैं जो बीजों से पैदा होते हैं। तूतिया तथा चूने के घोल को छिड़क कर पौधों को लगने वाले वाले कीड़े पर नियन्त्रण किया गया है। वैज्ञानिकों ने लगातार परीक्षण करके ऐसे रासायनिक द्रव्य तैयार कर लिये हैं जो पौधों को हानि पहुँचाने वाले रोगों को तो नष्ट कर देते हैं, परन्तु उनसे पौधों को हानि नहीं पहुँचती।

विनाशक कीटों पर कभी भी पूर्ण विजय प्राप्त नहीं हो सकती अर्थात् कीटों का कभी भी पूर्णतया अन्त नहीं होगा अतः कृषक आगामी अनेक वर्षों तक अपनी फसलों पर रासायनिक द्रव्यों को छिड़कने का कार्य जारी रखेंगे। सम्भव है कि वे भविष्य में ऐसे-ऐसे यन्त्रों से काम लें जिनकी अभी कल्पना तक नहीं हो सकती।

किन्तु सचाई यह है कि इस समय कुछ अत्यन्त विनाशक वनस्पति रोगों पर काबू पा लिया गया है। उदाहरण के तौर पर, मक्का, कपास तथा गेहूँ को लगने वाले कीटों को रासायनिक द्रव्यों द्वारा नष्ट करके फसलों को बचाया जा सकता है। एक एकड़ में सिर्फ २ औंस दवा छिड़क कर टिड्डों को नष्ट किया जा सकता है। १९२० के बाद के वर्षों में कीटों ने अमेरिका की फलों की फसलों को प्रायः बिल्कुल ही नष्ट कर दिया था। उस समय जो विषैली कीट-मार दवाएँ छिड़की जाती थीं, वे बड़ी खर्चीली थीं और उनका वृक्षों एवं पौधों पर विषैला प्रभाव रह जाता था। उन्हें धोना-पोंछना पड़ता था। अब आधुनिक रासायनिक द्रव्यों की सहायता से उन कीटों पर काबू पा लिया गया है।

यह सब कुछ हो जाने पर भी, अकेले अमेरिका में ही प्रति वर्ष ये कीड़े ४ अरब डालर की क्षति पहुँचाते हैं और उनको नष्ट करने के लिये कृषकों को काफी धन खर्च करना पड़ता है। अभी तक भी वैज्ञानिक भूमि के अन्दर और बाहर रहने वाले बहुत से विनाशक तथा अन्य प्रकार के हानिकारक कीड़ों को नष्ट करने के ठोस उपाय मालूम नहीं कर पाये हैं।

भविष्य के सम्बन्ध में क्या कहा जाये ? प्रतीत होता है कि वैज्ञानिक तथा कृषकों का पक्ष प्रबल रहेगा, किन्तु यह कार्य सरल नहीं होगा। उन्हें अनेक प्रकार से विनाशक कीटों के विरुद्ध अपना संघर्ष जारी रखना होगा। वैज्ञानिकों के मतानुसार, विनाशक कीटों पर नियन्त्रण पाने का सब से सस्ता तथा सन्तोषजनक उपाय यह है कि इस कार्य को अन्य कीटों द्वारा कराया जाये। अमेरिका में इस कार्य के लिये सर्व प्रथम, कैलिफोर्निया राज्य में नीम्बू की किस्म के रसीले फलों के वृक्षों को हानि पहुँचाने वाले कीटों को नष्ट करने के लिये आस्ट्रेलिया से मँगाये गये "लेडी-बर्ड बीटल" से काम लिया गया था। अब कुछ क्षेत्रों में मक्का की फसलों को नष्ट करने वाले कीड़ों को नष्ट करने के लिये "लिडेला" नाम की मछली तथा कुछ अन्य कीट बड़े उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। कृषक इस कार्य के लिये अन्य लाभदायक कीड़ों से भी मदद ले सकेंगे।

एक दूसरा उपाय कीटों में फैलने वाले संक्रामक रोगों का आश्रय लेना भी है। ये भी लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, जापानी झिंगुर के दूधिया रोग का पश्चिमी राज्यों में व्यापक प्रयोग किया जा रहा है और कैलिफोर्निया की रिजका नामक घास में पाये जाने वाले कीड़ों में रोग फैला कर किसान लाभ उठा रहे हैं।

एक विशेष ढंग से विष देकर भी इन कीटों को नष्ट किया जा सकता है। रासायनिक द्रव्यों को भूमि में डालकर, पौधों पर छिड़क कर तथा बोते समय बीजों पर डालकर विनाशकारी कीट नष्ट किये जाते हैं। पौधों के अन्दर जहर भर दिया जाता है और जब कीड़े वृक्षों को डंक मारते हैं तो वे उस जहर के असर से मर जाते हैं। जब पशु पौधे को खाते हैं अथवा मनुष्य उसके फल आदि को खाते हैं तो उस समय तक वह विष नष्ट हो जाता है। इस प्रक्रिया में अभी भी कुछ दोष शेष हैं, पर आशा है कि शीघ्र ही उन्हें दूर कर दिया जायेगा। इस समय अमेरिकी किसान ३ करोड़ एकड़ भूमि पर फसलों या वनस्पतियों को बचाने के लिए कीटमार दवाओं का उपयोग कर रहे हैं

कृषकों को यह पसन्द नहीं है कि अनावश्यक घास को बड़ा होने पर ही नष्ट किया जाये। वे तो उसे अंकुरित होते ही नष्ट करना चाहते हैं। भविष्य में और अधिक प्रभावशाली द्रव्य तैयार किये जायेंगे। इस सम्बन्ध में सन्देह ही है कि हर तरह के कीड़ों को मारने के लिए २, ४-डी से अधिक प्रभावशाली कोई दूसरा रासायनिक द्रव्य शीघ्र निकाल लिया जायेगा। तथापि कीटों को नष्ट करने के लिये जो बहुत से प्रभावशाली रासायनिक द्रव्य तथा सामान तैयार किये गये हैं उनका ५० वर्ष पूर्व आभास तक नहीं था। इसलिए यह कहना अत्युक्ति-पूर्ण नहीं होगा कि अगले २५ वर्षों में मौजूद यन्त्रों तथा प्रक्रियाओं से अधिक अच्छे यन्त्र एवं अधिक उत्तम प्रणालियाँ निकाल ली जायेंगी।

स्वेच्छापूर्वक किये गये रक्तदान से हजारों व्यक्तियों की जीवनरक्षा

अमेरिका तथा संसार के अन्य भागों में रक्त तथा उसकी रूपान्तरित वस्तुओं से प्रतिवर्ष हजारों व्यक्तियों की जीवन-रक्षा होती है। मनुष्यों द्वारा स्वेच्छापूर्वक दिये गये रक्त से युद्ध में घायल सैनिक, मोटर दुर्घटना या खान दुर्घटना में बुरी तरह घायल होने वाले व्यक्ति, रक्त की कमी से पीड़ित नवजात शिशु तथा प्रसूतिकाल में नाजुक हालत वाली स्त्री को नया जीवन प्राप्त होता है।

इन व्यक्तियों को जीवन-दान देने वाला रक्त साधारण व्यक्ति से लेकर धनी से धनी व्यक्ति का हो सकता है। धनी वर्ग के अमेरिकी अमेरिकन रेडक्रौस के रक्त संग्रह कार्यक्रम में स्वेच्छा से रक्त देते हैं। अमेरिकन रेडक्रौस इस कार्यक्रम के द्वारा संग्रह किये गये रक्त को उन सभी स्थानों को भेजती है जहाँ रोगियों या दुर्घटनाग्रस्त लोगों की जीवन रक्षा के लिये उनके शरीर में खून पहुँचाना अत्यावश्यक हो।

अमेरिकन एसोसियेशन ने राष्ट्रीय रक्त संग्रह कार्यक्रम चला कर इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

रेडक्रौस संस्था ने द्वितीय महायुद्ध के दौरान में रक्त संग्रह करने का कार्य प्रारम्भ किया था। लेकिन यह मानवीय कार्य वर्तमान रूप में सर्व प्रथम १२ जनवरी १९४८ को प्रारम्भ किया गया। सबसे पहला रक्त-संग्रह केन्द्र रोचेस्टर (न्यूयार्क) में खोला गया। इस समय इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ४० रक्त-संग्रह केन्द्र स्थापित किये जा चुके हैं। इन केन्द्रों में लोग स्वेच्छापूर्वक रक्तदान करते हैं। यहाँ से रक्त लगभग १६० अस्पतालों में भेजा जाता है जहाँ यह रोगियों के उपचार और जीवन रक्षा के लिये उपयोग में लाया जाता है।

इस कार्यक्रम के प्रारम्भ होने के समय से लेकर अब तक ५ लाख अमेरिकी १० लाख पाइन्ट रक्तदान कर चुके हैं। अमेरिकन रेडक्रौस के पास 'ब्लडमोबाइल्स' कहे जाने वाले बहुत से ट्रक हैं। इनमें ऐसे यंत्र लगे हैं जिनसे किसी भी स्थान पर रक्त-संग्रह किया जा सकता है। इन ट्रकों का प्रयोग ग्रामों में किसानों तथा अन्य लोगों से रक्त-संग्रह करने के लिये किया जाता है।

विभिन्न स्थानों से संग्रह किये गये रक्त की परीक्षा की जाती है तथा वर्गीकरण करने के बाद यह रक्त ४ करोड़ की जनसंख्या वाले क्षेत्र में स्थित अस्पतालों को विना किसी प्रकार की कीमत लिये भेज दिया जाता है।

अस्पतालों में रक्त पहुँच जाने पर अमेरिकन रेडक्रौस का उस पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। अस्पताल अपनी आवश्यकतानुसार उसका प्रयोग कर सकता है। अस्पताल के डाक्टर अक्सर रोगों से नीरोग हो जाने पर उससे रक्त के बदले एक पाइन्ट रक्त दान करने का वचन ले लेते हैं या उसके मित्रों और सम्बन्धियों से एक पाइन्ट रक्त देने के लिये कहते हैं। कुछ ऐसे अस्पताल भी हैं जिनके अपने ब्लड बैंक हैं। ये अस्पताल एक पाइन्ट रक्त के लिये २५ से ३० डालर तक लेते हैं। लेकिन यदि रोगी नीरोग होने पर एक पाइन्ट रक्त के बदले दो पाइन्ट रक्त देने का वचन दे दे तो ये अस्पताल उससे रक्त का मूल्य नहीं लेते।

लोगों के प्रयत्नों से केन्सर की नई अनुसन्धानशाला का निर्माण

अक्तूबर १९४७ में एक वन में आग लग गई और काबू से बाहर होकर उसने बार हार्बर (मेन) नामक कस्बे में बहुत से मकानों को जला कर खाक कर दिया था। उन जलने वाले मकानों में एक प्रयोगशाला भी थी जिसकी स्थापना १९२९ में की गई थी।

कैन्सर के सम्बन्ध में अनुसन्धान-कार्य के महत्व को समझते हुए उस स्थान के नागरिकों ने उस नष्ट-भ्रष्ट प्रयोगशाला से भी अधिक बड़ी तथा उससे उत्तम सामान से सज्जित प्रयोगशाला स्थापित करने के लिए धन एकत्र किया। आज रोज़को बी०

जैक्सन मैमोरियल प्रयोगशाला में कैन्सर पर वंशानुगत प्रभाव के सम्बन्ध में अध्ययन किया जा रहा है।

"वेटरन्स औव् फौरेन वार्स" के सदस्यों ने इस कार्य के लिये ५० हजार डालर का चन्दा दिया। यह एक गैर सरकारी संस्था है जिसके सदस्य वे स्त्री-पुरुष हैं जो विदेशों में अमेरिका सेना में सेवा कर चुके हैं। अमेरिका के समस्त भागों में फैली हुई विमेन्स औग्ज़िलियरी पोस्ट्स की ५० हजार सदस्याओं ने एक-एक डालर चन्दे में दिया है।

धन एकत्र करने वाली स्थानीय समिति ने राष्ट्रीय समितियों से सहायता के लिए अपील की और अमेरिकन कैन्सर सोसाइटी, डैमन रनयन कैन्सर फन्ड, रौकफेलर प्रतिष्ठान तथा नेशनल इन्स्टिट्यूट ने उसकी अपील पर आर्थिक सहायता प्रदान की। बहुत से स्थानीय निवासियों ने भूमि दान कर दी ताकि प्रयोगशाला के लिये बड़ा मैदान हो जाये।

तीन वर्षों के भीतर जैक्सन मैमोरियल प्रयोगशाला बन कर तैयार हो गई थी। आज यह संस्था संसार की सबसे बड़ी प्रयोगशाला है जहाँ कैन्सर के वंशानुगत प्रभाव के तत्वों के विषय में परीक्षण किये जाते हैं।

इस प्रयोगशाला में १२५ वैज्ञानिक हैं जो चूहों की ६० नस्लों के सम्बन्ध में अनुसन्धान कर रहे हैं। १९४७ में आग लग जाने के कारण प्रयोगशाला के लगभग सभी जानवर नष्ट हो गये थे। केवल ५५ चूहे आग से बचे थे। अब उनसे नस्लें फिर पैदा कर ली गई हैं। गत वर्ष प्रयोगशाला ने अपने प्रयोग तथा अनेक अन्य देशों के अनुसन्धान केन्द्रों को भेजने के लिये १० लाख चूहे पैदा कर लिये थे। समीपवर्ती हैमिल्टन केन्द्र में उस प्रयोगशाला ने परीक्षण-कार्यों के लिए कुत्ते, बिल्ली, खरगोश तथा सुअर भी पाल रखे हैं।

यद्यपि यह प्रयोगशाला अभी अपनी पूरी जांच-पड़ताल की घोषणा करने की स्थिति में नहीं है किन्तु उसके वैज्ञानिकों ने यह पता लगा लिया है कि चूहों की कुछ नस्लों पर कैन्सर का अधिक प्रभाव होता है और कुछ पर अपेक्षाकृत कम होता है।

संसार के सभी भागों के वैज्ञानिक परीक्षार्थी की प्रक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए उक्त प्रयोगशाला के डाइरेक्टर बैलरेन्स सीट लिटिल उन लोगों का स्वागत करते हैं। वे इस प्रकार आपस में कैन्सर के सम्बन्ध में विचार-विनिमय करके उसकी रोक-थाम के उपाय सोचते हैं। संसार के सभी देशों में प्रतिवर्ष कैन्सर से बहुत रोगियों की मृत्यु हो जाती है।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अस्पतालों को रक्त देने के साथ साथ रक्त की रूपान्तरित वस्तुएँ भी उपलब्ध की जाती हैं। एक पाइन्ट रक्त अब कई व्यक्तियों के उपचार के लिए उपयोग किया जा सकता है। संक्षेप में रक्त की एक बूंद भी व्यर्थ नहीं जाने पाती। आज से दस वर्ष पूव आठ पाइन्ट रक्त से केवल आठ व्यक्तियों का ही उपचार किया जा सकता था परन्तु आजकल ८ पाइन्ट रक्त ३० रोगियों के उपचार के लिये पर्याप्त है।

किसी भी देश के स्त्री-पुरुष और बालक रक्त-दान कर सकते हैं। बड़ी बड़ी दुर्घटनाओं में शरीर में रक्त प्रवेश करना बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है।

शान्तिकालीन राष्ट्रीय रक्त-संग्रह कार्यक्रम अमेरिकन रैडक्रौस तथा मानव के कष्टों और पीड़ा को कम करने में दिलचस्पी रखने वाली संस्थाओं और नागरिकों के पारस्परिक सहयोग से चलाया जा रहा है। इस कार्यक्रम को चलाने में उच्च कोटि की टैकिनकल सुविधाओं का उपयोग किया जाता है। रक्त तथा रक्त की रूपान्तरित वस्तुओं के सम्बन्ध में विशेष जानकारी रखने वाले विशेषज्ञ सभी रक्त संग्रह केन्द्रों में रक्तसंग्रह के लिये एक सी टैकनिकल-सुविधाओं की स्थापना के लिये प्रयत्नशील हैं।

मुद्रक—सरयू प्रसाद पांडेय 'विशारद' नागरी प्रेस, दारागंज-प्रयाग।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—*विज्ञान प्रवेशिका, भाग १*—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक—ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम, एस, सी; ।=)

२—*चुम्बक*—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी; मू० ।।।=)

३—*मनोरंजन रसायन*—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी; २)

४—*सूर्य सिद्धान्त*—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८)। इस लेखक को २००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—*वैज्ञानिक परिमाण*—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—*समीकरण मीमांसा*—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—*निर्णायक* (*डिटमिनैंट्स*—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपालकृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी; ।।।)

८—*बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित*—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—*वर्षा और वनस्पति*—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१०—*सुवर्णकारी*—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

११—*विज्ञान का रजत जयन्ती अंक*—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१२—*व्यङ्ग-चित्रण*—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम ए०; १७५ पृ०, सैकड़ों चित्र, सजिल्द २)

१३—*मिट्टी के बरतन*—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले० प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द २) (अप्राप्य)

१४—*वायुमंडल*—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०—डाक्टर के० बी० माथुर, सजिल्द, २)

१५—*लकड़ी पर पालिश*—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का ब्योरेवार वर्णन। ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन-भटनागर, एम० ए०, २१८ पृष्ठ, ३ चित्र, सजिल्द; २) (अप्राप्य)

१६—*कलम पेवंद*—लेखक श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; २० चित्र; मालियों मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी, सजिल्द; २)

१७—*जिल्दसाजी*—इससे सभी जिल्दसाजी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम ए० सजिल्द, २)

१८—*तैरना*—तैरना सीखने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है। ले०—डा० गोरखप्रसाद, मूल्य १)

१९—*सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग*—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़ों पौधों की अचरज-भरी दुनिया सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन-कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६) (अप्राप्य)

२०—*वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ*—ले०—डा० संतप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२१—*खाद्य और स्वास्थ्य*—ले०—डा०—ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।)

२२—*फोटोग्राफी*—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, सजिल्द मूल्य ४)

२३—*फल संरक्षण*—फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा, जैम, जेली, शरबत, अचार, चटनी, सिरका, आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२४—*शिशु पालन*—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई। गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि का वैज्ञानिक विवेचन। मूल्य ४)

साँपों की दुनियाँ

लेखक—श्री रमेश वेदी आयुर्वेदालंकार

"साँपों की दुनियाँ" श्री रामेश वेदी द्वारा रचित सर्पविज्ञान सम्बन्धी एक मौलिक रचना है। साँपों का रहन-सहन, भोजन आदतें, आकस्मिक आक्रमण से बचाव सर्प-विष के प्रकार, उसका मनुष्य एवं अन्य प्राणियों पर प्रभाव, सर्पविष चिकित्सा आदि विषयों पर लेखक ने अभी तक किये गये प्रयोगों एवं अनुसंधानों का सरल भाषा में सारांश दिया है।

भारतवर्ष में बहुतायत से पाये जाने वाले विषहीन एवं विषैले सापों का विस्तृत एवं सचित्र वर्णन भी दिया है तथा प्रत्येक जाति के सांप की शरीर-रचना, उसकी आदतें, रहन-सहन, भोजन, मनोविज्ञान इत्यादि का सुन्दर चित्र खींचा है। लेखक की भाषा रोचक है, और शैली सुन्दर। हमारे पूर्वजों का सर्प सम्बन्धी ज्ञान, प्राचीन संस्कृत साहित्य में विभिन्न जाति के सर्पों का उल्लेख, सर्पों का वर्गीकरण विषैले एवं निर्विष साँपों की पहिचान, साँपों के विष-दन्त एवं विष ग्रंथियों की रचना, सर्प-विष का मनुष्य और दूसरे प्राणियों पर प्रभाव, सर्प-विष चिकित्सा और साँपों की आर्थिक उपयोगिता इत्यादि पर लेखक ने विस्तृत प्रकाश डाला है।

"साँपों की दुनियाँ" साँपों से सम्बन्धित वैज्ञानिक अनुसन्धान, अवैज्ञानिक किम्वदन्तियाँ एवं अन्ध विश्वास, प्राचीन साहित्य में साँपों का उल्लेख एवं तत्सम्बन्धी ज्ञान का निचोड़ है। मूल्य ४)

फसल के शत्रु

लेखक—श्री० शंकरराव जोशी

बहुत से कीट मानव-समाज का अहित करते हैं, कुछ कीट इन कीटों का ही संहार कर डालते हैं तथा कुछ कीट अन्य रूप से मनुष्य का हित करते हैं। सिद्धहस्त और अनुभवी लेखक ने इस पुस्तक में उन कीटों का वर्णन किया है जो फसलों को विशेष हानि पहुँचाते हैं। वैज्ञानिक कृषि तथा व्यापारिक प्रतियोगिता के इस युग में इन जंतुओं के करतब का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य ही है। फसलें बो लेना और प्रति एकड़ पैदावार बढ़ा लेना मात्र ही कृषि व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर लेना नहीं माना जा सकता। खेत में खड़ी फसलों और बगीचे के पौधों की शत्रु से रक्षा करना तथा गोदाम में रक्खी गई पैदावार को कीड़ों और रोगों से बचा लेना भी आवश्यक है।

इस पुस्तक में फसलों, लकड़ी, कोठरी में भरे नाज, साग, तरकारी आदि सभी वस्तुओं को इन शत्रुओं से सुलभ साधनों द्वारा प्रभावोत्पादक रूप से रक्षा पा लेने की विधियाँ तथा उन शत्रु रूपी कीटों तथा रोगों की पूरी पहचान भी दी गई है। डबल फुल्सकेप सोलहपेजी आकार के लगभग ३५० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ३॥)

पता—विज्ञान परिषद्, बैंक रोड, इलाहाबाद

विज्ञान
जून १९५३
मिथुन २०१०
भाग ७७
संख्या ३
वार्षिक मूल्य
चार रुपए
प्रति अंक
छः आने

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh and Madhya Pradesh for use in Schools, Colleges and Libraries

विज्ञान के नियम

१—वार्षिक मूल्य ४) तथा प्रति अंक का ।=) है ।

२—प्रतिमास प्रथम सप्ताह में विज्ञान प्रकाशित होता है ।

३—ग्राहक किसी भी मास से बनते हैं ।

४—वार्षिक मूल्य सदा दो एक मास पूर्व अग्रिम भेजने से ।=) वी. पी. व्यय की बचत हो सकती है ।

५—नमूने की प्रति माँगने पर या बिना मांगे भी ज्ञात पतों पर मुफ्त भेजी जाती है ।

लेखकों से निवेदन

१—लेख किसी भी विषय के वैज्ञानिक पक्ष पर होना चाहिए ।

१—लेख मनोरंजक और सुबोध होना चाहिए ।

३—कागज पर एक ओर ही सुपाठ्य लिखना चाहिए ।

४—चित्र सदा काली स्याही से बने होने चाहिए । हल्के या अन्यरंग में बने चित्रों का ब्लाक नहीं बन सकता ।

५—लेख भेजने के दो मास पश्चात् भी न छपने पर स्मरण-पत्र अवश्य भेजें ।

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ४) चार रुपया एक प्रति का ।=) छः आना ।

विज्ञान

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५

भाग ७७	वृष २०१०, जून १९५३	संख्या ३

वैज्ञानिक पुस्तकों पर पुरस्कार

उत्तर प्रदेश सरकार ने इस वर्ष विज्ञान के सहकारी सम्पादक जगपति चतुर्वेदी को वैज्ञानिक पुस्तकों पर ८००) का पुरस्कार प्रदान किया है। इसके लिए हम उत्तर प्रदेश सरकार तथा पुरस्कार परामर्श-दातृ समिति के सदस्यों को धन्यवाद तथा लेखक को बधाई देते हैं। हम यह अनुभव करते हैं कि विज्ञान के विभिन्न विषयों पर लोकप्रिय पुस्तकों के प्रकाशकों तथा लेखकों का अभाव सा ही है, फिर भी यह हर्ष की बात है कि सरल विज्ञान पुस्तकमाला रूप में अब तक चौदह पुस्तकें विज्ञान के सहकारी सम्पादक, जगपति चतुर्वेदी द्वारा लिखित प्रकाशित हो सकी हैं जिनके नाम निम्न हैं। प्रथम दो पुस्तकों पर गत वर्ष उत्तर प्रदेश सरकार ने ५००) का पुरस्कार प्रदान किया था। आठ चिन्हित पुस्तकों पर इस वर्ष ८००) का पुरस्कार मिला है। शेष नई छपी हैं।

विलुप्त जंतु
बिजली की लीला
*समुद्री जीव जंतु
*वनस्पति की कहानी
*जीने के लिए
*ज्वालामुखी
*भूगर्भ विज्ञान
*पेनिसिलिन की कहानी

*वैज्ञानिक आविष्कार
,, भाग १,
,, भाग २
परमाणु के चमत्कार
कोयले की कहानी
विलुप्त वनस्पति
तत्वों की खोज में

विलुप्त फर्न (पर्णांग)

जीव-जंतुओं तथा वनस्पतियों की सृष्टि में हमें प्रकृति द्वारा अनेक प्रयोग करने का दृश्य दिखाई पड़ता है। प्रस्तरावशेषों रूप में इनके अनेक रूपों द्वारा विकसित होने तथा आज का स्वरूप धारण करने का प्रमाण मिलता है। परन्तु प्राचीन काल में कितने ही रूपों, वर्गों, जातियों आदि के जन्तुओं तथा वनस्पतियों का प्रकृति ने प्रादुर्भाव किया जो आगे की ओर अपने वंश-क्रम न बढ़ा सके, या विकास की दौड़ में आज तक जीवित न रह सके। उनको विलुप्त जन्तु या वनस्पति नाम दिया जाता है। कदाचित् कुछ नमूने बनाते जाकर प्रकृति ने अपने प्रयोगों में उनकी उपयोगिता या जीवन संघर्ष में जीवित रह सकने की शक्ति का अभाव देख कर लोप हो जाने दिया हो अथवा एक नमूने को बनाकर, उसका पूर्ण खेल देख कर उस अनुभव से लाभ उठाकर, दूसरा नमूना बनाने का उद्योग किया हो। यथार्थ में प्रकृति के ठीक उद्देश्य या मर्म को हम समझ सकने में कदाचित् समर्थ न हो सकें। परन्तु जो वस्तु-स्थिति है, वह यह है कि प्राचीन काल में धीरे-धीरे जीवों या वनस्पतियों का जन्म तथा विकास हुआ और उनके अनेक वंशों का लोप होता गया। उनमें से कुछ के नमूने हमें आज की सृष्टि में परिवर्तित तथा विकसित मिल सकते हैं किन्तु बहुतों के समानवर्ती रूप आज नहीं भी मिलते। कुछ स्थितियों में तो पासा उल्टा ही पड़ा मिलता है। वनस्पति या जन्तु के किसी रूप का पूर्व काल में महान रूप में विकास हो सका, परन्तु आज हमें उनके बौने या नगण्य रूप का ही दर्शन हो सकता है। किसी दिन अपने विशाल आकार-प्रकार से संसार के मध्य कल्प को पूर्ण आच्छादित कर सकने वाले सरीसृप, दानवसरट, मत्स्यसरट आदि आज सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। परन्तु सरीसृपों के वंश को जीवित बनाने वाले तुच्छ जंतु गिरगिट, छिपकली, गोह, कछुवे आदि ही आज धरातल पर विद्यमान रह सके हैं।

वनस्पति-जगत में भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है किन्तु उनके प्राचीन नाम-धाम, रूप, आकार आदि की चर्चा हमें अधिक सुनने का अवसर न मिला होने से छोटे-बड़े, नए-पुराने आदि पेड़-पौधों की कहानी कोई मनोरंजक प्रसंग-अनुभव नहीं की जा सकती है। परन्तु विशेषज्ञों के लिए वे अपने पूर्ण या आंशिक लोप अथवा रूपों के बिगाड़ या बनाव के कारण एक अत्यन्त कौतूहल-वर्द्धक कहानी प्रस्तुत करते हैं। हम उनके रूपों के हेर-फेर तथा लोपों की कुछ कहानी देने का प्रयत्न करेंगे।

प्राचीन वनस्पतियों में फर्न ऐसे वर्ग के वनस्पति का नाम है जिसके कितने ही वंशों का वर्त्तमान काल में सर्वथा ही लोप हो चुका है, किन्तु कुछ वंश अब भी विद्यमान हैं। इस नाम से हमें कई वनस्पतियों को संबोधित होने का वर्णन देखने को मिलता है जिनमें कुछ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रूप ही रखने वाले हो सकते हैं। इस समय फर्न की १०-१२ जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें बहुत सी अपेक्षाकृत नवीन कालों की ही उत्पन्न हैं, किन्तु कुछ को कोयला उत्पादक काल (कारबोनिफेरस) से उत्पन्न होकर अपनी जाति अब तक जीवित रखते पाया जाता है। जो जातियाँ फर्न नाम धारण कर धरा से सर्वथा लुप्त हो चुकीं, उनकी भी संख्या कम नहीं है। विलुप्त सरीसृप के विनाश के जिस प्रकार कुछ कारण हुए होंगे उसी प्रकार प्राचीन फर्न वंशों को भी कदाचित् विपरीत वातावरण या भौगोलिक बाधाएँ उपस्थित होने पर लुप्त हो जाने का अवसर प्राप्त हुआ होगा।

जब हमें किसी पदार्थ के प्राचीन तथा नवीन, वर्त्तमान तथा विलुप्त रूपों के ऊहापोह में पड़ने की आवश्यकता हो तो हमें उसकी जातियों के वर्त्तमान

रूप का ज्ञान होने पर ही प्राचीन रूपों के समझने या तुलना करने का अवसर हो सकता है। अतएव वनस्पतियों के सम्बन्ध में भी हमें आधुनिक आकार-प्रकारों, अंग-उपांगों, उत्पत्ति तथा प्रवर्द्धन विधियों आदि का सम्यक ज्ञान होना उचित हो सकता है। परन्तु हम यहाँ पर वर्तमान वनस्पतियों के आकार-प्रकार वर्णित करने के पचड़े में पड़ कर विलुप्त वनस्पतियों की अधिक चर्चा करने का विशेष स्थान नहीं पा सकते, अतएव कुछ स्थूल बातों की चर्चा की जा सकती है। अधिकांश पेड़-पौधे हमें फूल, फल उत्पन्न करते तथा फल या बीज से नई संतान उत्पन्न करते दिखाई पड़ते हैं। इनके असंख्य भेदों का तो नाम भी ले सकना एक दुरूह ही कार्य है परन्तु आम, करंज, अंगूर, नीम आदि की भाँति मधुर या तिक्त रस या गूदों के अंदर आवरण-वेष्ठित बीज रूप के फलों को हम जहाँ वेष्ठित-बीजी वनस्पति या पेड़-पौधों की देन कहते हैं, वहाँ कुछ नग्न रूप में ही बीज उत्पन्न करते दिखाई पड़ते हैं। चीड़, देवदार आदि ऐसे वृक्ष हैं जिनमें छिलकों के शृङ्खलाबद्ध किसी टोप या शंकु में शल्कों या छिल्कों के छोरों पर बीजों को अटके पाया जाता है। यह वर्ग नग्नबीजी कहा जाता है। वेष्ठित-बीजी जहाँ उत्तम या सम्पन्न वर्ग कहा जा सकता है वहाँ यह नग्नबीजी वर्ग दुर्बल साधन युक्त या हीन वर्ग का कहा जा सकता है। परन्तु दरिद्रता या साधनों की दुर्बलता की सीमा कदाचित् नहीं होती, इसी कारण नग्नबीजियों रूप के फटेहाल वनस्पतियों से भी निम्न वर्ग के वनस्पति होते हैं जो बीज नाम का उपहास कर कुछ प्रजनन साधन रखते हैं जिनमें पुष्पों के परागण की भाँति पराग और स्त्री-केसर के नमूनों पर नर और मादा रूप के सन्तानोत्पादक कण होते हैं। वैज्ञानिक इनको बीज का ही कार्य कर सकने के कारण नर बीजाणु और मादा बीजाणु नाम दे देते हैं, परन्तु कुछ वर्ग तो इनसे भी गए-बीते, हेय तथा अत्यन्त ही क्षीण-साधन के होते हैं जिनको नर और मादा रूप के बीजाणुओं का झमेला न पाल कर केवल एक रूप के ही बीजाणु के रूप धारणकर अपनी संतान-वृद्धि करते देखा जाता है। ये बीजाणुधर्मी वनस्पति निकृष्टतम या हीनतम वर्ग के नमूने कहे जा सकते हैं।

वनस्पतियों के प्रस्तरावशेषों के अध्ययन से यह जानने का प्रयत्न किया गया है कि पहले किन रूपों में पेड़-पौधों का जन्म हुआ करता था, उनके अनुक्रमिक रूप के अध्ययन से यह जानना संभव हो सका है कि किस प्रकार वे रूप परिवर्तित होकर उच्चतर वर्ग के वनस्पतियों को जन्म देते गए। विज्ञान के किसी भी साधन से अभी यह बता सकना सम्भव नहीं हो सका है कि जन्तुओं या पेड़-पौधों की उत्पत्ति करने वाली यथार्थ भौतिक या रासायनिक कौन सी क्रियाएँ हैं जिनसे कोई जननकण बीजाणु या बीज अथवा डिम्ब आदि कुछ भी नाम रख कर जीवन का उदय करता है। यह ज्ञानक्षेत्र हमारी बुद्धि या धारणा-शक्ति के सर्वथा बाहर ही पड़ा हुआ है, परन्तु आंतरिक शक्ति की उत्प्रेरणा या जीवन-स्फुरण के अतिरिक्त पार्थिव रूप से जो रूप-परिवतन या हेर-फेर होकर पेड़-पौधे उगते या जीव बढ़ते या जन्म धारण करते हैं उनकी परीक्षा या जाँच-पड़ताल की गई है। उनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पहले सृष्टि में बीज का उद्भव न हो सका होगा तथा वनस्पति के जन्म धारण करने के सरलतम अथवा हेयतम साधन ही प्रचलित रहे होंगे। दूसरे शब्दों में आप यह स्पष्ट कहने का साहस कर सकते हैं कि आदिम या प्रारम्भ कालीन वनस्पति बीजाणुधर्मी ही रहे होंगे। इस तरह हमें बीजधारियों के अग्रज निर्बीजीय (बीजाणु उत्पादक) पेड़-पौधे ही दिखाई पड़ कर वनस्पति जगत में अग्रणी सिद्ध होते हैं। इन विभिन्न प्रकार के विकास क्रमों तथा इनके संधि काल के रूपों में फर्न नामधारी कतिपय वनस्पति वर्गों का विशेष स्थान पाया जाता है।

फर्न (पर्णाङ्ग) तथा उनके समवर्गीय वनस्पति मुगदरहरिता, (क्लब मासेज) तथा अश्ववार (हार्स टेल्स) आदि की दस सहस्र जातियाँ धरती पर उत्पन्न हुई पाई जाती हैं। इनके प्रस्तरावशेषों के नमूने

आज से ३० कोटि वर्षों पूर्व तक डेवोनियन काल के अवसान के समय निर्मित शिलाओं में प्राप्त होते हैं। अतएव इनकी प्राचीनता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं।

फर्नों का वर्णन प्रारंभ करने के पूर्व हमें वनस्पति जगत में पत्रों के विभिन्न रूप तथा रचना का कुछ रूप अनुमानित कर लेना उचित होगा। प्राचीन रूपों की पत्तियों के आकार-प्रकार से ज्ञात होता है कि पहले वनस्पति के शाखा-प्रशाखा के पुनः पुनः विभाजन तथा अनुविभाजन होते जाने से ही अंत के छोटे रूप सूत्रवत् बहुसंख्यक बनते होंगे। सूत्रशिखा से अनुशिखा रूप में कंघे के दाँतों की भाँति पार्श्वभाग से ही सूक्ष्म रूप उभड़ आते होंगे। ऐसे प्रारंभिक रूप के पत्र हमारे आज के झाऊ या सरो वनस्पतियों की सूच्याकृतिपत्तियों से भी पतले और छोटे रूप धारण करते रहे होंगे। इनमें अंतिम शीर्षीय सूत्रों की माला के किसी प्रकार जुटने से कुछ पत्तियों का रूप बना दिखाई पड़ सका होगा। उनके ही विभिन्न रूप से विकास या छोटे-छोटे भागों के मिलने से बड़े पत्ते बनने की युक्ति निकल सकी होगी। हमपत्तों में मध्य शिरा (नस) बनी देखते हैं। उनसे फिर पार्श्व भागों में अनुशिराएँ फूट निकली होती हैं जो किसी वर्ग के वनस्पति में परस्पर समानान्तर निकली हो सकती हैं और किसी में उलटे-सीधे रूप में मकड़ी के जाले की भाँति रूप बनाए होती हैं। एक के स्थान पर अनेक मुख्य शिराएँ भी पंखे की भाँति गोलाई के फैलाव में अनुशिराओं के प्रसार से विचित्र रूप बनाती हैं। ये शिराए, अनुशिराएँ पत्रक के भाग में वनस्पति के रस और खाद्य द्रव्य के वहन की सूक्ष्म नलिकाएँ होती हैं जिनके किसी झिल्लीमय पदार्थ के वेष्ठन से हमें चौड़ा रूप देखने को मिलता है। इन शिराओं और अनुशिराओं के प्रसार के रूपों तथा पत्र के तल की आकृति तथा उनकी स्थिति या संख्या आदि के अनुसार अनेक विभेद पाए जाते हैं। छोटे रूपों में एक पृथक् पत्ती ही हो सकती है। परन्तु गुट्ट रूप में मालाएं उपमालाएं भी बन कर टहनी की शोभा बढ़ाती हैं। नीम पत्रक की भाँति किसी टहनी या छरके से खरके निकल कर पत्तियों के समूह सज्जित होते हैं। यदि एक खरके की सभी पत्तियों को मिला कर एक पत्ती या पत्रक नाम दिया जाय तो उसकी प्रत्येक छोटी पत्ती को अनुपत्रक नाम दे सकते हैं। कुछ वनस्पतियों में ऐसी पत्रावलियाँ होती हैं। फर्न भी पत्रावलियों की व्यवस्था वाला वनस्पति है।

फर्नों के वंश को उत्पन्न होने के काल से आज तक जितनी अवधि व्यतीत हुई उसके केवल चतुर्थांश काल के बराबर ही यथार्थ पुष्पधारी वनस्पतियों के वंश को जन्म धारण किये हुआ। आज भी अनेक उथल-पुथल के बाद फर्न के वंश इतने अधिक रूपों में विद्यमान हैं कि उन्हें देख कुछ आश्चर्य ही होता है। विलुप्त रूपों को समझने के लिए हमें आज विद्यमान फर्नों के अनेक वंशों का अनुमान कर लेना चाहिए। फर्न प्रायः साएदार नम भूमि को पसंद करते हैं किन्तु वे विभिन्न परिस्थितियों में उगने में समर्थ दिखाई पड़ते हैं। कुछ धूप में दहक उठती चट्टानों के कोटर में उग कर समय बिताते हैं। कुछ परोपजीवी बने रूप में अन्य वृक्षों की शाखाओं या पत्तियों पर अपना स्थान बना लेते हैं। कुछ पूर्ण जलजीवी या अर्द्ध जलजीवी होते हैं। उन्हें पानी के तल पर नौका विहार-सा करते उत्पन्न होते पाया जा सकता है। दलदलों या बनाच्छादित नदी-नालों के अलवण जल में या कीचड़ में भी उगते पाया जाता है।

विभिन्न देशों तथा वातावरणों में भी उनकी उत्पत्ति देखी जाती है। उनके सैकड़ों ही विभेद पाए जा सकते हैं। उष्ण प्रदेशों में इस वंश के वृक्षों को विशाल रूप में ८० फीट की ऊँचाई तक उगते पाया जा सकता है। इसके विपक्ष क्षुद्र आकार में कुछ इंचों की ऊँचाई तक उगने वाले केवल एक पत्र के भी फर्न पाए जाते हैं। घनी छाया के स्थानों में इनके ये क्षुद्र रूप उगे मिलते हैं। किंतु इनके सैकड़ों नाम, रूप, भेद विभेद के होते हुए भी कुछ बातों में समानता पाई जा सकती है जो इनके समानवर्गी कुछ अन्य वनस्पतियों में भी सुलभ होती है।

यहाँ पर एक वर्ग के फर्न मैडेनहेयर (कन्या केश) की रचना तथा संतानोत्पादन विधि का वर्णन दिया जा रहा है जो संसार में बहुत ही अधिक रूप में प्रसारित पाया जाता है। फर्न को उच्चवर्ग का बीजाणु-उत्पादक या बीजाणुधर्मी वनस्पति कहा जा सकता है। बसंत में मैडेनहेअर (कन्या केश) फर्न की भूमि के अंदर फैलने वाली लता अपने वर्द्धनशील गाँठों पर बड़ी पत्रावली को उगाती है जिसमें पत्र तथा उपपत्रक भरे होते हैं। यह वनस्पति बहुवर्षी होता है अतएव उसकी पत्रावली के अवशिष्ट दंड पिछले वर्ष की बाढ़ का द्योतन करते हैं। इसके मूल रूप के भूतलगर्भी तने खंडों में विभक्त होकर पूर्व अंश को सुखा देते हैं और स्वतंत्र वनस्पति रूप में पत्रावलियों को जन्म देते हैं। भूतलगर्भी तने के निम्न भाग सूत्र रूप के क्षुद्र मूल भी निकालते हैं।

यदि किसी पत्रावली के एक खरके में निकले उपपत्रकों का अवलोकन किया जाय तो उन्हें बड़े दाँते रूप में चार या पाँच फाँके बनाए किनारों युक्त पाया जायगा। प्रत्येक मोड़ या वक्रन फाँक आंशिक रूप से कई सौ बीजाणुदानियों को शरण दिए रहता है। बीजाणुओं का भंडार संचित रखने वाली पेटी या थैली को बीजाणुदानी (स्पोरेंजिया) नाम दिया जाता है। यह परिपक्व होने पर गहरे भूरे रंग की बन जाती है। एक-एक बीजाणुदानी को पत्रक से सम्बद्ध पाया जाता है।

विभिन्न प्रकार के फर्नों में बीजाणुदानियाँ के बीजाणुओं की संख्या विभिन्न हो सकती है। कुछ फर्नों में तो एक बीजाणुदानी में कई सहस्र बीजाणु होते हैं, किन्तु कुछ में १६, ३२ आदि संख्या के बीजाणु हो सकते हैं। एक पत्रक के एक मोड़ (वक्रित फंक) में पचीसों बीजाणुदानियाँ हों और एक ही पत्रावली में पचीसों पत्रक हों जिनको हम एक खरके में लगे अनेक उपपत्रकों का मंडल समझ सकते हैं तो एक-एक पत्रावली में सैकड़ों उपपत्रकों की संख्या देख कर यह अनुमान किया जा सकता है कि बीजाणुदानियों की कितनी अधिक संख्या होगी। अतएव बीजाणुओं की संख्या तो अनगिनत ही कही जा सकती है। निरीक्षण किया गया है एक साधारण फर्न एक ताड़ पत्र के स्कंध स्थल पर परोपजीवी रूप में उगा हो और प्रति वर्ष सात पत्रावली नई उगती हो तथा एक पत्रावली में २५ उपपत्रक हों और प्रति उपपत्रक १०० बीजाणुदानियाँ रखता है, एक-एक बीजाणुदानी गुच्छ में २५००० बीजाणु हों तो कुल बीजाणुओं की संख्या एक खरब तक पहुँच जाय।

फर्न की बीजाणुदानी से इतनी अधिक संख्या में उत्पन्न बीजाणु एक-एक फर्न को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं। हमारे मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि आज के बहुसंख्यक बीजधारी वृक्षों या पौधों की उत्पत्ति से इन बीजाणुओं द्वारा संतानोत्पादन क्रिया में क्या विभेद हो सकता है। उसका संक्षेप में निम्न प्रकार वर्णन किया जा सकता है।

बीजाणु उत्पन्न करने के लिए फूल की आवश्यकता नहीं होती। फन की यह विशेषता है कि वह पुष्प का उत्पादन न कर ही जो सन्तानोत्पादक साधन रूप के कण उत्पन्न करता है उनका भंडार अनुपत्रकों के मुड़े छोर में संचित होना है, वहाँ नर और मादा का कोई पचड़ा नहीं होता। जब परिपक्व रूप में फर्न उन्हें पृथक् करता है तो वे भूमि पर फैल जाते हैं। अपने रक्षक आवरण के कारण बीजाणुओं को कुछ समय तक कुशलपूर्वक निष्क्रिय पड़े रहने का अवसर होता है। बाद में उपयुक्त वातावरण उपस्थित होने पर उनके अंदर की शक्ति जागृत होकर नूतन संतान उगा देती है, परन्तु बड़े ही आश्चर्य की बात है कि वह संतान फर्न से कोई मेल नहीं खाती। वह तो क्षुद्र रूप की हृदयाकृति एक हरी वस्तु होती है जिसे जन्यु (प्रोथेलस) या बीजाणुकी नाम दिया जा सकता है, बीजाणुकी धरातल पर लेटी रहती है। उसमें सूक्ष्म रोम निकले होते हैं जो मिट्टी से पानी चूस सकते हैं। किन्तु उनमें वनस्पति का हरा पदार्थ हरितपर्ण (क्लोरोफिल) विद्यमान रहता है जो प्रकृति से उसके लिए खाद्य द्रव्य ग्रहण कर सकता है। उससे शर्करा का निर्माण हो सकता है जो खाद्य द्रव्य होता

है और उसका पोषण करता है, किन्तु यह सब कुछ खेल अल्पकालीन होता है। कुछ समय तक ये क्षुद्र आकार के बीजाणु नाखून के बराबर होकर कुछ तो नर बन जाते हैं और कुछ का मादा का रूप बन जाता है। ये फिर संयुक्त होकर नई संतान उगाते हैं।

नर रूप की बनी बीजाणुकी को हम कोई दुम-सी लगाई देखते हैं जिसे हिला-डुला कर वह पानी की पतली सतह पर कुछ दूर रेंग कर मादा रूप की बीजाणुकी या अंड के पास पहुँचता है। इस प्रकार शुक्रकीट रूपी नर बीजाणुकी का रजाणु या मादा बीजाणुकी से संयोग होता है और यह संयुक्त रूप वनस्पतियों के संचित बीजों की तरह गर्भाधान युक्त गर्भाशय का दृश्य उपस्थित कर फर्न की उत्पत्ति करता है। यह द्वितीय जन्म फर्न के उत्पन्न होने का कारण होता है। इसमें यह जान लेने की बात है कि नर और मादा या शुक्र और रज के संयोग या पराग और स्त्री केसर के मिलने की क्रिया हुए बिना ही फर्न का बीजाणु पहली संतान उत्पन्न कर चुका होता है जिसे हम फर्न के रूप का भले ही न पावें किन्तु प्रत्येक बीजाणु ऐसी संतान उत्पन्न करने में अकेले समर्थ होता है। फिर बाद में दूसरी बार एक नई क्रिया या संतान-उत्पादन विधि संचालित होकर फर्न का यथार्थ रूप बनाती है। ऐसी सृष्टि या संतानोत्पत्ति को द्विजन्मा वनस्पति कहा जा सकता है।

बीजाणु-पेटिका या बीजाणुदानी से बीजाणु के बाहर निकाल फेंके जाने की क्रिया विलक्षण होती है। चित्र में इस क्रिया को स्पष्ट दर्शाया गया है। (क) में भूतल-गर्भी तने से एक कनखा फूट कर ऊपर एक दंड रूप निकला एक पत्रावली बनाए है। (ख) एक अनुपत्रक का निचला तल दिखाता है। उसमें फाँकों के छोर मुड़े हुए हैं जिनमें बीजाणुदानियाँ दबी पड़ी हैं। बीजाणुदानी के खुलने तथा बीजाणुओं के बाहर से निकाल फेंक दिए जाने की क्रियाएँ ग, घ तथा ङ चित्रों में दिखाई गई हैं। च, छ तथा ज में बीजाणुकी से नर, मादा रूप के कोष उत्पन्न कर फर्न का नया वनस्पति उत्पन्न करने का आयोजन करते दिखाया गया है। चित्र झ में इनके संयोग से नया फर्न उगा प्रकट किया गया है। च में बीजाणुकी के निचले तल पर नर और मादा कोष हैं। छ में नर कोषों का गुट्ट है तथा ज में मादा कोषों का संघट्ट या अंड समूह।

बीजाणुदानी को चारों ओर से आवेष्ठित करने वाली एक प्रमुख कोष-पंक्ति होती है। उन कोषों की भीतरी तथा पार्श्व भित्ति पुष्ट तथा स्थूल होती हैं। जब बीजाणुदानी परिपक्व हो जाती है तो यह कोषावरण शुष्क बन कर संकुचित बनने की प्रवृत्ति दिखलाता है। ऐसा होने से अधिक कोमल रूप की निर्मित पार्श्व-भित्ति फट पड़ती है। क्षण भर में ही बीजाणुदानी पीछे झुक कर दूनी फैल जाती है। इसमें अधिक बीजाणु पृथक् नहीं हो पाते परन्तु शीघ्र ही फिर झुकाव मिटा कर पूर्व अवस्था में आने का उद्योग करते हैं। उस क्रिया में इतना झटका लगता है कि सारे बीजाणु दूर फेंक दिए जाते हैं। ऐसी क्रिया एक या दो बार फिर हो सकती है। कदाचित् कुछ बीजाणु अटके पड़े रह गए हैं। अतएव उनको भी बाहर फेंक कर संतान-वृद्धि में लगाने के लिए कुछ क्रम से ही दुबारा-तिबारा बीजाणुदानी का मुँह खुलने और तुरन्त सिकुड़ने की क्रिया होती है। इन क्रियाओं में बीजाणुदानी प्रायः पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट या शिथिल आकार की हो जाती है। बाद में मुर्झा कर उसका लोप हो जाता है। उसका कार्य समाप्त हो चुका रहता है। किन्तु एक ही बार समस्त बीजाणुदानियों का इस प्रकार विस्फोटन नहीं हो जाता। बल्कि वृक्ष के फलों की भाँति आगे-पीछे वे परिपक्व होकर फटा करती हैं। किन्तु इतनी अधिक संतानोत्पादन की व्यवस्था रख कर भी फर्न सभी बीजाणुओं से नए वनस्पति नहीं खड़ा कर दिखाता। उपयुक्त वातावरण मिलने पर ही संतान-उत्पत्ति होती है, अन्यथा एक-एक अनुपत्रक पर जितनी बीजाणुदानियों में अनगिनत बीजाणुओं का भंडार संचित होता है, उन सबके उग आने से धरती पर अन्य वनस्पतियों के उगने का स्थान भी न मिल सके। जो बीजाणु साएदार नम भूमि पर फेंके जाते

हैं वे ही उगने का तुरन्त अवसर पा जाते हैं। बीजाणुकी (प्रथिलस) को कुछ वैज्ञानिक गमेटोफाइट या ऐन्द्रिकीय नाम देते हैं। इनके नर और मादा के संयोग से उत्पन्न नए अंकुरित वनस्पति को स्पोरोफाइट या बीजाणवीय नाम देते हैं।

बीजाणु-मंजूषा (बीजाणु-गुच्छ की थैली) की रचना तथा स्थिति के अनुसार फर्नों का विभाजन किया जाता है। अनेक जाति के फर्नों में वे उपपत्रकों के निचले नियमित मंडलों में संचित होते हैं। प्रत्येक बीजाणु मंडल अर्द्ध गोले रूप के संघट्ट में एक टोप रूप के बाह्यावरण द्वारा सुरक्षित रहने का नमूना चर्मीय फर्न (लेदर फर्न) में उपस्थित करता है। यह बीजाणु मंडलीय आवरण अनुपत्रक के मुड़े छोर की भाँति ही रक्षा का कार्य करता है। इस कारण बीजाणु मंडल सूखने या मुरझाने से बच जाता है। कुछ फर्नों में जेबी पुस्तिका के रूप के आवरण में बीजाणुदानी रक्षित होती है। कुछ फर्नों में मध्य शिरा का सामना करते हुए लटकन रूप का आवरण उन्हें सुरक्षित रखता है। कुछ में आवरणहीन नग्न रूप में ही बीजाणु भंडार पड़ा रहता है। कुछ को मध्य शिरा के दोनों ओर अनुपत्रकों में फैली दुहरी पंक्तियों युक्त बीजाणु भंडार शृंखला फर्न का नाम प्रकट करता है।

बीजाणु भंडार की थैली के आवरण के अनेक रूप होते हैं। यह नव अंकुरित बीजाणुदानी का रक्षक होता है। किन्तु कुछ इसके बिना ही भलो भाँति पनपते हैं। पोलीपोडी फर्न बिल्कुल चर्मीय फर्न की भाँति ही बीजाणुदानी रखता है। किन्तु उसमें रक्षक आवरण का अभाव होता है। कुछ जातियों में हल्के लटकन रूप में बीजाणुदानी पाई जाती है जो कई रूपों में अनुपत्रक के अधोतल से लटकी रह सकती है। एक फर्न तो अनुपत्रक की पूरी छोर को ही लपेट कर अपनी बीजाणुदानी सुरक्षित रखता है। एक फर्न विचित्र होता है जिसके पत्ते तो फर्न सदृश तुरन्त पहचाने जा सकें किन्तु पत्रकों के अधोतल पर कहीं भी बीजाणुदानी नहीं दिखाई पड़ सकती। एक स्वतंत्र पत्रदंड की भाँति जमीन के भीतरी तने से फूट कर ऊपर निकली भेंटी पर ही केवल बीजाणुदानी स्थित देखी जा सकती है। यह पत्रहीन पत्रावली कही जा सकती है जो अन्य पत्रावलियों के मध्य में हो। बीजाणु मंजरी दंड भी इसे कह सकते हैं।

संवेदनीय फर्न की इस बीजाणुमंजरी अर्थात् बीजाणुदानी धारी दंड की छः या आठ उपशाखाएँ शिखर पर होती हैं। उन पर गोलाकार या कुछ चपटे आकार के दर्जनों दाने-से होते हैं। ये दाने उपयुक्त मौसम आने पर खुल पड़ते हैं जिनके अन्दर दबी छिपी पड़ी बीजाणुदानी दृष्टिगोचर हो जाती है। कुछ दूसरे फर्न इस प्रकार के भी होते हैं जिनमें पत्रावली के साथ ही एक ही कनखे या अवलंब दंड पर यह बीजाणुमंजरी भी एक भाग में स्थित हो और पत्रक-अनुपत्रक दूसरे भाग में हों। बोटीनियम फर्न में एक पत्रावली में निम्न भाग तो पत्रकमय होता है तथा ऊपरी भाग बीजाणुमंजरीमय होता है।

इन प्रकारों में सैकड़ों प्रकार के वर्त्तमान फर्नों में से कुछ के ही उदाहरण दिए जा सके हैं। किन्तु इन थोड़े नमूनों से भी कुछ रूपरेखा या विभिन्न रूपों का अनुमान हो सकता है। इनमें से ही कुछ ऐसे हो सकते हैं जिनके पूर्वजों के रूप के नमूने अति प्राचीन काल में मिलते हों और कितने ही अपेक्षाकृत नए युग के हो सकते हैं। इनके विपरीत हमें कुछ उन जातियों का रूप प्रस्तरावशेषों द्वारा ज्ञात हो सकता है जिनके नमूने निर्मित कर सकना सृष्टि ने अब स्थगित या बंद कर दिया है। उनको विलुप्त फर्न का जातियाँ कह सकते हैं।

एक फर्न छोटे आकार का ही ऐसा होता है जो अर्द्ध उष्ण प्रदेशों में आता है। उसे पाइन फर्न या एर्नीमिया एडियंटिकोलिया नाम दिया गया है। इसको बहुत ही प्राचीन वनस्पति-वंशों का एक विद्यमान नमूना माना जा सकता है। इसके भूतलगर्भीय तने से ऊपर की ओर शाखा रूप में जो पत्रावलियाँ निकलती हैं वे साधारण रूप से पत्रकमय ही होती हैं किन्तु उसी में सबसे निम्न रूप की दो उपशाखाएँ केवल हैं, परन्तु कुछ विशेष बीजाणुमंजरियाँ उत्पन्न करती हैं।

उपशाखाओं में सबसे निचली उपशाखाएँ केवल बीजाणुमंजरीमय होती हैं।

पाइन फर्न की बीजाणुदानी अपेक्षाकृत कुछ बड़ी होती है तथा दो पंक्तियों में बद्ध होकर उपपत्रकों के अधोभाग में पृथक्-पृथक् उपस्थित होती है। बीजाणुदानी कुछ-कुछ अन्डाकार होती है और एक बहुत छोटे विनाल से लगी होती है। बीजाणुदानी का मुख कोषों के एक कुंडल से बना होता है जो परिपक्व होने पर उसे धीरे से लम्बाई में खोल देते हैं और बीजाणु शान्तिपूर्वक बाहर निकल जाते हैं। फ्लोरिडा प्रान्त में ऐसे फर्न बहुत उगते हैं। फ्लोरिडा प्रान्त के इन पाइन फर्नों (एनीमिया एडिमांटिफोलिया) का समकक्षी वर्ग व्यूमिंग प्रदेश के प्रस्तरावशेषों के उर्वर खंड में प्रस्तरावशेष रूपों में प्राप्त होता है।

इन प्रस्तरावशेष रूप के पाइन फर्नों में पत्रकों के अवशेष के समीप छोटी उपशाखा रूप आकार दिखाई पड़ते हैं, जिनमें काली-काली सेम रूप की वस्तुएँ बहुसंख्यक रूप में छोरों पर अटकी ज्ञात होती हैं। ये केवल रूपरेखा के ढंग के छाप वाले ही प्रस्तरावशेष नहीं हैं बल्कि मूर्त्त रूपीय प्रस्तरावशेष हैं जो यथार्थ वानस्पतिक पदार्थ के दबाव में पड़े कार्बन की भाँति विद्यमान हैं। सेलायडिन नामक रासायनिक पदार्थ के प्रयोग से इन्हें लेप कर रात भर सूखने दिया जाता है फिर उसे हाइड्रोफ्लोरिक एसिड में घुला दिया जाता है। जो अंग सेलायडिन की परत में चिपक गया होता है उसे फिर अन्य रसायनों में कुछ मिनटों तक रखने से पाँच या छः फाँक स्पष्ट रूप से पृथक् दिखाई पड़ने लगते हैं। प्रत्येक फाँक के नीचे बीजाणुदानियों की एक पंक्ति दिखाई पड़ती है जिनमें बीजाणु अपना आकार भली-भाँति सुरक्षित प्रकट करते हैं। इन वैज्ञानिक प्रक्रियाओं में आज से दस कोटि वर्षों पूर्व खटी (क्रिटेशश) काल में उत्पन्न वनस्पति का मूर्त्त रूप हमारी आँख के सामने विद्यमान दिखाई पड़ सकता है। ये बीजाणुदानियाँ पत्रावली से बिल्कुल लगी हुई नहीं मिल सकी हैं। परन्तु वे अवश्य ही सम्बद्ध रही होंगी क्योंकि फ्लोरिडा के आज के पाइन फर्नों की बीजाणुदानियों से उनका आकार-प्रकार स्पष्टतया मिलता दिखाई पड़ता है। इन प्रस्तरावशेषों की खोज कप्तान जोन फ्रीमोंटी ने १८४३ में की थी। इसलिए इनको एनीमिया फ्रीमोंटी नाम दिया गया है।

वनस्पतियों की जीवन-क्रिया पर ध्यान दिया जाय तो उनमें धरती से पानी तथा खनिज ग्रहण करने के साधन कोषों द्वारा निर्मित नलिकाओं द्वारा ज्ञात होते हैं। मूलों के सूक्ष्म सूत्र के कोष इन्हें चूस कर भीतरी अंग में तने तथा शाखाओं, पत्तों आदि तक पहुँचाने की क्रिया में प्रथम भाग लेते हैं। इनके ही मुख से चूसे द्रव्य को अन्य कोषों द्वारा निर्मित जो नलिका ऊपर भागों तक ले जाने का कार्य करती है वह ऊर्ध्ववाही नलिका कही जा सकती है। परन्तु पत्तों तथा हरी टहनियों द्वारा रूपान्तरित खाद्य वस्तु को फिर अन्य अंगों तक नीचे की ओर ले जाने वाली दूसरी नलिकाएँ होती हैं जिनको अधोवाही नलिकाए कह सकते हैं। इन दोनों प्रकार की नलिकाओं के संस्थान या समूह को रसवाही नलिकाएँ या संस्थान नाम दिया जा सकता है। बड़े वनस्पतियों में इनका रूप तने के बाह्य घेरे के विस्तार में हो सकता है जिसे अंतर्छाल तथा उससे सम्बन्धी काष्ठ का ऊपरी तल निर्मित हो सकता है। इनके नीचे काष्ठ का भाग केन्द्र तक फैला हो सकता है जिसे काष्ठ मंडल कह सकते हैं, किन्तु यह ठोस न होकर बिल्कुल बीच या केन्द्रीय भाग में कुछ अन्य रूप का हो सकता है जिसे अपनी अस्थियों के केन्द्रीय भागों के नमूने पर मज्जा (पिथ) या केन्द्रीय कोमल काष्ठ खंड नाम दिया जा सकता है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि केन्द्रीय काष्ठ खंड या मज्जा तथा उसे आवेष्टित करने वाले मुख्य काष्ठ मंडल की मोटी तह का प्रारम्भ में अभाव ही हो सकता है। केन्द्रीय भाग में नूतन वनस्पति के नव निर्मित तने में रसवाही नालिकाएँ स्थान पाए हो सकती हैं। मज्जा का केन्द्रीय खंड तो हमें सरकंडे सरीखे अल्पकालीन पौधे में भी दिखाई

पड़ता है। इसलिए हम उसकी अधिक चर्चा नहीं करते। काष्ठ का मुख्य खंड वनस्पति के प्रति वर्ष बढ़ते जाने से एक-एक गोली परत रूप में वार्षिक बाढ़ का देन ही होता है। इसलिए कालान्तर में काष्ठवलय या गोली परत की तहें मोटी बनकर तने का विशाल रूप बनाती हैं। इसमें रस-वाही नलिकाएँ तथा अन्य वृद्धिशील अंगों के कोष-मंडल बाहरी खंड के निकट होते हैं।
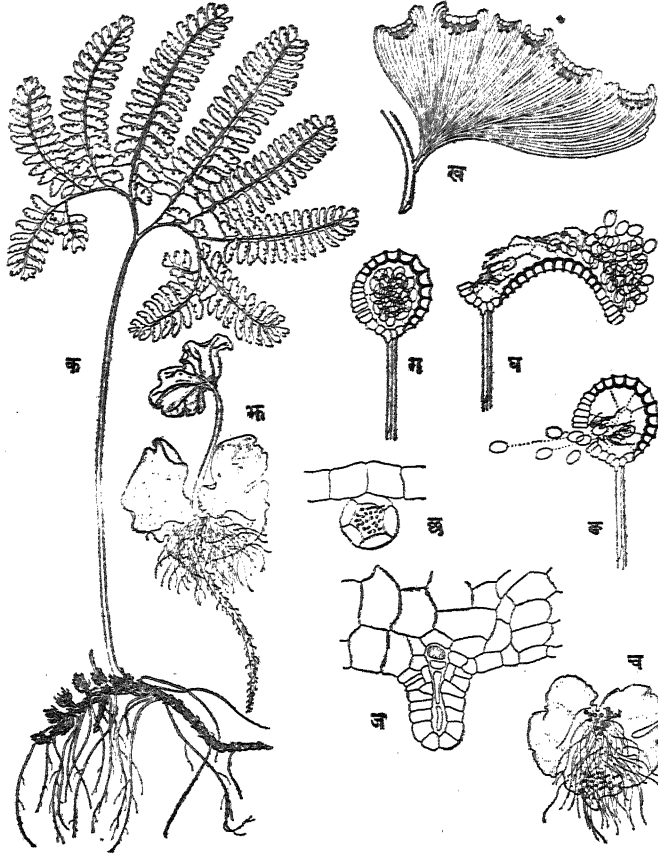
कन्याकेश (मैडेनहेयर)

अमेरिका के पश्चिमी व्यूमिंग प्रदेश में जिन शिलाओं में कप्तान फ्रिमोंट ने अपने नाम पर प्रसिद्ध एनीमिया फ्रिमोंटी नामक फर्नीय प्रस्तरावशेष प्राप्त किया था, उन शिलाओं के पड़ोस में समकालीन निर्मित शिलाओं में कुछ वृक्षों के विशाल तने पथराए रूप में बहु-संख्यक प्राप्त होते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि उन तनों या शाखाओं में ही एनीमिया फ्रिमोंटी नाम के पल्लवों या पत्रावलियों युक्त टहनियों को उत्पन्न होने का अवसर प्राप्त हुआ होगा परन्तु समीपवर्ती और समकालीन शिला होने के अतिरिक्त कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं सुलभ हो सका है कि वे कांड (तने) इन प्रस्तरावशेष रूप की पत्रावलियों को उत्पन्न करते थे। प्रस्तरावशेष-विज्ञान की खोजों में प्रायः ऐसे अवसर आए हैं कि खोजी अंधे व्यक्ति की भाँति ही टटोलता जान पड़ता है। दीर्घकालीन भौगर्भिक घटनाओं के आज से लाखों ही नहीं, कितने कोटि

वर्षों पूर्व घटित घटनाओं के परिणाम स्वरूप जंतुओं या वनस्पतियों के प्रस्तरावशेष पूर्ण अंगों के आकार के रूप में न सुलभ होकर एक दो अंगों का ही आकार छाप या मूर्त्त रूप में प्रकट करती है। जीव या वनस्पति की रूपरेखा का कुछ पता न होने से पहला खोजी अपनी ढूँढ़ी हुई वस्तु, या वानस्पतिक या जान्तव अंग का कोई एक नाम दे देता है। अन्य समयों में अन्य स्थलों पर मिलने वाले अन्य प्रस्तरावशेषों के मिलने पर किसी प्रकार पूरा आकार खड़ा करने या थोड़े अंगों से पूर्ण अंशों को अनुमानित करने का भगीरथ प्रयत्न किया जाता है।

फर्न के सम्बन्ध में यही बात घटित होती दिखाई पड़ती है। पल्लव या पत्रावली तथा बीजाणुदानी की पृथक् खोज हुई और कुछ नाम दिया गया है। इसी प्रकार बहुसंख्यक प्रस्तरीभूत तनों को 'चैम्प्सक्या' नाम दिया गया है। इन तनों को कुछ इंचों के व्यास से लेकर १६ इंच व्यास तक की मुटाई का पाया जाता है। किन्तु कोई भी पूर्ण नमूने का प्रस्तरावशेष नहीं मिल सका है।

तनों का आधार भाग कुछ मोटा दिखाई पड़ता है। इनमें बड़े तने का दस या बारह फीट तक ऊचे होने का अनुमान किया गया है। इन टेम्प्सक्या नाम के वनस्पतियों के तने का आन्तरिक भाग बड़े ही भव्य रूप में सुरक्षित प्राप्त होता है। उनके अध्ययन से बड़ा ही आश्चर्य होता है। उस प्रकार की रचना किसी भी अन्य वनस्पति में नहीं पाई जाती। यह प्राचीन वनस्पतियों के विलुप्त रूप का एक अद्भुत उदाहरण कहा जा सकता है। वनस्पतियों के तने की रचना ज्ञात करने के लिए उभड़े रूप में उसका तल चिकनाया जाय या ऋतु, तलभंजन शक्तियों आदि के प्रभाव से क्षीणकाय तने का ऊपरी तल का अध्ययन किया तो उस तने के छोटे या बड़े आकार के अनुसार उसमें स्थल-स्थल पर छोटे-छोटे गोले एक चौथाई इंच व्यास के दिखाई पड़ेंगे जिनकी संख्या कोड़ियों या उससे भी अधिक पहुँच सकती है। वैज्ञानिक इन दृश्यों को देखकर स्तब्ध हो जाते हैं। इनको 'चक्षु' नाम दिया जाता है। इनकी संख्या तथा स्थिति इस कारण विचित्र है कि रसवाही नलिकापुंज तने के समग्र खंड में पृथक्-पृथक् गुट्ट बना कर स्वतंत्र वनस्पतियों के छोटे तने बनाए दिखाई पड़ते हैं जिनके चारों ओर सूक्ष्म रोम आवेष्ठित होते हैं। इनमें से एक-एक को एक-एक कन्या केश (मैडेन हेयर) के तने की भाँति आभासित पाया जाता है जो इस प्रस्तरावशेष के तने में भीतर प्रविष्ट हैं। अधिकांश साधारण पेड़-पौधों के विद्यमान या प्रस्तरावशेष रूपों में केवल एक ही काष्ठीय बेलन या गोलमंडल होता है। छाल के नीचे यही खंड आम, जामुन या देवदारु आदि में पूर्ण तने को छेदे होता है किन्तु इसके विपक्ष टेम्प्सक्या के तने से नाल रूप का चाप सदृश विच्छेद या दबा तल बना मिलता है। यहाँ से कभी पत्तियाँ निकली होंगी। पत्तियों के वृन्त (भेंटी) के बैठने के ये स्थल होंगे जिन्हें वृन्तवलय कह सकते हैं। क्षुद्र काष्ठीय गोल मंडल के ये छोटे विच्छेद पत्तियों के वृन्त (भेंटी) से सम्बन्धित रहकर रसवाही नली का कार्य करते होंगे।

बीस या तीस कन्याकेश वनस्पतियों के तनों को अपनी घन-भूत राशियों से पृथक्-पृथक् आवेष्ठित रह कर एक मोटा गट्ठर या बोझा अकड़ कर बाँधा जाय तो वह रूप इस प्रस्तरावशेष रूप में मिले तने तुलना कर सकता है। ये वनस्पति खड़े रूप में उग कर ऊपरी अर्द्ध भाग या कुछ अधिक भाग में लघु आकार के अनुपत्रकों (पल्लवी) युक्त पल्लव या पत्रावली की सघन राशि फैलाते। हमारे पास यह कह सकने का कोई भी प्रमाण नहीं कि इन पर वे ही पल्लव उत्पन्न होते जिनका वर्णन कप्तान फ्रिमोंटी को प्राप्त प्रस्तरावशेषों या आज के विद्यमान पाइन फर्न, एनीमिया एडियांटिफोलिया रूप में किया गया है। इतना अवश्य है कि जैसी शिलाओं में इन तनों के प्रस्तरावशेष प्राप्त होते हैं, समय तथा स्थान रूप में समवर्गीय शिलाओं में ही एनीमिया फ्रिमोंटी नामक पल्लव प्राप्त हो सके हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी दुर्बल प्रमाण है। बीजाणुदानियों के वृन्तवलय

(भेंटियों के निम्न आधारीय तल) एनीमिया के समान ही एक नमूने में उपलब्ध हो सके हैं।

टेम्पसक्या प्रस्तारावशेष योरप के अनेक प्रदेशों तथा अमेरिका में प्राप्त हुए हैं। खटी (क्रिटेशश) काल में यह एक मुख्य वनस्पति था जिसकी संख्या पर्याप्त होगी। इसे अमेरिका के पश्चिमी व्यूमिंग तथा इडाहो के निकटवर्ती भाग में, जहाँ प्रस्तराशेषों की अधिक सुलभता देखी जाती है, यह वनस्पति भी अपने
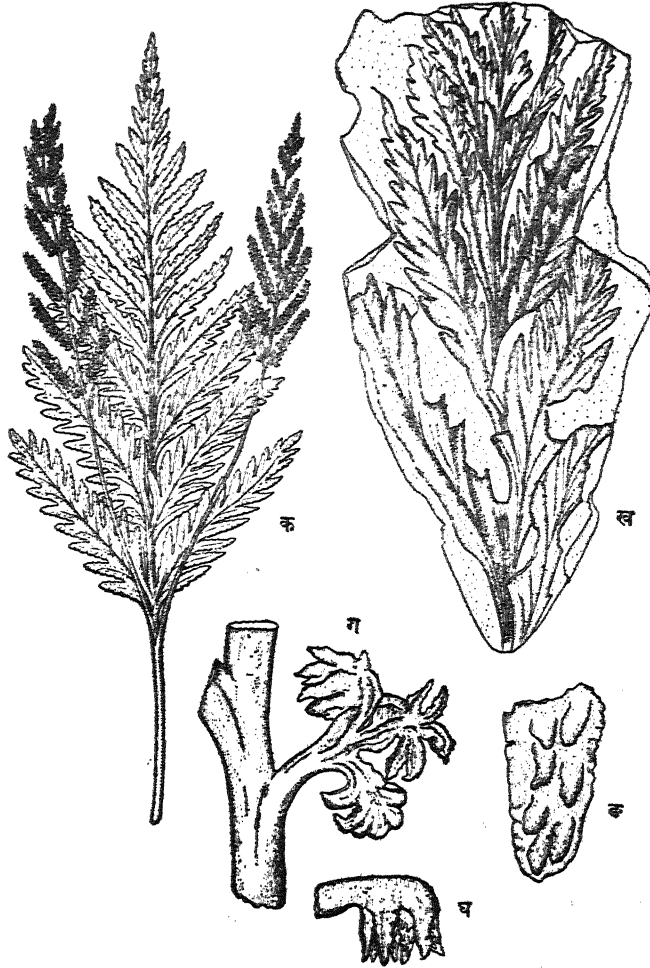
क—पल्लव, ख—पत्रावली ग, घ, ङ, बीजाणुदानी, एनीमिया फ्रीमोंटी

टूटे-फूटे पथराए खंडों को पहाड़ियों, टीलों आदि में विद्यमान रखे पाया जाता है। कितने स्थलों पर तो ऐसे प्रस्तरावशेषों युक्त प्रस्तर-खंड भवनों के आधार भाग में बैठाए मिलते हैं। काशी के निकटवर्ती सारनाथ की पुरानी नगरी के अवशेषों में एक स्तूप का केवल निचला आधार इतना ही रह गया है जो उस स्थान को बता सके। अन्यथा स्तूप का वह कोई प्रमाण नहीं बता सकता। वहाँ से काशी वासियों ने पत्थर उखाड़-उखाड़ कर जगतगंज मुहल्ले को आबाद किया था। किन्तु उसी में कोई स्वर्ण-प्याला भस्म-युक्त देख कर

जगतसिंह नाम के एक राज्य कर्मचारी ने तत्कालीन अंग्रेज अधिकारियों को सूचना दी थी। वह जगत स्तूप आज बौद्ध स्मारक बना है, किन्तु उसके निर्मायक पत्थर घरों में लग कर लुप्त हो गए। यही दशा प्रकृति के रक्षित भंडारों की हो सकती है। उनके उचित मूल्यांकन में असमर्थ नागरिक पत्थर के ढोकों के साथ उन्हें भी खोद ले जाकर वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कुछ सुलभ होते आधारों का भी लोप करने में कुछ हिचक नहीं करते।

टेम्पसक्या प्रस्तरावशेषों को पाने के लिए दूर नहीं भटकना पड़ता। एक सीमित क्षेत्र में ध्वस्त होते जाने वाले भूखंडों में प्राप्त होते हैं जो खटी काल का निर्मित स्तर है। यह देख कर यह प्रश्न मन में बराबर उठता है कि यह क्यों केवल खटी काल की शिलाओं में ही प्राप्त होता है। क्या इसके पूर्व या पश्चात कालों में उनकी स्थिति कहीं धरातल पर नहीं थी ? यदि ऐसा है तो अकस्मात कहीं से उनके वंश के टपक पड़ने और अपना अभ्युदय काल दिखा कर एक काल के बाद निश्चित रूप से लुप्त हो जाना, एक अनहोनी घटना हो सकती है। किन्तु जब हम प्रस्तरावशेषों के बनने पर विचार करते हैं तो यह देखने को मिल सकता है कि आज के अगणित पेड़-पौधों या जीव-जंतुओं के उत्पन्न होने और मृत या नष्ट हो जाने के दृश्य देखे जाते हैं, किन्तु इन सब में से यदा-कदा ही कुछ अवशेष धरातल में सुरक्षित रह पाते होंगे। यही बात पूर्व स्थिति के वनस्पतियों के सम्बन्ध में हो सकती है। जो कुछ प्रस्तरावशेष संयोगवश सुरक्षित रह कर हमारे सम्मुख सुलभ हो पाते हैं वे तो अत्यन्त न्यून संख्या के कुछ थोड़े वर्गों या वंशों के जीवित रूपों के आज तक पथराए रूप में बचे रूप हैं। इतने रूपों को ही सृष्टि की क्रिया मानना भारी भूल हो सकती है। इनके अतिरिक्त कितने ही स्थलों पर अन्य वंशों का उदय, विकास होता रहा होगा। परन्तु या तो उनके प्रस्तरावशेष सुरक्षित होने के उपयुक्त अवसर नहीं आए या प्रस्तरावशेष बनने पर भी इस विश्व की ध्वंसक शक्तियों के चपेट में पड़ कर वे कभी के नष्ट-भ्रष्ट हो गए या आज कहीं विद्यमान भी हों तो उन पर हमारी दृष्टि न जा सकती हो। इसीलिए सब देशों में वैज्ञानिक प्रत्येक समय जागरूक रह कर अपने देशवासियों को इन प्राचीन सृष्टि रूप के स्मारकों को देखने का अवसर पाते ही सुरक्षित रखने तथा अध्ययन कर सकने की सुविधा पा सकने की शिक्षा देते रहते हैं।

टेम्पसक्या प्रस्तरावशेष की समस्या जहाँ इतनी उलझी हुई है, वहाँ एनीमिया फ्रिमोंटी को अपना पूर्वज पूर्व काल में विद्यमान सिद्ध करते पाया जाता है। इसके समान आधुनिक रूप तो पल्लव की समानता दिखाते ही हैं। परन्तु खटी काल (मध्यकल्प) से बहुत पूर्व पुराकल्प के कोयला-उत्पादक (कारबोनिफेरस) काल में भी ऐसी पत्रावलियों वाले फर्न (पर्णांगी) विद्यमान पाए जाते हैं। किन्तु पल्लवों (पत्रावलियों) के ही प्रमाण से संतुष्ट न रह कर वैज्ञानिकों ने बीजाणुदानियों की समता भी पाने तथा परखने में सफलता प्राप्त की है। कारबोनिफेरस काल के प्रस्तरावशेषों के नमूनों में बीजाणु तथा बीजाणुदानियों को इतना सुरक्षित पाया जा सकता है कि रासायनिक प्रक्रियाओं से धोकर आवरण हटा देने पर दो-तीन सौ बीजाणु भीतर स्पष्टतया विद्यमान प्राप्त होते हैं। इन फर्नों के पत्रविनालों (पत्तियों की भेंटियों) में जो सूक्ष्म रोग लगे होते थे उनको भी आज तक भव्य रूप से सुरक्षित प्रस्तरावशेषों में अवलोकित किया जा सकता है। इनको आज के फर्नों के अनुरूप ही पाया जाता है। इन प्रमाणों से एनीमिया फ्रीमोंटी तथा आधुनिक रूप के फर्नों को उस प्रकार के प्राचीन कालीन फर्न का वंशज कहा जा सकता है।

फर्न के आधुनिक रूपों में रायल फर्न (राष्ट्रीय पर्णांगी) में पल्लव के शृंग पर गहरे धूसरित हरित रूप की कलँगी या मंजरी सरीखा बीजाणुदानी-गुच्छ होता है। सिन्नामोन (दारुसित) फर्न में बीजाणुदानी-गुच्छों का रंगीन मंडल एक पृथक दंड या टहनी पर अवस्थित होता है। इन्टरप्टेड (व्यतिरेकीय) फर्न में सिन्नामोन की भाँति हरित पल्लव तथा रंगीन

बीजाणु-मंजरी का पृथक दृश्य उपस्थित करने के बजाय एक ही दंड पर उपरिभाग में जहाँ पल्लव होता है वहाँ निचले भाग में पत्रावली के ही मध्य पृथक् खंड रूप में बीजाणु-मंजरी स्थित रखते पाते हैं।

फर्न के ये तीनों रूप प्राचीन कालीन प्रस्तरावशेषों रूप में अपने पूर्वजों का प्रमाण देते हैं। राष्ट्रीय फर्न जहाँ इतनी प्रचीन वंशावली का है, वहाँ उसका आज के अखिलविश्वीय प्रसार को भी देखा जा सकता है।
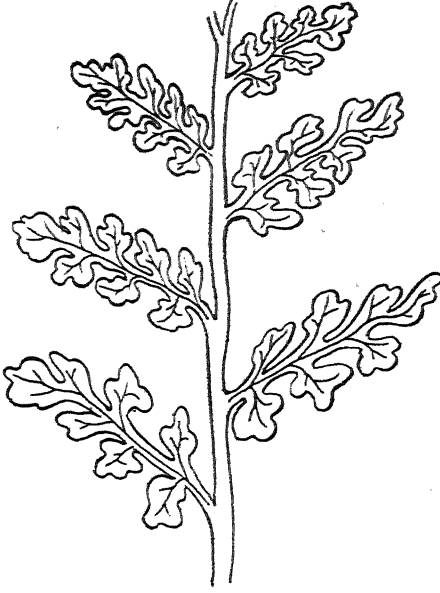
विलुप्त फर्न (स्फेनोप्टेरिस)
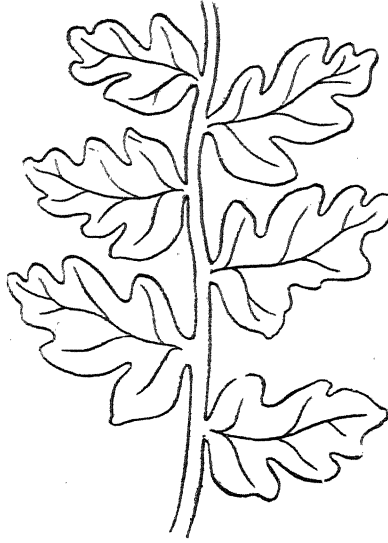
विलुप्त फर्न (मेरियोप्टेरिस)
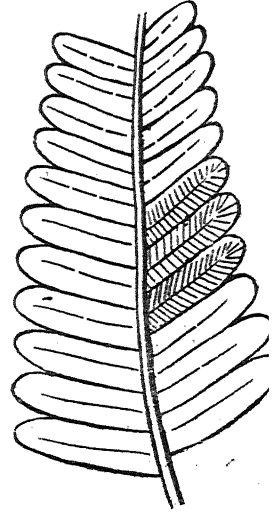
विलुप्त फर्न (येकोप्टेरिस)

यह यूरोप, चीन, जापान, भारत, पूर्वी द्वीप समूह, दक्षिणी अफ्रीका तथा अमेरिका के दोनों महाद्वीपों में उत्तर में कनाडा से लेकर दक्षिण में ब्राजील तक के देशों में आज सुलभ पाया जाता है। इसको विश्व भर के देशों में व्याप्त कहा जा सकता है। प्रत्येक प्रकार की भूमि इसके लिए उत्पन्न हो सकने योग्य ज्ञात होती है।

प्रस्तरावशेषों द्वारा सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में इन वनस्पतियों का दूर-दूर स्थलों तक प्रसार होता रहा होगा। उनके अवशेषों को विभिन्न स्थानों में व्याप्त पाया जाता है। आज के विद्यमान रूपों के समान फर्नों के प्रस्तरावशेष मध्य कल्प की शिलाओं में न्यूजीलैंड, अफ्रीका, कनाडा में प्राप्त हो सके हैं।
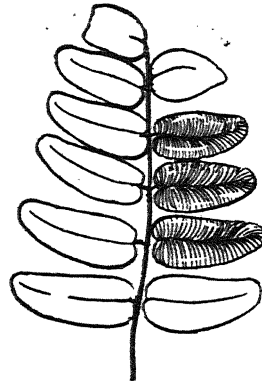
विलुप्त फर्न (एलोथेप्टेरिस)

विलुप्त फर्न (न्यूरोप्टेरिस)

पुराकल्प के अवसान काल, परमियन काल की शिलाओं में रूस में इन्हें प्राप्त किया जा सका है।*

[—जगपति चतुर्वेदी, स० सम्पादक]

* 'विलुप्त वनस्पति' से

चालक मद्यसार या पावर अलकोहल

[ले० श्री 'अशोक']

अमेरिका में 'मद्यनिषेध" योजना के विफल होने का एक कारण यह भी था कि वहाँ पूँजीपतियों का अरबों रुपया शराब के व्यवसाय में लगा था और शराबबन्दी के कारण यह रुपया डूबता जा रहा था। भारत में जहाँ एक ओर क्रमशः नशाबन्दी होती जा रही है दूसरी ओर शराब का औद्योगिक उपयोग बढ़ता जा रहा है। शराब के कारखाने बन्द होने के स्थान पर दैनन्दिन उन्नति कर रहे हैं, और मद्यसार या पावर अलकोहल नामक रसायन का निर्माण करने में लगे हैं जो कि देश की पेट्रोल की कमी को पूरा कर रहा है। पावर अलकोहल एक प्रकार की बहुत तीव्र शराब है, जो शीरे से बनती है। पीने अथवा औषधियों के उपयोग में जो सुरासव या रेक्टिफाइड स्पिरिट उपयोग की जाती है उसमें कुछ अंश पानी का रह जाता है जिससे वह मोटर के इंजन में जलाने योग्य तेल का काम नहीं दे सकती। अतः इसमें से पानी को बिलकुल सुखाकर उसे अनाद्र कर दिया जाता है यह अनाद्र सुरासव 'अबसोल्यूट अलकोहल' या विशुद्ध मद्यसार कहलाता है जिसमें एक प्रतिशत मिट्टी का तेल मिला दिया जाता है जिससे कि वह पीने के योग्य न रह सके। इस प्रकार विकृत किया गया मद्यसार ही चालक मद्यसार या पावर अलकोहल कहलाता है।

उत्तर प्रदेश में शराब बनाने के २० बड़े कारखाने हैं जिनमें से १२ तो अब मुख्यतः चालक मद्यसार के बनाने में ही संलग्न हैं। इनकी निर्माण क्षमता एक करोड़ बीस लाख गैलन प्रतिवर्ष है। भारत में उत्तर प्रदेश में ही सबसे अधिक ऐसे कारखाने हैं जहाँ चालक मद्यसार बनता है। अब तक तो भारत के अन्य राज्यों में केवल ४ या ५ ही मद्यसार बनाने के कारखाने हैं। इसका कारण यह है कि उत्तर प्रदेश में चीनी के कारखाने अधिक होने से शीरे का उत्पादन भी अधिक होता है जो कि चालक मद्यसार के बनने के काम आता है।

कुछ वर्ष पूर्व तक शीरा चीनी के कारखानों में एक गन्दी वस्तु के रूप में बहुत बड़ी मात्रा में एकत्रित हो जाता था। उसे व्यर्थ समझ कर फेंक दिया था। यद्यपि खांडसारी चीनी या शीरा जानवरों आदि के खाने में उपयुक्त होता था किन्तु आधुनिक ढंग के चीनी के बड़े कारखानों में उत्पन्न शीरा मशीनों के कूड़ा करकट तथा गंधक आदि के सम्मिश्रण से इतना निकृष्ट हो जाता था कि उसे जानवरों के उपयोग में नहीं लाया जा सकता था। पीने के लिए जो शराब बनती थी वह छोटे-छोटे कारखानों में महुवे से बनाई जाती थी। बड़े कारखाने भी शीरे का बहुत कम उपयोग कर पाते थे। अतः वहाँ भी शीरा कूड़ा समझ कर फेंक दिया जाता था। कभी कभी तो उसे उठाकर फिकवाने के लिए चीनी के कारखानों को अपने पास से व्यय करना पड़ता था।

युद्ध के समाप्त होते ही फ्रान्स में इतनी अधिक शराब जमा हो गई थी कि कि उसको पीने के उपयोग में ही लाना संभव न था अतः उसको और तेज बनाकर अर्थात् उसमें मिले पानी के अंश को हटाकर उसे किसी और औद्योगिक उपयोग में लाना आवश्यक था, जैसा कि कहावत है, "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" वैज्ञानिकों ने योरप के अनेक देशों में शराब के औद्योगिक पहलुओं पर प्रयोग आरम्भ करके यह फल निकाला कि उसका पेट्रोल की भांति मोटर तथा अन्य अन्तरीय प्रज्वलन इंजनों में चालक शक्ति के उत्पादन के लिये उपयोग

किया जा सकता है फलतः जर्मनी पोलेन्ड तथा स्वीडेन में शराब को जलशून्य करके उसे अधिक ज्वलनशील बनाने के कई अनेक नये सफल आविष्कर हो गये। एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के के कारण प्रत्येक देश को पेट्रोल एक निर्धारित मात्रा के अनुसार मिलता है। अतः उन देशों में जो पेट्रोल के लिए दूसरे देशों पर ही निर्भर रहते हैं कोई ऐसे पदार्थ का ढूंढ़ निकालना आवश्यकीय है जो पेट्रोल का काम दे सके। इस प्रकार ये देश पेट्रोल को युद्ध आदि जैसे अधिक आवश्यक कार्य के लिए एकत्र करके सुरक्षित रख सकते हैं। पेट्रोल तो मिट्टी के तेल का ही एक प्रकार है। यह एक हाइड्रोकारबन (हाइड्रोजन तथा कारबन का रसायन) है। इसमें आक्षीजन नहीं होता। अलकोहल में आक्षीजन होता है। अतः पेट्रोल से अलकोहल (मद्यसार) अधिक प्रज्वलित होता है। यदि पेट्रोल और अलकोहल का सम्मिश्रण इंजन में प्रयुक्त हो तो इंजन के साफ रहने की अधिक संभावना रहती है क्योंकि आक्षीजन के रहने से पदार्थ अधिक सम्पूर्ण रूप से जल सकते हैं। जब कि अकेले पेट्रोल के उपयोग से उसका सम्पूर्ण रूप से जलना सम्भव नहीं होता तथा कुछ मात्रा कालिख या अन्य अवशिष्ट वस्तुओं की रह जाती है। पेट्रोल तथा मद्यसार के अलग अलग अनुपात के सम्मिश्रण को लेकर योरपीय वैज्ञानिकों ने जो मोटर चलाने के प्रयोग किए, उनसे ज्ञात हुआ कि २० प्रतिशत से लेकर ३० प्रतिशत मद्यसार की मात्रा पेट्रोल में मिला देने से सम्मिश्रण मोटर इंजन के लिए सर्वोत्तम तेल का काम करता है।

मद्यसार के उपयोग के विषय में कुछ भ्रान्तियाँ

पहिले पहल जब मोटरों में विशुद्ध पेट्रोल के स्थान पर मद्यसार का उपयोग किया जाने लगा तो लोगों ने इसके विरुद्ध निराधार ही प्रचार करना आरम्भ कर दिया। यद्यपि युद्ध के कारण पेट्रोल का उपयोग इतना अधिक होने लगा कि उसकी पूर्ति के सभी साधन निकाले जाने लगे और मद्यसार के प्रतिकूल जो प्रचार किया गया उसका अधिक असर नहीं हुआ। पेट्रोल की मांग इतनी बढ़ी कि विवश होकर लोगों को मद्यसार का उपयोग करना पड़ा। उत्तर प्रदेश में तो बहुत से स्थानों में मोटर बसें विशुद्ध मद्यसार पर चलने लगी। मद्यसार के विरुद्ध प्रचार करने के अनेक कारणों में से एक तो यह भी था कि विदेशी पूंजीपतियों को जिनका अरबों रुपया तेल कम्पनियों में लगा था अपने व्यवसाय को इस नई वस्तु के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए उपयोग से क्षति होने की आशंका थी।

मद्यसार के विषय में पहली भ्रान्ति तो यह थी कि शराब के आंशिक प्रज्वलन से एसीटिक एसिड (सिरका) के बनने की आशंका रहती है। सिरका एक अम्ल होने से इंजन के धातु को गला देगा। इस प्रकार इंजन जल्दी खराब हो जाएगा किन्तु मद्यसार के इंजन के अन्दर जलाने के भी प्रयोग हुए हैं। कभी सिरके का अंश इंजन में नहीं पाया गया। जैसा कि आगे दिए हुए एक प्रयोग से स्पष्ट हो जाएगा। मद्यसार के उपयोग से इंजन न केवल साफ ही रहता है किन्तु उसमें इतनी कम अवशिष्ट वस्तुएँ रहती हैं कि वे इंजन को कोई हानि नहीं पहुँचा सकती हैं। पेट्रोल के साथ मिलने पर वह पेट्रोल में घुली हुई बहुत सी गोंद जैसी वस्तुओं को जो अन्यथा इंजन की दीवालों पर जमा हो जाती है जला देने में सहायक होता है। पेट्रोल स्वयं एक ही पदार्थ नहीं, वह अलग अलग आपेक्षिक घनत्व के कई मिट्टी तेलों का सम्मिश्रण है। अकेले पेट्रोल के इञ्जन में उपयोग होने पर कभी कभी तो ऐसा भी हो सकता है कि उसके हलके वाले अंश पहिले वाष्पीकृत हो जाते हैं और अंतिम भारी अंश इञ्जन के चलाने में कठिनाई उपस्थित करते हैं। मद्यसार के मिश्रण से पेट्रोल के सभी अंशों का एक ही प्रज्वलन तापमान हो जाता है, जिससे उक्त दुर्गुण बहुत कम हो जाता है।

मद्यसार में जल के शोषण की बड़ी शक्ति होती है। वायु में से जल को वह सोख लेता है। औषधियों

में इसीलिए अर्कादि के निर्माण में अलकोहल का उपयोग होता है क्योंकि जल के शोषण के साथ साथ औषधि तत्व भी मद्यसार द्वारा शोषित कर लिए जाते हैं। वैसे भी मद्यसार मिश्रित औषधियों के सेवन करने पर जो गले में जलन सी पैदा होती है वह गले की खाद्य नलियों में से मद्यसार द्वारा जल के शोषित होने से उत्पन्न होती है। शराब पीने वाले भी इस दाह का अनुभव करते हैं। मद्यसार के उपयोग के विषय में इसलिए एक और शंका होने लगी कि जब हवा में बहुत नमी हो तो मोटर की टंकी में पड़ा हुआ मिश्रण हवा में से नमी को सोख लेगा इस प्रकार मद्यसार में पानी मिल जाएगा और उसकी तह पेट्रोल से अलग हो जायगी। पेट्रोल में इस प्रकार पानी मिल जाएगा जो इंजन को खराब कर देगा। इस विषय में योरोपीय वैज्ञानिकों ने विस्तृत अनुसंधान किए हैं। कौटेंट तथा नेरीलेर के अनुसन्धानों Science and Culture, vol 17, page 71-75, Aug'51 के फल स्वरूप यह सिद्ध हो गया है कि साधारण परिस्थितियों में न तो टंकी में हवा में से नमी पहुँचने की आशंका रहती है और न दोनों तह अलग अलग हो सकते हैं। इन वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों से पता लगाया कि दोनों तहों के अलग अलग होने के लिए कम से कम ४३ दिन तक उन्हें स्थिर रहना चाहिए। यह अवधि इतनी अधिक है कि इस समय तक ये दोनों द्रव जो कि बड़े उड्डयज शील हैं उड़कर समाप्त हो जाते हैं। वैसे अलकोहल (मद्यसार) का आपेक्षिक घनत्व ·७९६ है और पेट्रोल का ·७१८ के लगभग। मद्यसार पेट्रोल की अपेक्षा भारी होने से मिश्रण में नीचे की तह में बैठ सकता है पर यह तभी संभव होता है जब कि जल की कुछ मात्रा टंकी में बाहर से मिला दी जाये। हवा की नमी दोनों द्रवों को अलग अलग करने के लिए पर्याप्त नहीं होती।

साधारण मोटर इंजन पर मद्यसार का क्या प्रभाव पड़ता है इस सम्बन्ध में पोलैंड में भी विस्तृत गवेषणा हुई। पोलिश अलकोहल मोनोपोली नामक संस्था ने "क्रिसलर ·६६" नामक मोटरकार इंजन नं० २०६३६ को मद्यसार और पेट्रोल के ३० प्रतिशत ·७० प्रतिशत मिश्रण पर १२५८४ मील दौड़ाया। औसत चाल ३४·८५२ मील प्रति घंटा थी। दौड़ के उपरान्त कार के इंजन का निरीक्षण किया गया तो निम्नलिखित बातें ज्ञात हुईः—

१. पेट्रोल अथवा अभ्युचित मोटर के तेल की अपेक्षा इस बार इंजन के दबाव प्रकोष्ठ (कम्प्रेशन चेम्बर) तथा पिस्टन में कालिख कम जमा हुई थी।

२. इंस्युलेटर, स्पार्किंग प्लग तथा वाल्व बिलकुल साफ थे। वाल्वों में घिसाई अथवा पुरानेपन का सा प्रभाव अपेक्षाकृत कम हुआ था।

३. किसी प्रकार का मोर्चा या किसी तेजाब का सा प्रभाव बेलनों (सिलेन्डरों) दीवालों पर नहीं हुआ था।

जहाँ तक मोर्चा लगने या बेलन (सिलेन्डर) के अन्दर तेजाब के से प्रभाव का संबंध है स्वीडन के प्रोफेसर हुवेनडिक के प्रयोग उल्लेखनीय हैं। उन्होंने २५ प्रतिशत मद्यसार तथा ७५ प्रतिशत पेट्रोल को लेकर प्रयोग किए और सिद्ध किया कि "इस प्रकार के मिश्रण से इंजन की शक्ति बढ़ जाती है। तेल कम व्यय होता है। चिकनाहट के लिए प्रयुक्त होने वाले तेल, लुब्रिकेशन की भी मात्रा कम उपयोग करनी पड़ती है। जाड़े के दिनों में भी इंजन को चलाने में कठिनाई नहीं होती। ऐसिटक ऐसिड (सिरके) जैसे तेजाब इंजन में कभी भी नहीं बनते पाए जाते।"

हुवेन डेक नामक वैज्ञानिक ने एक और भ्रान्ति का कि पेट्रोल पर चलने वाले इंजन में उसे मद्यसार से चलाने के पहिले परिवर्त्तन की आवश्यकता पड़ती है निवारण कर दिया है। उनका कहना है यदि मिश्रण में मद्यसार की मात्रा २५ प्रतिशत से कम हो तो इंजन में किसी प्रकार के बदलाव या परिवर्त्तन की आवश्यकता पड़ ही नहीं सकती। उलटे इस मिश्रण के उपयोग से मोटर का झटक देना, जिसे अंग्रेजी में 'नाकिंग" कहते हैं कम हो जाता है और उसकी क्षमता बढ़ जाती है।

मोटर का झटका देना या "नाकिंग"

इंजन के अन्दर पेट्रोल की गैस एक विशेष दबाव तक तो धीरे धीरे जली है अर्थात् ५० मील ७० फीट प्रति सेकन्ड की गति से। जब दबाव की मात्रा बढ़ जाती है तो यह गैस एकाएक विस्फोटित हो जाती है। इस विस्फोट से धातु पर चोट पड़ने का शब्द होता है, जिसे नाकिंग या झटका देना कहते हैं। इस प्रक्रिया के कारण इंजन के अन्दर एकाएक तापमान बढ़ जाता है और गैस के सम्पर्क में आए हुए इंजन के अवयवों पर बुरा प्रभाव पड़ता है जिससे उनकी क्षति हो जाती है अथवा वे कमजोर पड़ जाते हैं। वही पेट्रोल अच्छा समझा जाता है जिसमें नाकिंग कम हो। तथा इंजनों का निर्माण भी इस प्रकार किया जाता है कि उन पर नाकिंग का प्रभाव कम से कम हो। पेट्रोल के नाकिंग दबाव का अध्ययन करके यह बात ज्ञात हुई है कि उसका दबाव अनुपात जब ५ से अधिक होने लगता है तब वह झटका देने लगता है। अतः इंजन इसी दबाव-अनुपात के अनुसार बनते हैं। इंजनों में नाकिंग को रोकने के लिए पेट्रोल में कुछ रसायन भी मिला दिये जाते हैं इनमें टेटराइथाजल लेड नामक वस्तु प्रमुख है। किन्तु यह एक घातक विष है जिसका निर्माण तथा उपयोग दोनों आपदपूर्ण है। मद्यसार, बेनजील, टौलवीन, हेक्सेन तथा हेप्टेन भी नाकिंग के अवरोधक हैं किन्तु मद्यसार इन सबसे निरापद और अधिक प्रभावशाली है।

मद्यसार तथा पेट्रोल की तापशक्ति

पेट्रोल की तापशक्ति जल उठने से उत्पन्न शक्ति मद्यसार की तापशक्ति से अधिक है अर्थात् पेट्रोल कम मात्रा में जलकर भी उतनी शक्ति उत्पन्न कर सकता है जितनी मद्यसार कुछ अधिक मात्रा में जलकर उत्पन्न कर पाएगा। पर इसका अर्थ यह नहीं कि मद्यसार से मोटर की प्रति गैलन चलने की दूरी में कमी हो जायगी। वास्तव में, जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है पेट्रोल इंजन में पूर्ण रूप से जल पाता ही नहीं। अतः उसकी पूर्ण ताप शक्ति का उपयोग हो ही नहीं पाता। यदि जितनी तापशक्ति उसमें है उसका अनुपात उसकी उपयोग में आने वाली शक्ति से किया जाय तो वह मद्यसार की उपयोगी शक्ति के अनुपात से बहुत कम आएगा। क्योंकि मद्यसार इंजन में अधिक पूर्ण रूप से जलता है। साथ ही यदि मद्यसार की पूरी तापशक्ति का उपयोग करना हो तो इंजन अधिक दबाव के बनाए जा सकते हैं जो केवल पेट्रोल से चलने वाले आधुनिक इंजनों से अधिक कार्यक्षम होंगे।

आरम्भिक कठिनाइयाँ

जो मोटरकारें पर्याप्त समय से विशुद्ध पेट्रोल पर चल रही हों उनको एकाएक मद्यसार पर चलाने पर दो एक दिन तक कुछ कठिनाइयाँ होती हैं जिनके कारण बहुत साधारण हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है :—

१—पेट्रोल में जो गोंद जैसी वस्तुओं का अंश होता है वह इंजन के अन्दर जमा होता रहता है क्योंकि यह अंश, जलनशील न होने से गैस का रूप धारण नहीं कर सकता। इसी प्रकार और भी कुछ प्रकार के रसायन, मोर्चा या और कूड़ा करकट इंजन के आन्तरिक अवयवों में चिपके रहते हैं। मद्यसार एक घुलनशील पदार्थ होने से इन रसायनों को धो देता है। इनमें से कुछ मद्यसार में घुलकर जल भी उठते हैं जिसके कारण कारब्यूरेटर का सग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। एक बार मद्यसार के मिश्रण के उपयोग होने पर फिर इंजन की सफाई कर लेना इसीलिए आवश्यक है। इस सफाई के उपरान्त तो मद्यसार के उपयोग से इंजन पहिले की अपेक्षा अधिक साफ रहेगा और बार बार सफाई की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

२—मद्यसार का रबर पर भी प्रभाव पड़ता है। रबड़ में गन्धक मिला होता है जो अलकोहल के संयोग से फूल सा जाता है। इसलिए इंजन के वे अवयव, डाइफ्राम का वाशर या कार्ब्यूरेटर तक तेल पहुँचाने की नली यदि रबर की बनी हो तो वे फूल

सी जायगी, जिससे पेट्रोल के आने अथवा इंजन के चलने में कठिनाई हो जायगी। अब बहुत सी मोटर गाड़ियों में ये अवयव प्लास्टिक के बने होते हैं जिससे उन पर मद्यसार का प्रभाव न हो सके। लैंगनाइट नामक एक ऐसा प्लास्टिक अविष्कृत हो भी चुका है जो रबर की भाँति उपयोग में लाया जा सकता है तथा जिस पर अलकोहल का प्रभाव नहीं पड़ता।

३—कभी कभी यदि मद्यसार को इंजन में डालने में सावधानी न बरती जाए तो उसके इंजन के ऊपर रंगे हुए भाग पर गिर पड़ने से रंग कुछ मंद हो जाता है; क्योंकि रंग के बनाने में लाक्षादि जैसी जिन वस्तुओं का उपयोग होता है वे मद्यसार में घुलनशील हैं। अतः रंग या वार्निश मोटर के आवेष्टन पर हो तो मद्यसार के गिरते ही उसे पानी से धो देना चाहिए। मद्यसार पानी में घुलनशील होने से तत्काल घुल जाने से रंग पर प्रभाव न डाल सकेगा।

मोटर के चलाने में मद्यसार का उपयोग भारत में ही नहीं योरप के अनेक देशों में भी होता है। जर्मनी, फ्रान्स, इटली, लिथूनियाँ तथा जैकोस्लोवीक्या में तो इसका पेट्रोल में मिलाया जाना वैधानिक रूप से अनिवार्य कर दिया गया है। किसी किसी देश में तो साधारण पेट्रोल की अपेक्षा अलकोहल मिश्रित पेट्रोल अधिक लोकप्रिय है। लोग उसके लिए अधिक दाम देना पसन्द करते हैं क्योंकि विशुद्ध पेट्रोल से वह कुछ मंहगा है। जिस प्रकार चीनी के उद्योग में शीरे के उपभोग की समस्या भारत में उत्पन्न हो गई थी उसी प्रकार नार्वे तथा स्वीडन में कागज के उद्योग से उत्पन्न कूड़े के उपयोग की समस्या थी, अब इस कूड़े से भी मद्यसार बनने लगा है जो चालक शक्ति के उत्पादन में प्रयुक्त होता है। दक्षिण अमेरिका के कतिपय देशों में जिनमें ब्राजील भी एक है मद्यसार का भारत की ही भाँति उपयोग होता है। राष्ट्र संघ के तत्वावधान में तो दक्षिण-पूर्व एशिया के आर्थिक आयोग के कार्य-क्रम में इस उद्योग को प्रगति देना भी सम्मिलित है। इस संस्था के तत्वावधान में एक वैज्ञानिक प्रशिक्षण केन्द्र गत अक्टूबर नवम्बर में लखनऊ में हुआ था जिसमें अमेरिका स्वीडन फ्रान्स आदि देशों के वैज्ञानिकों ने अपने अपने देशों की इस उद्योग से सम्बन्धित नवीनतम गवेषणाओं पर व्याख्यान दिए। कम उन्नत देशों में जावा, फीलीपाइन्स, कोरिया, वियटनाम, चीन, पाकिस्तान आदि देशों के प्रतिनिधि भी इस प्रशिक्षण में सम्मिलित हुए अमेरिकन तथ स्वीडिस दक्षप्रज्ञों ने भारत के सभी मद्यसार के कारखानों का निरीक्षण करके उनके सुधार के लिए सुझाव दिए थे। भारत में पेट्रोल बहुत कम उत्पन्न होता है। जब कि उसकी पेट्रोल की माँग मोटर सड़कों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए निर्माण से प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही है। इस समय प्रतिवर्ष लगभग १६ करोड़ गैलन पेट्रोल भारत में उपयोग होता है। अतः मद्यसार उद्योग का भविष्य उज्वल है। चीनी के उद्योग के कारण शीरा तो भारत में पर्याप्त मात्रा में मिल ही जाता है। यदि समूचे भारत में पेट्रोल में मद्यसार का मिलाया जाना अनिवार्य कर दिया जाए तो लगभग ४ करोड़ गैलन मद्यसार तो प्रतिवर्ष भारत में ही उपयुक्त हो सकता है। इस प्रकार मदिरा भी भारत के लिए अभिशाप न बनकर एक बरदान बनने लगी है।

अमरकंटक में बाक्साइट

[श्री पुष्कर सिंह, बी० एस-सी० (आनर्स), एम० एस-सी० लखनऊ विश्वविद्यालय]

अमरकंटक विन्ध्य प्रदेश में एक पहाड़ी स्थान है। गत दिसम्बर १९५२ में मैंने अपने कुछ सहपाठियों के साथ अमरकंटक की यात्रा की थी। यह स्थान हिन्दुओं का तीर्थ-स्थान है तथा पवित्र नर्मदा और सोनभद्र का भी उद्गम स्थान है। अमरकंटक जाने के लिये कटनी से बिलासपुर जाने वाली रेलवे लाइन में पेन्ड्रा रोड स्टेशन पर उतरना पड़ता है। यहाँ से अमरकंटक जाने के लिये दो रास्ते हैं। एक सीधे पगडंडी रास्ते से जो पकरिया नामक गाँव को पार करते हुए १४ मील का रास्ता है तथा दूसरी पक्की सड़क घुमावदार रास्ते से किंवचीं नामक गाँव को पार करते हुए २८ मील दूर है। अमरकंटक की जन संख्या करीब १५० है। यहाँ के आदि-वासी बैगा कहलाते हैं जो पहाड़ पर जमीन काटकर खेती करते हैं। यहाँ पर कोई कारखाना न होने के कारण गरीबी छाई हुई है। यहाँ पर बहुत से चौरस स्थान हैं जिन्हें अलग अलग नाम से पुकारा जाता है जैसे कपिलासगम, अरण्डीसगम, जमुनादादर, कबीर चबूतरा इत्यादि। ये नाम अधिकतर महार्षियों के नाम पर हैं। इन चौरस मैदानों में बाक्साइट नामक खनिज बहुतायत में पाया जाता है। इस खनिज से अलुमीनियम धातु निकाली जाती है। अमरकंटक में करीब ७५ प्रतिशत मकान बाक्साइट के बने हैं। ये ईंट घनवर्धनीय तथा ठोस होते हैं।

अलुमीनियम धातु की माँग दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। द्वितीय महायुद्ध में भारत ने अपनी खनिज सम्पति का अधिकांश भाग अमेरिका को बेंच डाला। अमेरिका को भी सस्ते तथा सुगम तरीके से बाक्साइट मिलने के कारण युद्ध में श्रेय मिला। अलुमीनियम के हल्का होने के कारण तथा इससे पतले से पतले तार खींचे जाने के गुण के कारण इसे बिजली के तार के उपयोग में लाया जाता है। आजकल तो इसने ताँबे की जगह पूर्ण रूप से ले ली है। ताँबे के तार वजनी होते हैं। उनका बोझ संभालने के लिये अधिक खम्भे की आवश्यकता पड़ती है परन्तु अलुमीनियम के तार हल्के होते हैं, जिससे कम खम्भे से काम चल जाता है। इस धातु से बर्तन, ट्रे तथा अन्य घरेलू इस्तमाल की वस्तुएँ भी बनाई जाती हैं। हवाई जहाज के पंखे, कोंच या गद्दी, रेल के डिब्बे तथा मोटरगाड़ी की इंजिन भी अलुमीनियम से बनाया जाता है। द्वितीय महायुद्ध में अलुमीनियम फायल ने इलेक्ट्रानिक युद्ध में सहायता की। जर्मनी के तेजोन्वेष या रैडर डिटेक्शन को नीचा दिखाने के लिये अलुमीनियम फायल को "रैडर-विरोधी" के काम में लाया गया।

इसके सिवाय इसके धातु संकर की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। डूरेलूमिन या स्थिरस्फ धातुसंकर में ४ प्रतिशत ताँबा, एक प्रतिशत मेगनीशियम और मेगनीज या लोहक तथा ९५ प्रतिशत अलुमीनियम रहता है। इसे हम ढालने, तार खींचने और परत बनाने के काम में लाते हैं। इसी तरह अलुमीनियम ब्रौंज में ४ से ८ प्रतिशत अलुमीनियम तथा शेष ताँबा होता है। ८ प्रतिशत अलुमीनियम वाले धातुसंकर का रंग पीला होता है। इस धातुसंकर से मेडल या तमगा, ट्रे, सिगरेट रखने के डिब्बे, चद्दर आदि बनाई जाती हैं। मन्दिर के सुनहले दरवाजे, मंडप आदि भी बहुधा इसी के बने होते हैं।

इस धातु से खाद्य की समस्या भी हल की जा सकती है। लोगों के दिल में दुर्भिक्ष तथा खाद्य के अभाव ने अमिट छाप बना रखी है। इसे सुलझाने के लिये हम बाक्साइट को अलुमीनियम सल्फेट में परिवर्तित कर सकते हैं। इनके उपरांत इसे हम पानी साफ करने के लिये फिटकिरी के रूप में तथा पेट्रोल और मिट्टी तेल छानने के लिये फिलर (filler) के रूप में उपयोग में लाते हैं।

भारत में बहुतायत में बाक्साइट पाये जाने के उपरान्त भी धातु-निसार एक समस्या है। अलुमीनियम

धातु के निसार के लिये विद्युत-शक्ति की आवश्यकता होती है जिसकी भारत में कमी है। एक टन अलुमीनियम निकालने के लिये २१,००० किलोवाट प्रति घंटा विद्युत-शक्ति की जरूरत पड़ती है। यदि इसकी जगह कोयला उपयोग में लाया जाय तो जितना कोयला एक टन लोहा बनाने में लगता है, उसका बीस गुना कोयला एक टन अलुमीनियम बनाने में लगता है। यही कारण है कि जबलपुर में अब तक एक लाख रुपये की अलुमीनियम निकालने वाली मशीन गोदाम में पड़ी सड़ रही है।

सन १८२१ में यह धातु सबसे पहले फ्रांस में आर्ल्स के नजदीक ले बक्स (Les Baux) नामक जगह से प्राप्त हुई जिससे कि इस खनिज का नाम-संस्कार 'बाक्साइट' पड़ा। भारत में सबसे पहले सर थामस हालेन्ड ने सन् ११०३ में बाक्साइट का उल्लेख किया है। यह खनिज स्फोद जारिज (Gibbsite) और स्फजलिज (Diaspore) नामक धातुओं का मिश्रण है। इसकी रासायनिक बनावट अलुमीनियम हाइड्राक्साइड, लौह-ओषिद तथा सिलिकन या बालू है। इनके साथ साथ इनमें कुछ अन्य धातु जैसे टाइटेनियम डाइआक्साइड तथा रंजारिज (Rutile) भी शामिल रहते हैं। एक आदर्श बाक्साइट की रासायनिक बनावट को हम इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं:—

५५—६५ प्रतिशत अलुमीनियम ट्राय आक्साइड
२ –१० प्रतिशत सैकिज
१—३ प्रतिशत टाइटेनियम डाइआक्साइड
१०—३० प्रतिशत पानी

इसका रंग सफेद, मटमैला, भूरा या पीला होता है। इसका कठिन्यांश २.५—६ तक है तथा इसका घनत्व २.५—३.२ है। बाक्साइट कई रूप में पाये जाते हैं:—

(१) कलायाश्मिक या पिसोलिटिक:—जिसमें कि करीब १ से० मी० गोल केन्द्रक होता है जिसके चारों तरफ इसका जमाव होता है।

(२) स्पंज खनिज—जिसमें स्पंज के समान बहुत से छेद होते हैं जो कि अपनी मूल शिला की झलक दिखाता है तथा:—

(३) अनियत या चूर्ण खनिज—यह धूल के समान चूर्ण होता है।

सर सोरिल एस० फाक्स ने दो प्रकार के बाक्साइट का वर्णन किया है—

(१) भूमध्यसागरीय या मेडिटरेनियन प्रकार—इसके अन्तर्गत स्पेन, फ्रांस, इटली, युगोस्लेविया और रूमानियां के बाक्साइट आते हैं। इसमें करीब १४ प्रतिशत पानी का अंश होता है।

(२) भारतीय प्रकार—इसके अन्तर्गत अमेरिका, अफ्रिका, भारत और आस्ट्रेलिया के बाक्साइट आते हैं। यह बाक्साइट भूमध्यसागरीय बाक्साइट से भिन्न प्रकार का होता है तथा इसमें २२ से ३० प्रतिशत पानी की मात्रा होती है। इसमें करीब ५४ अलुमीना होता है।

बाक्साइट की उत्पत्तिः—बाक्साइट अलुमीनियम सैकित शैल से खंडन मंडन तथा विदारण क्रिया से बनता है। यह भिन्न भिन्न जगह भिन्न भिन्न प्रकार से बनते देखा गया है। जैसे:—

(अ) फ्रांस के ले बक्स नामक जगह में यह उष्ण झरने के प्रवाह से बना है।

(आ) कोल (Cole) के अनुसार बाक्साइट, वाहाश्म या रायोलाइट या रायोलाइट राख से बना है। उनके अनुसार लावा या भूराल पर अम्ल वाष्प के प्रभाव से बाक्साइट बना है। इसे शुवाष्पीक क्रिया कहते हैं।

(इ) सर थामस हालेन्ड के अनुसार सूक्ष्म कीटाणुओं ने बाक्साइट में लौह प्रतिशत की मात्रा को निश्चित किया।

(ई) डबलू जी० वूलनफ (W. G. Woolnough) के अनुसार लौह-घोल गर्मी में तारतम्य क्रिया के द्वारा ऊपरी धरातल पर लौह ओषिद को जमा करता है।

(उ) कुछ विद्वानों का कथन है कि बाक्सीटाइजेशन

या बाक्साइट जनन और लेटराइजेशन या लेटराइट-जनन उसी समय हो सकता है जब कि मूल शिला, धरातल जल तथा वातावरण के सम्पर्क में रहे। जे० एम० केम्बेल ने प्रयोग के द्वारा यह सिद्ध किया है कि जब मूलशिला धरातल जल के सम्पर्क में नहीं रहती है तब बाक्साइट का बनना बन्द हो जाता है। इसी क्रिया के अनुसार उन्होंने कहा है कि बरसात में बाक्साइट-जनन की क्रिया होती रहती है परन्तु गर्मी में बन्द हो जाती है तथा उनके ऊपर स्पंज के समान असंख्य छिद्र हो जाते हैं।

(ऊ) सर सीरिल एस० फाक्स का विचार है कि अतोय-जल पृथ्वी तल से नीचे की ओर जाते समय एक निश्चित प्रवाह शुरू करता है जो ऊपर की ओर आने वाली लौह-ओषिद की घोल तथा नीचे जाने वाली सैकित घोल से सम्बन्ध रखता है। इसमें एक क्रिया शुरू हो जाती है जिसे केटाफोरेसिस (Cataphoresis) कहते हैं। इस क्रिया में अलुमीना, शेल से अलग होकर रोधक का काम करता है।

प्रकृति में बाक्साइट बनने की विधिः—

बाक्साट, हिन्दुस्तान में हर जगह बसाल्ट के ऊपर मिलता है। इससे लोगों का मत है कि बाक्साइट बसाल्ट के खंडन-मंडन से ही बना है जिसकी निम्नलिखित विधियाँ हैंः—

(१) पहले मौसमी आवहवा के कारण बसाल्ट का खंडन होता है जिससे कि बसाल्ट, फेल्सपार या रफनीय, केओलिन या प्रमृद्, क्षार सैकिज और सिलिका में परिणत होता है। फेरोमेगनीसियम धातु पहले क्लोराइट में और फिर लौह ओषिद में परिणत होता है।

(२) इसमें से सीलिका प्रायः नत्राम्ल, सूक्ष्म कीटाणु या सोडियम कार्बोनेट के द्वारा अलग होता है। क्षार सैकिज बहते हुए पानी के साथ घुल कर अलग होता है तथा फेल्सपार प्रमृद् में बदल जाता है। इसे हम प्रमृदी भवन क्रिया कहते हैं। फिर इसके बाद बाक्साइट जनन तथा लेटराइट जनन क्रिया होती है।

अमरकंटक में बाक्साइट की तह करीब ३ फीट मोटी है। कहीं-कहीं पर चार या पांच फीट मोटी तह भी मिलती है। अमरकंटक में कुल बाक्साइट का औसत क्षेत्रफल ८ वर्ग मील है। किसी खनिज को उद्योग रूप में इस्तमाल करने के पहले उसका कुल जमाव देखा जाता है। इसके लिये ट्रायल पिट्स (गड्ढे) बनाने की जरूरत पड़ती है। ये गड्ढे करीब ३ × २ × १ फीट के मान के होने चाहिये। करीब आध वर्गमील में ८० गड्ढे होने चाहिये तथा हर एक गड्ढा करीब १०० गज की दूरी पर चौकोर तरीके से बनाना चाहिये। एक वर्गमील में जिसकी मुटाई एक फीट हो करीब १० लाख टन बाक्साट निकल सकता है इसी तरह ८ वगमील में जिसकी मुटाई ३ फीट हो करीब २४० लाख टन बाक्साइट प्राप्त हो सकता है। यदि हम हर साल एक लाख टन बाक्साइट निकालें तो करीब २४० साल तक बाक्साइट की खदान चल सकती है। अमरकंटक पहाड़ी जगह होने से बाक्साइट को ढोने में असुविधा होगी। इसे हल करने के लिये दो तरीके सुझाये जा सकते हैं—

(१) इसे मोटर लारी या ट्रक से ढोया जा सकता है। यह पूंजीपति के ऊपर निर्भर होगा कि वह कितने ट्रक चलावे तथा उसके चलाने में क्या खर्च पड़ेगा। इसका लेखा सुझाव रूप में नीचे दिया जाता है।

(२) रेहन्ड बांध से बिजली उत्पन्न कर अमरकंटक लाया जा सकता है जिससे कि आकाशीय-तार-सड़क (Aerial Rope Way) लगाई जा सकती है। चूंकि इसमें अधिक लागत की जरूरत पड़ेगी लोग कहेंगें कि न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी लेकिन यहाँ विद्युत रूपी तेल से राधा रूपी अलुमीनियम को नचाना असंभव नहीं है। इसे केन्द्रीय सरकार की सहायता से करोड़पति आसामी कार्य सम्पन्न करने में समर्थ हो सकता है।

बाक्साइट खोदने तथा ढुलाई के लिये सुझावः—

पेंड्रा रोड स्टेशन से अमरकंटक १४ मील है परन्तु मोटर सड़क से जाने में २८ मील का चक्कर

लगाना पड़ता है। बीच में केंवची नामक कसबा पड़ता है। यहाँ से १४ मील पेंड्रा रोड स्टेशन की तरफ ढाल है। इस ढाल से मोटर लारी को उतरने में सुविधा पड़ेगी। केंवची के बाद अमरकंटक तक सीधा रास्ता है। अमरकंटक से आते समय ट्रक भरी रहेगी लेकिन ढाल अधिक होने से पेट्रोल कम खर्च होगा और लारी ढाल की वजह से नीचे उतर आयेगी। एक ट्रक जिसका वजन ३ टन हो उसमें करीब ११० मन या ४ टन बाक्साइट भरा जा सकता है तथा एक दिन में एक ट्रक दो चक्कर लगा सकती है। इस तरह से ट्रक को करीब ११२ मील चलना पड़ेगा। ट्रक के भरने तथा खाली करने के लिये मजदूरों की जरूरत पड़ेगी। कुल खर्च का जमा हिसाब विवरण सहित नीचे दिया जाता है :—

एक दिन में करीब ८ टन बाक्साइट अमरकंटक से पेंड्रा लाया जायगा। चार चक्कर में कुल ११२ मील दूरी होगी जिसमें से करीब १४ मील ढाल होने के कारण ट्रक बिना पेट्रोल खर्च किये ही चलाई जा सकती है जिससे कुल दूरी ८४ मील ही पेट्रोल से चलेगी।

ढुलाई का खर्च

	रु०	आ०	पाई
८ गैलन पेट्रोल, २॥) प्रति गैलन की दर से	२०	०	०
मोबील आयल	५	०	०
१ ड्राइवर तथा १ कनडक्टर	६	०	०
ट्यूब टायर	१०	०	०
दुर्घटना जनक खर्च	७	०	०
मजदूर खर्च	४	०	०
	५२	०	०

याने १ रोज में ८ टन बाक्साइट के लिये करीब ५२) खर्च होगा :—

∴ १ टन बाक्साइड ५२/८=६॥) कीमत पेंड्रा रोड में होगा।

खरीदने का खर्च

वे ढोंके जो ऊपर पड़े हैं उन्हें ट्रक में भरने के लिये ॥) प्रति टन का खर्च होगा तथा जो करीब २ या ३ फीट खोदकर भरे जायेंगे उसके लिये करीब १॥) प्रति टन खर्च होगा।

कुल खर्च

	रु०	आ०	पाई
रायल्टी प्रति टन	०	६	०
मजदूर खर्च	३	०	०
ढुलाई खर्च	६	८	०
लागत पर व्याज तथा अन्य खर्च	२	२	०
	१२	०	०

साल भर में दो ट्रक करीब ४००० टन बाक्साइट ढो सकती है (क्योंकि बरसात के कारण ट्रक न चल सकेगी)। वर्तमान समय में बाक्साइट की कीमत १६) प्रति टन है। इस हिसाब से ४) प्रति टन लाभ होता है और साल भर में करीब १६०००) लाभ होगा।

लागत खर्च

	रु०	आ०	पाई
२ लारी की कीमत	२०,०००	०	०
सड़क मरम्मत	२०००	०	०
लागत खर्च	८०००	०	०
	३०,०००	२	०

३०,००० में करीब १६००० सालाना लाभ याने ५३ प्रतिशत लाभ होगा।

आकाशीय तार सड़क

आकाशीय तार सड़क जमुना दादर में लगाना होगा। यहाँ से केंवची सीधे रास्ते पर (Crow fly distance) २ मील पड़ेगा। केंवची समुद्र सतह से १६०० फीट ऊँचाई पर है। सारे दादर का बाक्साइट ट्राली के द्वारा एक जगह इकट्ठा किया जा सकेगा। इस तरह के इन्तजाम से करीब ६०,००० टन बाक्साइट सालाना ढो सकेगा क्योंकि बरसात में कोई असुविधा

नहीं होगी। इतने बड़े बृहन् रूप में कारखाना बनाने के लिये अधिक पूंजी की जरूरत होगी। रोजाना करीब २५ टन अलुमीनियम निष्कासन के लिये १०० टन बाक्साइट की जरूरत पड़ेगी। यदि हम ३०० दिन काम करते हैं तो करीब ३०,००० बाक्साइट की सालाना खपत होगी। इसके साथ ही हमें ७५०० टन अलुमीनियम सालाना मिलेगा तथा इनके साथ अन्य सहायक धंधे भी चलाये जा सकेंगे।

इस विधि से केंवची से पेंड्रारोड १४ मील दूर होगा और १ ट्रक एक दिन में चार चक्कर लगा सकती है याने कुल ११२ मील चलना पड़ेगा।

ढुलाई का खर्च

	रु०	आ०	पा०
० गैलन पेट्रोल की कीमत	२५	०	०
मोबील आयल	५	०	०
१ ड्राइवर तथा १ कनडक्टर	६	०	०
ट्यूब टायर	१०	०	०
दुर्घटना जनक खर्च	१०	०	०
मजदूर खर्च	८	०	०
	६४	०	०

इस तरह १६ टन को ढोने में ६४) खर्च होंगे याने १ टन को ढोने में ४) खर्च होगा।

कुल खर्च

	रु०	आ०	पा०
रायल्टी प्रति-टन	०	६	०
ढुलाई खर्च	४	०	०
खोदने का खर्च	३	०	०
दुर्घटना जनक खर्च	२	१०	०
	१०	०	०

इसे आप १६) फी टन के हिसाब से बेच सकते हैं।

लागत खर्च

	रु० आ० पा०
आकाशी-तार-खर्च	१ लाख ५० हजार
२ ट्रक की कीमत	२० हजार
लागत खर्च	१ लाख
व्याज तथा अन्य खर्च	३० हजार
	३ लाख रुपया

व्याज तथा अन्य खर्च

इतने लागत में करीब ६० प्रतिशत लाभ हो सकता है। इसमें रेलवे लाइन लगाकर सुगम बनाया जा सकता है।

भाषा का क्रमिक विकास

[श्री सत्यनारायण प्रसाद]

मनुष्य में मन की अवस्था सबसे विकसित है। जहाँ और प्राणी सहज क्रियाओं और मूल प्रवृत्तियों से काम लेते हैं वहाँ मनुष्य बुद्धि से काम लेता है। जहाँ दूसरे प्राणी प्रयत्न और भूल के नियम से कोई बात सीखते हैं, मनुष्य विचार और कल्पना से नई बात सीखता है। उसके विचार करने की शक्ति के कारण उसे जीवन में उतनी भूलें नहीं करनी पड़तीं जितनी दूसरे प्राणियों को करनी पड़ती हैं। संसार के बड़े अनुसन्धान और अद्भुत खोजें इत्यादि तर्कना, एवं विचारशक्ति पर ही निर्भर है। और यह तर्कना विचार तथा कल्पना शक्ति मनुष्य को "शब्द प्रयोग" तथा "नाम" की खोज से प्राप्त हुई हैं। यह शक्ति दूसरे जीवधारियों को प्राप्त नहीं है।

भाषा मनुष्य को दूसरे प्राणियों से पृथक करती है; परन्तु जन्तु जगत में प्राप्त उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य जीवधारी भी भाषा का प्रयोग करते हैं, अर्थात वे अपने मानसिक विचारों को "शब्दों" द्वारा व्यक्त करते हैं। यही है भाषा का प्राथमिक रूप। संसार में बहुत ऐसे जीवधारी हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रकार की आवाज भिन्न २ भाषाओं को व्यक्त करने के लिए उत्पन्न करते हैं। उदाहरणार्थ बन्दर अपने विचारों को अनोखी चेष्टा, निराले संकेत, तथा ध्वनि द्वारा प्रकट करता है। इन्हीं चेष्टाओं तथा संकेतों को देखकर दूसरे बन्दर उत्तेजित हो उठते हैं। हम भी उनके संकेतों को बिना आपत्ति के समझ सकते हैं और इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं कि वे भी हमारे संकेतों को उतनी ही सरलता से समझ लेते हैं। परागुई में एक बन्दर पाया जाता है जिसे 'सेव्स अजरे" कहते हैं। वह उत्तेजित होने पर छः भिन्न भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ पैदा करता है, जिससे दूसरे बन्दर सफलता पूर्वक उत्तेजित हो जाते हैं।

भावावेश की व्यंजना

प्राप्त वृतान्तों के अनुसार जंगली कुत्ते अपनी भावनाओं को कई प्रकार की आवाजों से व्यक्त करते थे। परन्तु पालतू कुत्ते के भोंकने की 'कला' नई है, उसका उत्सुकता से भोंकना पृथक होता है, जैसा आखेट के समय देखा जा सकता है और क्रोध से गुरराना पृथक। निराश कुत्ता तीव्रता से भौंकता है और रात में निराले ढंग से चिल्लाता है। प्रसन्नता से जब कुत्ता स्वामी के सम्मुख दुम हिलाकर किलोलें करता है, तो भिन्न प्रकार से आवाज पैदा करता है। और जब भूख पीड़ित होकर खाना माँगता है, तो बिल्कुल भिन्न ढंग से।

गाय को ही देखिए, बच्चे को पुकारने के लिए बेचैन होकर बिल्कुल निराले ढंग से रंभाती है और भूख में दूसरे ढंग से। बकरी भेड़, इत्यादि के पालने वाले इस बात का समर्थन करेंगे कि वे जीवधारी अपने संकेतों और स्वर द्वारा बड़ी सरलता से अपनी सारी "कथा" सुना दिया करते हैं। कुछ अनुभवी लोगों का तो मत है कि पालतू मुर्गी लगभग बारह पृथक ढंग की आवाज करती है।

परन्तु संयुक्त तथा स्पष्ट भाषा का व्यावहारिक प्रयोग मनुष्य की ही विलक्षणता है। भाषा के ही कारण उसने जन्तु जगत में यह महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया है। परन्तु भाषा के अतिरिक्त अन्य जन्तु सम्बन्धियों की भांति वह भी अपनी मूल-भावनाओं को चेष्टा तथा संकेतों द्वारा व्यक्त करता है। यह विशेष कर उन सहज प्रवृत्तियों के लिए सत्य है जो

सारे जन्तु जगत् में व्याप्त हैं। और जिसका मनुष्य की विकसित बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं। इनमें भय, क्रोध, आश्चर्य, घृणा, करुणा, कामुकता स्नेह (वात्सल्य) इत्यादि प्रमुख हैं। दर्द से पीड़ित मनुष्य की पुकार आश्चर्य अथवा क्रोध इत्यादि का प्रकटीकरण तथा उनसे सम्बद्ध संवेग जन्तुओं में भी उतने ही महत्वपूर्ण है।

बहुत से जीवधारी व्यावहारिक भाषा भी समझते हैं। घोड़े, कुत्ते, बकरी इत्यादि सभी साधारणतः मालिक की व्यावहारिक भाषा के संकेतानुसार उठते बैठते हैं। भालू को ही देखिए, किस तरह मदारी की भाषा समझने लगता है। ऐसे भी जन्तु अनेक हैं जो विशेष ध्वनि विशेष प्रतिक्रिया से सम्बन्धित कर लेते हैं। कुछ चिड़ियाँ तो शब्दोच्चारण करने में कुशल हो जाती हैं—उदाहरणार्थ मैना, तोता इत्यादि। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मनुष्य जन्तुओं से अधिक विकसित इसलिए नहीं कि वह बोल सकता अथवा दूसरे जानवरों की बोली समझ सकता है, बल्कि इसलिए है कि उसमें वह शक्ति है, जिससे भिन्न-भिन्न ध्वनियों तथा संकेतों को सम्बद्ध करके विचार उत्पन्न कर सकता है और इन्हीं विचारों की सहायता से उसने 'शब्द' अथवा 'नाम' इत्यादि की खोज की है, जो भाषा के विशेष आधार हैं।

भाषा की समानता

भाषा को सीखने के लिए मनुष्य में जन्मजात प्रेरणा होती है लेकिन उसे पूर्ण रूपेण आन्तरिक शक्ति भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि लोगों को उसे सीखना पड़ता है। परन्तु जहाँ तक भाषा के उद्गार तथा विकास का सम्बन्ध है, यह निश्चय है कि भाषा का विकास धीरे धीरे कई सीढ़ियों से अनजाने ही जन्मजात भावनाओं को व्यक्त करने के लिए पैदा की गई साधारण ध्वनियों से हुआ है।

भाषा की निष्कपट समानता चिड़ियों द्वारा पैदा की गई ध्वनियों में मिलती है। एक जाति की सभी चिड़ियाँ सदा ही अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों को एक ही ढंग से एक ही प्रकार की ध्वनियों द्वारा व्यक्त करती हैं। गाने वाली चिड़ियाँ अपनी आन्तरिक शक्ति की प्रेरणा से गाती हैं, परन्तु गाने तथा उनकी ध्वनि वह अपने माता पिता अथवा प्रतिपोषक से प्राप्त करती हैं। उनके गाने का प्रथम प्रयास नन्हे बच्चों के शैशववत् बड़बड़ाने के प्रथम प्रयास की भाँति माना जा सकता है। डेन्स वैरिंगटन का विचार है ये ध्वनियाँ भाषा से अधिक प्राकृतिक नहीं हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि किसी एक जाति की चिड़िया के बच्चों को दूसरी जाति के उपमाता-पिता पालते हैं। ऐसी अवस्था में ये बच्चे अपने दूसरी जाति वाले प्रतिपोषक के ही गाने सीख लेते हैं। बड़े होने पर इन्हीं ध्वनियों को वे अपने बच्चों को भी सिखलाती हैं। वैरिंग्टन महाशय का मत है कि चिड़ियों में प्रान्तीय प्रभाव भी देखा जाता है। भिन्न भिन्न प्रदेशों में रहने वाली चिड़ियों की ध्वनि तथा गाने भी भिन्न होते हैं। इसे उन्होंने "प्रान्तीय भाषा" के नाम से पुकारा है।

अनुकरण की प्रधानता

ऊपर लिखा जा चुका है कि भाषा का जन्म अन्य जन्तुओं की अथवा स्वंय मनुष्य की सहज प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करते समय उत्पन्न हुई ध्वनियों के अनुकरण से हुआ है। सम्भवतः पुरातन मनुष्य, अथवा उसके किसी निकट पूर्व वंशज ने पहले पहल अपनी आवाज का प्रयोग संगीतमय ध्वनि उपार्जन करने के लिए किया होगा। जन्तु जगत में प्रचलित उदाहरणों से सावधानी पूर्वक यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस प्रकार संगीतमय ध्वनि का जन्म प्रेमोद्गार स्वरूप हुआ होगा। अपने प्रतिद्वन्दी पर विजय पाने के लिए यह आवश्यक है कि नर ईर्ष्या, हर्ष, अथवा प्रेम व्यक्त करे। ऐसे बहुत से उदाहरण प्राप्त हो चुके हैं जिनसे पता चलता है कि 'युवावस्था' प्राप्त नर

'युवती' को लुभाने के लिए नाना प्रकार के रंगों की छटा बिखेरते हैं। नृत्य करते हैं और सुन्दर गीत गाते हैं। हो सकता है कि ऐसी ही संगीतमयी ध्वनियों का अनुकरण करते समय पैदा हुई ध्वनि के लगातार प्रयोग ने सहज ही एक ऐसी 'ध्वनि' को जन्म दे दिया हो, जो इस भावना को व्यक्त करने के लिए 'शब्द' बन गया। मान लीजिए कि किसी बन्दर ने एक ऐसी नर चिड़िया को प्रेम करते देखा, जो अपनी 'प्रियतमा' को एक विशेष ध्वनि के गाने से लुभाने का प्रयत्न कर रहा था। गाना आकर्षक तथा प्रभावशील था। फिर क्या था, अपना अवसर आते ही उसने वही ढंग और वही ध्वनि अपनी 'प्रेमिका' को लुभाने के लिए प्रयोग किया। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि अनुकरण करना ही भाषा को जन्म देने वाली शक्ति विशेष है और यह तो साधारण ज्ञान की बात है कि अनुकरण करना जन्तु स्वभाव में बसा है—बन्दर को ही देखिए, कैसा हर बात की नकल करता है।

सभी जानते हैं कि बीज को देखकर चिड़िया चहचहा पड़ती है। इस प्रकार उतावली होकर वे अपने साथियों को सावधान करती हैं कि शत्रु आ गया। हो सकता है कि किसी बन्दर अथवा मनुष्य के अन्य पूर्वज ने किसी चिड़िया को इसी चिड़िया को इसी प्रकार सावधान करते देखा और अपनी आवश्यकता के समय उसका अनुकरण किया हो। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुकरण करने की ही शक्ति भाषा का आधार है। आधुनिक शब्दशास्त्री भी इस विचार से सहमत हैं। सर रिचार्ड पेगैट की अनुमति है कि इसी शक्ति की सहायता से बड़े-बड़े अन्वेषक नए-नए देशों की खोज कर के वहाँ के निवासियों से संकेतों द्वारा "बात" करने में सफल हुए। और इसीलिए वे इस शक्ति (अनुकरण शक्ति) को भाषा के विकास की प्रमुख सीढ़ी मानते हैं।

सांकेतिक भाषा

भाषा की प्रकृति के प्रथम गंभीर अन्वेषक, डी० कैम्पलन ने सन् १७९१ में कहा था कि सांकेतिक भाषा को पूर्ण रूपेण बात-चीत की भाषा की भांति बनाया जा सकता है जिसमें प्रत्येक संकेत चिन्ह एक शब्द के समान हो. सब से प्रचलित सांकेतिक भाषा जन्मजात अशिक्षित बहरे की मूक भाषा होती है। वह वक्ता के मुँह का आकार तथा चेष्टा देख कर ही तमाम बातें समझ लेता है और स्वंय अपने मुँह की चेष्टा तथा हाथ के संकेतों द्वारा अपनी बातें भी कह डालता है।

सांकेतिक भाषा अभी हाल तक उत्तरी अमरीका के रेड इन्डियन प्रयोग करते थे। अनुमान लगाया जाता है कि इनकी शब्दावली लगभग एक हजार संकेतों की थी। अन्य जंगली जातियों के उदाहरण भी प्राप्त हैं, जो आखेट और अपनी जाति सम्बन्धी उत्सवों में सांकेतिक मूक भाषा का प्रयोग करती थीं। कुछ मध्यकालीन वैरागी वर्ग भी ऐसे थे जो अपने अनुयाइयों को बोलने की आज्ञा नहीं देते थे। वे भी सदा संकेतों द्वारा बात किया करते थे। कहा जाता है कि रूसी अरमीनियाँ के निवासी सांकेतिक भाषा का अनोखा प्रयोग करते थे। वहाँ के जातीय रिवाज के अनुसार स्त्रियों को पुरुषों से बात करना मना था। वे स्वंय अपने पुत्र से आठ वर्ष की अवस्था के बाद बात नहीं कर सकती थीं। इसलिए औरतें सांकेतिक मूक भाषा का प्रयोग करती थीं और पुरुष साधारण भाषा में उनसे बात करते थे।

हाथ और मुंह का सम्बन्ध

जब बच्चे लिखना सीखते हैं तो वे अपने हाथ के साथ अपनी जीभ को भी एक निराले ढंग से चलाते हैं। चार्ल्स डारविन ने इस बात का उल्लेख सबसे पहिले किया था। दर्जी को ही देखिए कैंची से कपड़ा काटते समय उसका जबड़ा अपने आप हाथ की गति से लयमय होकर चलता है। यह सिद्ध करता है कि हाथों की गति ओठों और जीभ की गति से सम्बन्धित है। इसलिए निःसन्देह आदि मनुष्य अथवा निकटवर्ती पूर्वज ज्यों ही हाथ की गति द्वारा

अपनी भावना को व्यक्त करने का प्रयत्न करते होंगे, उनके ओंठ और जीभ अनजाने ही हाथ की गति के साथ-चल पड़ते होंगे इसके बाद उन्होंने चाहा कि लोग सहज ही उनकी ओर आकृष्ट भी हो जाएँ; इसलिए हाथों तथा ओठों की गति के साथ ध्वनि भी करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार बोल-चाल की भाषा की भांति किसी विशेष भावना को व्यक्त करने की ध्वनि का जन्म हुआ।

होनोलूलू के डाक्टर जे० राय के मतानुसार पोली-नेशियन भाषा ने अन्य भाषाओं को जन्म दिया है। इन्होंने सन् १८६२ में पूरी तौर से इस भाषा का वर्णन किया है। इनका कथन है कि अविकसित 'शब्द' केवल पूर्ण क्रिया को व्यक्त करते थे और साथ ही साथ ओठ जीभ तथा मुँह उस क्रिया तथा उससे सम्बन्धित वस्तुओं के आकार इत्यादि के अनुकरण करने का प्रयत्न करते थे। किसी अस्त्र से जोर से काटने की क्रिया के संकेत को 'का' ध्वनि से सम्बन्धित किया गया है। और यही कारण है कि 'का" शब्द का अर्थ काटना कई भाषाओं में है। ऐसी क्रियाओं की ध्वनि के उच्चारण पर ही प्रायः शब्दों का निर्माण होता था। डाक्टर राय ने यह भी साफ साफ कहा है कि पोलोनेशियन भाषा में मुँह की चेष्टा विशेष रूप से मूक भाषा सम्बन्धी है और किसी किसी सम्बन्ध में ओठ अँगुलियों की गति का अनुकरण करता है।

मस्तिष्क का विकास

प्रोफेसर मैक्स मुलर ने इस बात पर काफी जोर डाला है कि "भाषा" में सामान्य विचार की शक्ति है, जो अन्य जन्तुओं में नहीं पाई जाती। यह मनुष्य की मानसिक शक्ति के विकास का कारण है। इसलिए और इसी बात के अतिरिक्त भाषा का लगातार प्रयोग और मस्तिष्क के विकास का भाषा के विकास से बड़ा सम्बन्ध है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि बोल-चाल की भाषा के न्यून विकास होने के पूर्व ही मनुष्य के किसी पूर्वज की मानसिक शक्ति औरों से अधिक विकसित हो गई होगी। और फिर लगातार प्रयोग से भाषा की अपूर्ण शक्ति का मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ा होगा। तदुपरान्त जिस विलक्षणता से मानव-मन का विकास हुआ, भाषा का भी होता गया; और ज्यों ज्यों भाषा का विकास होता गया, मनुष्य जीवन में विचार की प्रधानता होती गई। तत्पश्चात् उसकी विचारजन्य क्रियाओं में भी विलक्षणता आने लगी, जिससे वह अपने जन्तु सम्बन्धियों से आगे बढ़ता गया।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि मानसिक शक्ति के विकास के कारण मनुष्य अपने देखने, विचार करने, अथवा विचारों को व्यक्त करने के स्वाभाविक अंगों से आगे बढ़ सका है। प्रोफेसर पिथागैर का कथन है कि मनुष्य की प्राकृतिक विचार शक्ति बच्चों में पाई जाती है। वह पृथक पृथक वस्तुओं को पृथक पृथक नहीं देखते और न उन पर अलग-अलग वर्णन अथवा विचार कर सकते हैं, वरन् उनको सम्पूर्ण घटनाओं की इकाई के रूप में देखते हैं और इस इकाई के रूप में ही उनका वर्णन करते हैं अथवा उन पर विचार कर सकते हैं। वास्तव में वयस्क भी एक वस्तु को एक बार में नहीं देख सकता; परन्तु अपने अर्जित मानसिक गुण के अभ्यास से उसकी आदत पड़ गई है, जिससे वह तमाम वस्तुओं को एक साथ देखते हुए भी अनदेखा कर देता है। वह केवल वही देखता है जिसे वह चाहता है और वह सफलता-पूर्वक उसके पड़ोस के वातावरण को भुला देता है। प्रत्येक ऐसी वस्तु को उसने कोई विशेष नाम अथवा चिन्ह दे दिया है। फिर वह मानसिक विकास से प्राप्त शक्ति से इन सब चिन्हों को एकत्र करके एक नया रूप प्रदान करता है। यही है मनुष्य का विलक्षण अनुसन्धान जिसने भाषा को जन्म देकर उसे जन्तु जगत में माननीय स्थान प्रदान किया।

विज्ञान समाचार

बी० सी० जी० की कहानी

सम्भवतः किसी दूसरे मानवीय कार्य-कलाप ने इतनी अधिक संख्या में लोगों को लाभ नहीं पहुँचाया जितना बी० सी० जी० के टीके लगाने के आन्दोलन ने। यह आन्दोलन संसार के सबसे भयंकर रोग यक्ष्मा के विरुद्ध यूरोप, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका और एशिया के देशों में आरम्भ किया गया है।

बी० सी० जी० की कहानी १९०८ में लिले फ्रांस से शुरू होती है जहाँ डा० एल्बर्ट कैल्मेट और डा एल्फोंजे ग्यूरिन ने यक्ष्मा के रोगाणु के विषय में, जिसके कारण यह रोग बढ़ता है, प्रयोग आरम्भ किये। १३ वर्ष की लम्बी अवधि तक प्रयोग करने के बाद कैल्मेट और ग्यूरिन ने इस रोगाणु का एक तत्व (स्ट्रेन) तैयार किया। इसको जब पशुओं पर प्रयुक्त किया गया तो उनको कोई हानि नहीं हुई, बल्कि उनमें ऐसी निरोध-शक्ति पैदा हो गयी जिससे यक्ष्मा के रोगाणुओं की पूरी जहरीली खुराक दिये जाने पर भी उनके स्वास्थ्य की किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँची। प्रयोग सफल होने पर इस तत्व का नाम इसके आविष्कर्ताओं—कैल्मेट और ग्यूरिन के नाम पर "बोसिलस कैल्मेट ग्यूरिन" रखा गया जिसे संक्षेप में "बी० सी० जी०" कहते हैं।

आरम्भ

इन प्रयोगों में बहुत वर्ष लगे और पहले विश्व युद्ध में डा० कैल्मेट को अपना यह मूल्यवान तत्व सबसे पहले पेरिस और फिर पेस्टियर इंस्टिट्यूट, सेगोन, हिन्द चीन ले जाना पड़ा। किन्तु अंत में वैज्ञानिक यह घोषणा करने में सफल हुए कि बी० सी० जी० मनुष्य के लिये निरापद है। दूसरे विश्व युद्ध से त्रस्त और पोषणहीनता से दुर्बल हुए यूरोपियनों में यक्ष्मा रोग की वृद्धि होने से वैज्ञानिकों ने बी० सी० जी के टीके को अपनाया ताकि बच्चों को इस रोग से बचाया जा सके। तब तक बी० सी० जी० के प्रभाव तथा गुण और उसका उपयोग करने की सर्वोत्तम विधियों के सम्बन्ध में अध्ययन और छानबीन का काम पूरा हो चुका था। पहले स्कैंडिनेविया में डाक्टरों ने जनसंख्या के उन वर्गों के टीके लगाने का काम किया जिन्हें रोग होने का भय था। उन डाक्टरों की आशायें पूरी हुईं; जिन लोगों को टीके लगाये गये उनमें रोग के प्रकोप और मृत्यु का प्रतिशत ६० से ७० तक कम हो गया।

ज्यों ज्यों यूरोप के उन युद्ध-त्रस्त देशों के आंकड़े मिलने लगे, जहाँ कोई निरोधात्मक कार्रवाई नहीं की जा सकती थी, यह पता लगने लगा कि बड़े बड़े क्षेत्रों में यक्ष्मा रोग भीषण रूप से फैला हुआ है। इससे भी बुरी बात यह थी कि अधिकतर युवावस्था के लोग ही इस रोग के शिकार होते थे इस स्थिति का सामना करने के लिए डेनिश रेड क्रास और डेनिश राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा ने सबसे अधिक प्रभावित क्षेत्रों में बी० सी० जी० के टीके लगाने का एक आन्दोलन आरम्भ किया। सितम्बर, १९४६ से डेनिश डाक्टरी दल यूगोस्लाविया में इस काम में जुट गये।

'यूनीसेफ़" की सहायता

शीघ्र ही संयुक्त राष्ट्र संघ के अंतर्राष्ट्रीय बाल कोष (यूनीसेफ ने यूरोप में इसकी जांच की और टीके लगाने के कार्यक्रम के लिये २० लाख डालर की पहली रकम की व्यवस्था की और विश्व स्वास्थ्य

संगठन, डेनिश सरकार तथा रेड क्रास, और नार्वे तथा स्वीडन की सेवा समितियों के सहयोग से एक अंतर्राष्ट्रीय यक्ष्मा आंदोलन का सूत्रपात हुआ। विश्व स्वास्थ्य संठन के विशेषज्ञों ने बी० सी० जी० औषध और उसके इस्तेमाल के अंतर्राष्ट्रीय मान निर्धारित कर दिये। अब तक इस आंदोलन पर ४३,००,००० डालर का अंतर्राष्ट्रीय धन लग चुका है।

शीघ्र ही आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, फिनलैंड, ग्रीस, हंगरी, इटली, माल्टा और पोलैंड से और बाद में अल्जीरिया, मोरक्को, टेंजीयर्स ट्यूनिशिया में जनता को बी० सी० जी० के टीके लगाने का आंदोलन शुरू किया गया। कुछ समय बाद ही इक्वेडर और मैक्सिको में और अंत में १९४९ में, श्री लंका और भारत में भी बी० सी० जी० अंतर्राष्ट्रीय दलों ने अपना काम आरम्भ कर दिया।

"ट्यूबरकुलिन टेस्ट"

बहुत से लोग, विशेषकर २० वर्ष की अवस्था से अधिक से लोग, इस रोग के हल्के आक्रमण से मुक्त होने के बाद रोग के प्रभाव से बचने की शक्ति प्राप्त कर चुके हैं और सम्भवतः उन्होंने ऐसा कभी अनुभव नहीं किया कि वे इस रोग के शिकार हो चुके थे। रोग के प्रभाव से बचने की इस प्रकार की शक्ति वाले लोगों का पता 'ट्यूबरकुलिन टेस्ट" के द्वारा लगाया जाता है। बी० सी० जी० का टीका लगाने से पहले हर व्यक्ति की पहले इस प्रकार की जांच की जाती है और जिनमें यक्ष्मा होने का भय नहीं पाया जाता उनको टीके की आवश्यकता नहीं होती और जिनमें ऐसा होने का भय होता है उनके बी० सी० जी० के टीके लगा दिये जाते हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के एक विशेषज्ञ के शब्दों में "करोड़ों टीकों से यह सिद्ध हो गया है कि बी० सी० जी० बिल्कुल निरापद है क्योंकि वेक्सीन कमजोर किये गये ऐसे रोगाणुओं के तत्व से बनती है जो यक्ष्मा रोग पैदा करने में असमर्थ होते हैं, यद्यपि उनमें रोग से रक्षा करने की पूरी शक्ति विद्यमान रहती है। आज मानव शरीर को यक्ष्मा के प्रभाव से मुक्त करने का केवल एक ही तरीका है और वह है बी० सी० जी० का टीका।"

भारत में बी० सी० जी० आन्दोलन

हमारे देश में प्रति मिनट एक व्यक्ति यक्ष्मा की भेंट चढ़ता है और पाँच रोगग्रस्त होकर अशक्त हो जाते हैं। इस भयंकर रोग से बचने का एक प्रभावशाली उपाय है बी० सी० जी० का टीका। दूसरे उपाय, यदि वे प्रभावशाली हों भी तो महंगे इतने हैं कि देश की समस्त वित्तीय शक्ति को चाट जाएँगे। सारे देश में बी० सी० जी० दिवस मनाया गया। आशा है कि इससे बी० सी० जी० आन्दोलन को बहुत प्रोत्साहन मिलेगा।

भारत के यक्ष्मा-विरोधी संघर्ष के इतिहास में १९४८ का साल बड़े महत्व का है। उसी साल अगस्त के महीने में केन्द्रीय स्वास्थय मंत्रिणी राजकुमारी अमृत कौर ने मद्रास राज्य के मदनपल्ली नामक स्थान पर बी० सी० जी० के टीके के आन्दोलन का श्रीगणेश किया था। फरवरी १९४९ में मद्रास नगर में यह आन्दोलन शुरू हुआ और अब यह सारे देश में फैल चुका है। यदि टीके लगाने का कार्य स्कूल में पढ़ने वाले बालकों तक ही सीमित रहता तो युवकों की बहुसंख्या जो विशेष रूप से यक्ष्मा की शिकार बनती है इससे वंचित रह जाती। इसलिए बाद में यह निश्चय किया गया कि टीके न केवल स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों वरन् सब युवकों को लगाये जाय।

विराट आन्दोलन

प्रारम्भ में टीके लगाने का कार्य नगरों और कस्बों में ही किया गया पर बाद में गांवों तक इसका विस्तार कर दिया गया। अप्रैल, १९५१ में विशाल पैमाने पर यह कार्य पंजाब, उत्तर प्रदेश और मध्य-

भारत इन तीन राज्यों में ही शुरू किया गया था पर अब धीरे धीरे अन्य राज्यों में भी फैलता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रीय बाल संकट कोष और विश्व स्वास्थय संगठन इस विशाल आन्दोलन में सहयोग दे रहे हैं। दिसम्बर, १९५० के अंत तक १ करोड़ ३१ लाख लोगों की यक्ष्मा परीक्षा की जा चुकी थी और ४२ लाख को बी० सी० जी० का टीका लगाया जा चुका था।

बी० सी० जी० भारत में ही बनती है

आजकल बी० सी० जी० के टीके की दवा और परीक्षा के लिए पहले लगाई जाने वाली दवा 'किंग इंस्टिट्यूट गिंडी' (मद्रास) में बनती है। यहाँ की बी० सी० जी० प्रयोगशाला केन्द्रीय सरकार ने बनवाई है और कोपेने हेगन के स्टेट सीरम इंस्टिट्यूट के शिक्षा प्राप्त विशेषज्ञ यहाँ काम कर रहे हैं। इस प्रयोगशाला में फरवरी, १९४९ से औषध बननी आरम्भ हुई और आज यह इस औषध के संसार के सबसे बड़े उत्पादन केन्द्रों में हैं यहाँ प्रतिमास दस लाख खुराकों से अधिक टीके लगाने की औषध और यक्ष्मा परीक्षा के काम आने वाले घोल की जाती हैं। बी० सी० जी० एक प्राणयुक्त टीका है और इसके बनाने में अत्यंत सावधानी की आवश्यकता होती है। धूलरहित और समशीतोषण (एयर-कंडीशंड) कमरों में, जिनमें दुहरी खिड़कियाँ और दरवाजे होते हैं, जीवाणु-हीन करने वाले अल्ट्रा-वायलेट लैम्पों के प्रकाश में यह औषध बनाई जाती है। इन कमरों में काम करने वालों को रोगाणुनाशक द्रव से भरी एक परात में खड़े होकर अपने जूतों को तर करके भीतर प्रवेश करना होता है। बनने के दस दिन के अन्दर ही औषध का प्रयोग हो जाना चाहिये, इस कारण इसे विशेष प्रकार की पेटियों में बर्फ में रखकर विमानों द्वारा भेजा जाता है। कई बार रास्ते में हवाई अडडों पर और बर्फ भरने की आवश्यकता पड़ जाती है। राज्य सरकारों को तो भारत सरकार यह औषध मुफ्त देती ही है; मलाया, लंका, बर्मा और थाईलैंड को भी ये औषधियाँ नफा लिये बिना दी जाती है।

आगे का कार्यक्रम

अनुमान है कि भारत में २० वर्ष से कम अवस्था के १७ करोड़ लोग हैं और इनमें से अधिकांश को बी० सी० जी० के टीके की आवश्यकता है। इस सारी जन संख्या को टीका लगाने के विचार से भारत सरकार ने संयुक्त राष्ट्रीय बाल संकट कोष और विश्व स्वास्थ्य संगठन से एक त्रिदलीय समझौता करके एक योजना बनाई है। सब राज्य सरकारों ने भी इस योजना को पूरा करने का वचन दिया है और केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद ने भी, जिसकी अध्यक्षा केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रिणी और राज्यों के स्वास्थ्य मंत्री जिसके सदस्य हैं जनवरी के अंतिम सप्ताह में हैदराबाद में हुए अपने प्रथम अधिवेशन में इस योजना को सर्वोपरि स्थान देने का निश्चय किया था।

उक्त समझौते के अनुसार विश्व स्वास्थ्य संगठन विभिन्न राज्यों में यह आन्दोलन शुरू करने के लिए अन्तर्राष्ट्री कर्मचारियों को नियुक्त करेगा। यूनिसेफ (सं० रा० बाल संकट कोष) परिवहन के साधन, गाड़ियां, प्रचार सज्जा और ३,८५,००० डालर के मूल्य का टीके लगाने का सामान देगा। इसके अतिरिक्त वह २,६०,००० डालर का वह सामान भी हमें देगा जो १ जुलाई, १९५१ को अन्तर्राष्ट्रीय यक्ष्मा आन्दोलन के समाप्त हो जाने पर इस कोष को मिला था। भारत सरकार तालमेल के लिए, आँकड़ों सम्बन्धी कार्य और जनता को शिक्षित करने के लिए एक केन्द्रीय बी० सी० जी० संगठन स्थापित करेगी। साथ ही एक विदेशी विशेषज्ञों का वेतन और सफर खर्च भी वही देगी और राज्यों की टीके के लिए दवाई मुफ्त बांटेगी। इस काम के लिए अन्य आवश्यक कर्मचारी राज्य सारकारों को देने होंगे और अपने क्षेत्रों में टीके लगाने के काय का प्रबंध भी उन्हीं को करना होगा।

मुख्य कार्यालय

'डिजाइनिङ्ग एण्ड ड्राइंग आफिस' इस जहाज घाट का मुख्य केन्द्र है। यह एक पहाड़ी पर स्थित है, जहाँ से सारा घाट दिखाई देता है। डिजाइनिङ्ग कार्यालय में प्रस्तावित जहाज की लम्बाई, ऊँचाई, वजन, किस्म, रफ्तार आदि का निश्चय किया जाता है। ड्राइंग कार्यालय में आवश्यक सामग्री का अनुमान लगाया जाता है और 'जनरल स्टोर्स' माल उपलब्ध करता है। अंत में, जहाज के सब भागों के निर्माण की विस्तृत योजनायें बना ली जाती हैं और क्रियान्वित करने के लिए सम्बद्ध विभागों को भेज दी जाती हैं।

डिजाइनिङ्ग और ड्राइङ्ग कार्यालय के पास ही एक बड़ा कमरा है जिसका फर्श काला है। इस काले फर्श पर प्रस्तावित जहाज का पूरा रेखा-चित्र बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त पहले जहाज का ढांचा लकड़ी का बना लिया जाता है और उसके एक-एक पुर्जे की नाप से बाद में इस्पात के पुर्जे बनाये जाते हैं। इस प्रकार इस्पात के पुर्जे ऐसे बनते हैं जो निश्चित रूप से एक-दूसरे में 'फिट' बैठते हैं और किसी भी तरह ढीले नहीं रह पाते।

'हल शाप' में इस्पात के सब पुर्जे बनते हैं। यहाँ पर हर तरह की आवश्यक भारी मशीनें लगी हुई हैं जिनसे काम लिया जाता है। पास ही एक स्थान पर पुर्जे जोड़े जाते हैं।

आठ 'बर्थ' बनाने की योजना

विशाखापत्तनम जहाज घाट में जहाज बनाने के ऐसे आठ 'बर्थ' या 'स्लिपवे' बनाने की योजना है, जहाँ अलग-अलग तरह के जहाज बनाये जाएँगे। अभी तक तीन ही बनकर तैयार हुए हैं। इनमें लगभग ५० फुट लम्बे और लगभग १४/१५,० ० टन माल ले जाने लायक जहाज बनाये जा सकते हैं। जहाजों का ऊपरी भाग बनाने के लिये ऊँचे-ऊँचे खम्भों के मचान से बने हैं और क्रेन (भारी सामान उठाने वाले यन्त्र) भी लगे हुए हैं।

'हल शाप' से जहाज के हिस्से और कल-पुर्जे लाकर 'बर्थ' में जोड़े जाते हैं। हिस्सों को योजना के अनुसार जोड़ा जाता है। इस काम के लिये बड़े साज-समान और व्यवस्था की आवश्यकता होती है। बनाते समय हर काम की बड़ी सावधानी से जांच की जाती है।

जहाज का बाहरी ढांचा बन जाने पर उसे पानी में उतार दिया जाता है। इसके बाद इसमें अंदर सब आवश्यक मशीनें, कल-पुर्जे और बिजली लगायी जाती हैं और यात्रियों के बैठने का स्थान आदि बनाया जाता है।

परीक्षा

पूरी तरह जहाज तैयार हो जाने पर उसकी परीक्षा की जाती है। यदि कोई कमी या खराबी निकलती है तो उसे दूर किया जाता है। मालिक को जहाज देने से पहले उसको कलकत्ता ले जाया जाता है और उसकी अच्छी तरह जांच की जाती है।

निर्माण-कार्य के लिए ३५ टन का चलता-फिरता क्रेन लगाया जा रहा है और निकट भविष्य में ही एक १२५ टन का स्थिर क्रेन और लगाया जायगा।

जहाज घाट को सात और जहाज बनाने के आर्डर मिले हैं, जिनमें से पांच जहाज सात-सात हजार टन के और २ आठ-आठ हजार टन के होंगे और उनमें डीजल इञ्जन लगे होंगे। निर्माण-कार्य के अतिरिक्त यहाँ पर मरम्मत का बड़ा-बड़ा काम भी होता है।

साधारणतया एक जहाज की उम्र लगभग २५ वर्ष होती है लेकिन अच्छी देख-भाल से वह ४० साल तक भी काम दे सकता है।

आवश्यक मशीनें और साज-सामान ब्रिटेन से मँगाया जाता है। इस्पात टाटा से प्राप्त होता है। लकड़ी, भारत के भीतरी भागों से और बर्मा और कनाडा से मँगाई जाती है। लगभग ६० प्रतिशत मूल्य का माल विदेशों से आता है और ४० प्रतिशत का देश में ही उपलब्ध हो जाता है।

आजकल ३,७०० से अधिक मजदूर जहाजघाट में काम करते हैं। लगभग ४० टेक्निकल अफसर हैं। कुछ कर्मचारियों को ब्रिटेन के जहाजघाट में ट्रेनिङ्ग मिली है। जहाजघाट के प्रबन्धकों ने टेक्निकल सहायता और परामर्श के लिए एक फ्रांसीसी कम्पनी से समझौता किया है।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—*विज्ञान प्रवेशिका, भाग १*—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक—ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम, एस, सी; ।=)

२—*चुम्बक*—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी; मू० ।।।=)

३—*मनोरंजन रसायन*—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी; २)

४—*सूर्य सिद्धान्त*—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८) । इस लेखक को २००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है ।

५—*वैज्ञानिक परिमाण*—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—*समीकरण मीमांसा*—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—*निर्णायक* (*डिटमिनैंट्स*—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपालकृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी; ।।।)

८—*बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित*—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—*वर्षा और वनस्पति*—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१०—*सुवर्णकारी*—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

११—*विज्ञान का रजत जयन्ती अंक*—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१२—*व्यङ्ग-चित्रण*—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम ए०; १७५ पृ०, सैकड़ों चित्र; सजिल्द २)

१३—*मिट्टी के बरतन*—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले० प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११ चित्र; सजिल्द २) (अप्राप्य)

१४—*वायुमंडल*—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०—डाक्टर के० बी० माथुर, सजिल्द, २)

१५—*लकड़ी पर पालिश*—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का ब्योरेवार वर्णन । ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन-भटनागर, एम० ए०, २१८ पृष्ठ, ३ चित्र, सजिल्द; ५) (अप्राप्य)

१६—*कलम पेवंद*—लेखक श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; २० चित्र; मालियों मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी, सजिल्द; २)

१७—*जिल्दसाजी*—इससे सभी जिल्दसाजी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम ए० सजिल्द, २)

१८—*तैरना*—तैरना सीखने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है । ले०—डा० गोरखप्रसाद, मूल्य १)

१९—*सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग*—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद । बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़ों पौधों की अचरज-भरी दुनिया सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन-कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है । सजिल्द मूल्य ६) (अप्राप्य)

२०—*वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ*—ले०—डा० संतप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२१—*खाद्य और स्वास्थ्य*—ले०—डा०—ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।)

२२—*फोटोग्राफी*—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, सजिल्द मूल्य ४)

२३—*फल संरक्षण*—फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा, जैम, जेली, शरबत, अचार, चटनी, सिरका, आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२४—*शिशु पालन*—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई । गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि का वैज्ञानिक विवेचन । मूल्य ४)

२५—*मधुमक्खी पालन*—द्वितीय संस्करण। ले० - पंडित दयाराम जुगड़ान; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों या जन-साधारण को इस पुस्तक का अधिकाँश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा, मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, सजिल्द; ३)

२६—*घरेलू डाक्टर*—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी०, घोष, एम० बी० बी० एस, डी० टी० एम० प्रोफेसर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच० डी०, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०. डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। ४० चित्र, सजिल्द, ४)

२७—*उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर*—संपादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। मूल्य ३॥)

२८—*फसल के शत्रु*—लेखक श्री शंकर राव जोशी, फसलों को नष्ट करने वाले रोगों, कीड़ों, आदि से रक्षा के सुगम उपाय। मू० ३॥)

२९—*साँपों की दुनिया*—ले० श्री रामेश वेदी, साँपों के भेद पहचान आदि का विशद वर्णन। मू० ४)

३०—*पोर्सलीन उद्योग*—ले० प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस, पोर्सलीन की वस्तुएँ, पात्र आदि बनाने का वर्णन मू० ।॥)

३१—*राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ*—भारत की राष्ट्रीय वैज्ञानिक अनुसंधानशालाओं का सचित्र परिचय। मू० २)

३२—*गर्भस्थ शिशु की कहानी*—ले० मारग्रेट शी गिल्वर्ट (अनु० प्रो० नरेन्द्र) मा की कोख में शिशु शरीर की रचना का सरल वर्णन मू० २॥)

हमारे यहाँ नीचे लिखी पुस्तकें भी मिलती हैं:—

१—*साबुन-विज्ञान*—विद्यार्थियों और व्यवसाइयों के लिये एक सरल और सुबोध पुस्तक, जिनमें साबुन तैयार करने की विभिन्न विधियाँ और नाना प्रकार के साबुन तैयार करने की रीतियां हैं, विवरण के साथ-साथ सैकड़ों के साथ-साथ अनुभूत और प्रमाणित नुसखे भी दिये गये हैं। लेखक श्री श्याम नारायण कपूर बी० एस-सी, ए० एच० बी० टी० आई०, फेलो, आयल टेक्नोलोजिस्ट एसोसिएशन मूल्य ६)

२—*भारतीय वैज्ञानिक*—१२ भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियां—ले०—श्री श्यामनारायण कपूर, सचित्र ६० पृष्ठ, सजिल्द; मूल्य ३)

३—*वैक्युमब्रेक*—ले०—श्री ओंकारनाथ शर्मा। यह पुस्तक रेलवे में काम करने वाले फिटरों इंजन-ड्राईवरों, फोरमैनों और कैरेज एग्जामिनरों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। १६० पृष्ठ ३ चित्र जिनमें कई रंगीन हैं, २)

४—*यांत्रिक चित्रकारी*—ले० ओंकारनाथ शर्मा, मूल्य २॥)

५—*विज्ञान के महारथी*—लेखक श्री जगपति चतुर्वेदी। संसार भर के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के जीवन व खोजपूर्ण कार्यों का विस्तृत वर्णन है। मूल्य २)

६—*पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ*—ले० श्री जगपति चतुर्वेदी। जितने प्रमुख भौगोलिक अन्वेषण हुए हैं उन सबका रोचक वर्णन है। मूल्य १॥)

७—*विज्ञान जगत की झाँकी*—ले० प्रो० नारायण सिंह परिहार। सामान्य ज्ञान तथा विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी पुस्तक है। मूल्य २)

८—*खोज के पथ पर*—ले० श्री शुकदेव दुबे—जान को हथेली पर रखकर दुर्गम स्थानों एवं पर्वतों के खोज करने वालों का रोमांचकारी वर्णन। मूल्य ॥)

पता—विज्ञान परिषद, प्रयाग

२५—*मधुमक्खी पालन*—द्वितीय संस्करण। ले० - पंडित दयाराम जुगड़ान; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों या जन-साधारण को इस पुस्तक का अधिकाँश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा, मधुमक्खियों की रहन-सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, सजिल्द; ३)

२६—**घरेलू डाक्टर**—लेखक और सम्पादक डाक्टर जी०, घोष, एम० बी० बी० एस, डी० टी० एम० प्रोफेसर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच० डी०, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०. डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। ४० चित्र, सजिल्द, ४)

२७—*उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर*—संपादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। मूल्य ३॥)

२८—*फसल के शत्रु*—लेखक श्री शंकर राव जोशी, फसलों को नष्ट करने वाले रोगों, कीड़ों, आदि से रक्षा के सुगम उपाय। मू० ३॥)

२९—*साँपों की दुनिया*—ले० श्री रामेश बेदी, साँपों के भेद पहचान आदि का विशद वर्णन। मू० ४)

३०—*पोर्सलीन उद्योग*—ले० प्रो० हीरेन्द नाथ बोस, पोर्सलीन की वस्तुएँ, पात्र आदि बनाने का वर्णन मू० ॥)

३१—*राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ*—भारत की राष्ट्रीय वैज्ञानिक अनुसंधानशालाओं का सचित्र परिचय। मू० २)

३२—*गर्भस्थ शिशु की कहानी*—ले० मारग्रेट शी गिल्वर्ट (अनु० प्रो० नरेन्द्र) मा की कोख में शिशु शरीर की रचना का सरल वर्णन मू० २॥)

हमारे यहाँ नीचे लिखी पुस्तकें भी मिलती हैं:—

१—*साबुन-विज्ञान*—विद्यार्थियों और व्यवसाइयों के लिये एक सरल और सुबोध पुस्तक, जिनमें साबुन तैयार करने की विभिन्न विधियाँ और नाना प्रकार के साबुन तैयार करने की रीतियां हैं, विवरण के साथ-साथ सैकड़ों के साथ-साथ अनुभूत और प्रमाणित नुसखे भी दिये गये हैं। लेखक श्री श्याम नारायण कपूर बी० एस-सी, ए० एच० बी० टी० आई०, फेलो, आयल टेक्नोलोजिस्ट एसोसिएशन मूल्य ६)

२—*भारतीय वैज्ञानिक*—१२ भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियां—ले०—श्री श्यामनारायण कपूर, सचित्र ६० पृष्ठ, सजिल्द; मूल्य ३)

३—*वैक्युमब्रेक*—ले०—श्री ओंकारनाथ शर्मा। यह पुस्तक रेलवे में काम करने वाले फिटरों इंजन-ड्राईवरों, फोरमैनों और कैरेज एग्जामिनरों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। १६० पृष्ठ ३ चित्र जिनमें कई रंगीन हैं, २)

४—*यांत्रिक चित्रकारी*—ले० ओंकारनाथ शर्मा, मूल्य २॥)

५—*विज्ञान के महारथी*—लेखक- श्री जगपति चतुर्वेदी। संसार भर के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के जीवन व खोजपूर्ण कार्यों का विस्तृत वर्णन है। मूल्य २)

६—*पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ*—ले० श्री जगपति चतुर्वेदी। जितने प्रमुख भौगोलिक अन्वेषण हुए हैं उन सबका रोचक वर्णन है। मूल्य १॥)

७—*विज्ञान जगत की झाँकी*—ले० प्रो० नारायण सिंह परिहार। सामान्य ज्ञान तथा विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी पुस्तक है। मूल्य २)

८—*खोज के पथ पर*—ले० श्री शुकदेव दुबे—जान को हथेली पर रखकर दुर्गम स्थानों एवं पर्वतों के खोज करने वालों का रोमांचकारी वर्णन। मूल्य ॥)

पता—विज्ञान परिषद, प्रयाग

साँपों की दुनियाँ

लेखक—श्री रमेश वेदी आयुर्वेदालंकार

"साँपों की दुनियाँ" श्री रामेश वेदी द्वारा रचित सर्पविज्ञान सम्बन्धी एक मौलिक रचना है। साँपों का रहन-सहन, भोजन आदतें, आकस्मिक आक्रमण से बचाव सर्प-विष के प्रकार, उसका मनुष्य एवं अन्य प्राणियों पर प्रभाव, सर्पविष चिकित्सा आदि विषयों पर लेखक ने अभी तक किये गये प्रयोगों एवं अनुसंधानों का सरल भाषा में सारांश दिया है।

भारतवर्ष में बहुतायत से पाये जाने वाले विषहीन एवं विषैले सापों का विस्तृत एवं सचित्र वर्णन भी दिया है तथा प्रत्येक जाति के सांप की शरीर-रचना, उसकी आदतें, रहन-सहन, भोजन, मनोविज्ञान इत्यादि का सुन्दर चित्र खींचा है। लेखक की भाषा रोचक है, और शैली सुन्दर। हमारे पूर्वजों का सर्प सम्बन्धी ज्ञान, प्राचीन संस्कृत साहित्य में विभिन्न जाति के सर्पों का उल्लेख, सर्पों का वर्गीकरण विषैले एवं निर्विष साँपों को पहिचान, साँपों के विष-दन्त एवं विष ग्रंथियों की रचना, सर्प-विष का मनुष्य और दूसरे प्राणियों पर प्रभाव, सर्प-विष चिकित्सा और साँपों की आर्थिक उपयोगिता इत्यादि पर लेखक ने विस्तृत प्रकाश डाला है।

"साँपों की दुनियाँ" साँपों से सम्बन्धित वैज्ञानिक अनुसन्धान, अवैज्ञानिक किम्बदन्तियाँ एवं अन्ध विश्वास, प्राचीन साहित्य में साँपों का उल्लेख एवं तत्सम्बन्धी ज्ञान का निचोड़ है। मूल्य ४)

फसल के शत्रु

लेखक—श्री० शंकरराव जोशी

बहुत से कीट मानव-समाज का अहित करते हैं, कुछ कीट इन कीटों का ही संहार कर डालते हैं तथा कुछ कीट अन्य रूप से मनुष्य का हित करते हैं। सिद्धहस्त और अनुभवी लेखक ने इस पुस्तक में उन कीटों का वर्णन किया है जो फसलों को विशेष हानि पहुँचाते हैं। वैज्ञानिक कृषि तथा व्यापारिक प्रतियोगिता के इस युग में इन जंतुओं के करतब का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य ही है। फसलें बो लेना और प्रति एकड़ पैदावार बढ़ा लेना मात्र ही कृषि व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर लेना नहीं माना जा सकता। खेत में खड़ी फसलों और बगीचे के पौधों की शत्रु से रक्षा करना तथा गोदाम में रक्खी गई पैदावार को कीड़ों और रोगों से बचा लेना भी आवश्यक है।

इस पुस्तक में फसलों, लकड़ी, कोठरी में भरे नाज, साग, तरकारी आदि सभी वस्तुओं को इन शत्रुओं से सुलभ साधनों द्वारा प्रभावोत्पादक रूप से रक्षा पा लेने की विधियाँ तथा उन शत्रु रूपी कीटों तथा रोगों की पूरी पहचान भी दी गई है। डबल फुलसकेप सोलहपेजी आकार के लगभग ३५० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ३।।)

पता—विज्ञान परिषद्, बैंक रोड, इलाहाबाद

जुलाई १९५३
वृश्चिक २०१०

भाग ७७
संख्या ४

वार्षिक मूल्य
चार रुपए

प्रति अंक
छः आने

विज्ञान के नियम

१—वार्षिक मूल्य ४) तथा प्रति अंक का ।=) है।

२—प्रतिमास प्रथम सप्ताह में विज्ञान प्रकाशित होता है।

३—ग्राहक किसी भी मास से बनते हैं।

४—वार्षिक मूल्य सदा दो एक मास पूर्व अग्रिम भेजने से ।=) वी पी. व्यय की बचत हो सकती है।

५—नमूने की प्रति माँगने पर या बिना मांगे भी ज्ञात पतों पर मुफ्त भेजी जाती है।

लेखकों से निवेदन

१—लेख किसी भी विषय के वैज्ञानिक पक्ष पर होना चाहिए।

२—लेख मनोरंजक और सुबोध होना चाहिए।

३—कागज पर एक ओर ही सुपाठ्य लिखना चाहिए।

४-चित्र सदा काली स्याही से बने होने चाहिए। हल्के या अन्यरंग में बने चित्रों का ब्लाक नहीं बन सकता।

५—लेख भेजने के दो मास पश्चात् भी न छपने पर स्मरण-पत्र अवश्य भेजें।

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ४) चार रुपया एक प्रति का ।=) छः आना।

विज्ञान

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५

भाग ७७ | वृश्चिक २०१०, जुलाई १९५३ | संख्या ४

वेद में पुष्प

डा० सत्य प्रकाश, रीडर, रसायन विभाग, प्र० वि० वि०

लौकिक संस्कृत साहित्य में फूल के लिए जितने पर्य्याय शब्दों का प्रयोग होता है, उनमें से पुष्प ही एकमात्र ऐसा शब्द है जिसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। अन्य शब्द जैसे सुमन या कुसुम वेदों में नहीं पाए जाते। फल शब्द वैदिक है, पर इसके साथ ही प्रयुक्त होने वाला शब्द फूल या फुल्ल अवैदिक है। पुष्प और फुल्ल बिलकुल पर्य्याय भी नहीं हैं। पूरा खिला फूल ही फुल्ल है। रघुवंश में पुष्प और फुल्ल शब्द एक साथ आए हैं—पुष्पं च फुल्लं नवमल्लिकायाः प्रयाति कांतिं प्रमदाजनानाम् (६।६) ऋग्वेद के प्रसिद्ध औषधि सूक्त में पुष्प का उल्लेख इस प्रकार है—

ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः (१०।९७।३)

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः (१०।९७।१५) इस प्रकार की ऋचायें फूलने-फलने वाली और न फूलने-फलने वाली ओषधियों की ओर संकेत करती हैं, अथर्ववेद में भी "पुष्पणीः प्रसूमर्तः फलिनीरफला उत (८।७।२७) आदि वचन फूलने-फलने वाली वनस्पतियों की ओर संकेत करते हैं। इस स्थल पर पूरे खिले फूल वाली औषधि तो "पुष्पवती" कहलायी, बिना खिली कलियों वाली "प्रसूमती," अपुष्पा और अफला शब्द आलंकारिक अर्थों में भी ऋग्वेद में आये हैं—वाचं शुश्रुवां अफलामपुष्पाम् (१०।७१।५) अर्थात् उसने ऐसी वाणी सुनी जो न फली न फूली। ऐसी औषधियों और वनस्पतियों को जो फूलों और फलों से लदी हों, यजुर्वेद में पुष्पवती सुपिप्पला कहा गया है—'ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः' (यजु० ११।४८)। पुष्पवतीः प्रसूवरीः वाली ऋग् की ऋचा भी यजुर्वेद में है (१२।७७), और याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः वाली ऋचा भी (१२।८९)।

ऋग् में एक स्थल पर प्राकृतिक सौन्दर्य का इस प्रकार उल्लेख है—

यः पुष्पिणीश्च प्रस्वश्च धर्मणाऽधिदाने व्यवनीरधारयः ।
यश्चासमा अजनोदिद्युतो दिव उरुरूर्वाँ अभितः सास्युक्थ्यः ॥
(२।१३।७)

अर्थात् उस रचयिता के प्रति हमारा अभिवादन हो जिसने खेतों में फूलों और बीजों से युक्त वनस्पतियाँ दीं, धर्म मार्ग पर बहने वाली सरितायें दीं और जिसने विस्तृत आकाश में अनुपम विद्युत् दी।" प्रकृति की शोभा विद्युत् युक्त मेघ, सरिताओं और फल फूलों से युक्त वनस्पतियों में

ही तो है। पुष्प युक्त दूर्वा, और कमलों से भरे हुए सरोवरों का सौन्दर्य निम्न ऋचा में कितने मोहक शब्दों में है—

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः।
ह्रदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे ॥ (१०।१४२।८)

इसी प्रकार का एक मंत्र अथर्व में भी है—

आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणीः।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥
(अथर्व० ६।१०६।१)

वैदिक साहित्य में कमल शब्द का प्रयोग नहीं है। जिसको हम आज कमल कहते हैं, उसके लिए पुण्डरीक और पुष्कर शब्द आते हैं। कमलों से युक्त सरोवर का नाम पुष्करिणी है—

यथा वातः पुष्करिणीं समिंगयति सर्वतः।
(ऋ० ५।७८।७)

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत। (ऋ० ६।१७।१३)

अथर्ववेद में जल में होने वाले कई पौधों का उल्लेख है, जिनमें से कुमुद भी एक है जो एक प्रकार का कमल ही है—

आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली।
एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्
पिन्वमाना उपत्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः (अथर्व० ४।३४।५)

आण्डीक कुमुद का अर्थ है अण्डे के आकार का कमल। कमल के सूत्रों (या कमल नालों) का नाम बिस है। इस आण्डीक कुमुद ने अपने तन्तु या बिस चारों ओर को फैला दिए हैं। शालूक, शफक और मुलाली (Nenuphar and water-lilies) भी जल में खिलने वाले फूल हैं। इस प्रकार के जल पुष्पों से युक्त पुष्करिणी का यहाँ उल्लेख है।

कमल तन्तुओं का नाम बिस है, और वह जो कमल तन्तुओं (Lotus fibres) के लिए खोदता है, उसे बिसखा कहते हैं—

इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवा रुजत् :(ऋ० ६।६१।२)

अथर्ववेद में एक स्थान पर यह मिलता है, कि जिस राष्ट्र में ब्राह्मण-पत्नी (ब्रह्म-जाया) उपेक्षिता होती है, उसके क्षेत्र में न तो कमलों का सरोवर होता है और न आण्डीक (अण्डे के आकार के कमल) होते हैं और न बिस—

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम्।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥
(अथर्व० ५। १७। १६)

यह महत्व की बात है कि वैदिक काल में कमल के लिए पंकज, कमल, अरविन्द आदि आधुनिक शब्दों का प्रयोग आरंभ नहीं होता था। कमल शब्द जो आज इतना प्रचलित और रूढ़ि है, वह सर्वथा अवैदिक है। वस्तुतः "मल" से संबंध रखने वाले अनेक प्रचलित शब्द अत्यन्त आधुनिक हैं। कहा जाता है कि "मल" शब्द प्राचीन संस्कृत साहित्य का है ही नहीं। विदेश से भारत में आयी हुई कोई जाति "मल" शब्द अपने साथ लायी। उसकी अपनी भाषा में "मल" शब्द का अर्थ "फूल" या "पुष्प" था। यह "मल" शब्द हमारे साहित्य में प्रविष्ट हो गया और इससे हमने कमल, परिमल, माला, माली, मालिन, मलिय, मालती, मल्लिक आदि अनेक शब्द बनाए। इन शब्दों में मल का अर्थ दोष, कीचड़ या मैल नहीं है, जैसा कि बहुधा समझा जाता है, प्रत्युत फूल या पुष्प है। कुछ प्रान्तों के व्यक्तियों के नाम के आगे जो "मल" शब्द लगा हुआ है वह वीभत्सता का सूचक न होकर के "फूल" का सूचक है, जैसे कन्नो मल, गूजर मल, सूरज मल आदि। यह विदेशी "मल" शब्द आज तो हमारे साहित्य में बिलकुल आत्मसात् होगया है।

पुष्पों से बनी माला के लिए वैदिक शब्द "स्रज" है—

स्रजं कृण्वानो जन्यो न शुभ्वा रेणुं रेरिहत् किरणं ददश्वान।
(ऋ० ४।३८।६)

स्रज न केवल पुष्पों की ही बनती थी, प्रत्युत निष्क या सोने की भी—

निष्कं वा घा कृणवति स्रजं वा दुहितार्दिवः
(ऋ० ८।४७।१५)

वैदिक शब्द स्रज कुछ बदल कर हिन्दी साहित्य में भी प्रविष्ट हुआ जैसे "स्रक चन्दन" के समान मानस की उक्तियाँ।

वैदिक पुष्प का उल्लेख निम्न मधु कामना से समाप्त करना उचित प्रतीत होता है—

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां
मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव,
मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां
मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो
घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम्
(अथर्व० ८।७।१२)

जिह्वापत्री (ग्लोसोप्टेरिस)

जगपति चतुर्वेदी, सहायक सम्पादक 'विज्ञान'

संसार के भौगर्भिक मानचित्र पर दृष्टिपात किया जाय तो कारबोनिफेरस काल के उत्तरार्द्ध तथा परमियन काल के पूर्वार्द्ध काल में संसार का विचित्र रूप दिखाई पड़ेगा। एक भूमध्य महासागर तेथी सागर के नाम से पुकारा जाता है, जिसे संसार के चारों ओर मध्य भाग में उन दिनों प्रसारित माना जाता है। इस भूमध्य सागर द्वारा संसार के स्थल खंड उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध रूप में विभाजित थे। कुछ वनस्पतियों के इस सागर के दोनों ओर फैलाव हो सकने से यह अनुमान होता है कि कोई स्थलीय पट्टी इन गोलार्द्धों का परस्पर सम्बन्ध कदाचित् कराती हो। इस विश्व-विभाजक तेथी सागर के दक्षिण अवस्थित भूखंडों में आज के भारत, दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया आदि को माना जा सकता है। इनका ही परस्पर सम्बद्ध कोई विशाल महादेश रहने की कल्पना की गई है, जिसे गोंडवाना महादेश नाम दिया गया है। इस गोंडवाना महादेश में कुछ विस्तृत भूखंड उपर्युक्त कालों में महा हिम-प्रसार से प्रभावित थे, जिनमें लगभग संपूर्ण भारत, संपूर्ण दक्षिणी अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका तथा लगभग संपूर्ण आस्ट्रेलिया थे। इन पर हिम-प्रसार के प्रमाणों का आज भी अवलोकन किया जा सकना संभव है। इनमें जो वनस्पति वर्ग उन दिनों प्रसारित प्राप्त हो सका है उसका नाम जिह्वापत्री या ग्लोसोप्टेरिस रक्खा गया है ग्लोसोप्टेरिस के प्रस्तरावशेष आज इन पृथक्‌पृथक् रहने वाले भूखंडों में प्राप्त होने से उन दिनों इनके स्थलीय सम्बन्ध का अनुमान होता है। भूगर्भीय दृष्टि से दक्षिणी गोलार्द्ध के तत्कालीन रूप के अध्ययन में इस जिह्वापत्री वनस्पति वर्ग का भारी महत्त्व है।

जिह्वापत्री (ग्लोसोप्टेरिस) वनस्पति के प्रस्तरावशेष दक्षिणी ध्रुव से केवल ३०० मील दूर के स्थान पर प्राप्त करने का अवसर कप्तान स्काट के सहयोगी कार्यकर्त्ताओं को अपनी शोध-यात्रा में मिला था। अतएव यह कल्पना करने का सहज ही आधार प्राप्त होता है कि दक्षिणी ध्रुव के हिमाच्छादित महादेश का पूर्व काल में दक्षिणी गोलार्द्ध के उन महादेशों से स्थल खंड द्वारा सम्बन्ध रहा होगा जिनकी चर्चा ऊपर की गई है।

उत्तरी गोलार्द्ध के देशों में (भारत को छोड़कर) वानस्पतिक प्रस्तरावशेषों का अध्ययन कर हम यह देखते हैं कि कार्बनजनक काल (कारबोनिफेरस) के वनस्पतियों का विकास धीरे-धीरे उन वनस्पतियों से ही हुआ था जिनका आरंभिक रूप हमें इसके पूर्व काल अर्थात् डेवोनियन काल की शिलाओं में प्राप्त होता है। अतएव हम इसे वानस्पतिक विकास की एक शृंखला ही कह सकते हैं। इन्हें सर्वथा एक दूसरे से असंबद्ध या पृथक् कहना उचित नहीं हो सकता; परन्तु आज के दक्षिणी गोलार्द्ध तथा भारत को सयुक्त कर प्राचीन काल के भौगर्भिक भूभाग को ऐसी शृङ्खलाबद्ध कथा प्रकट करते नहीं देखा जाता। उन सुदूर काल के निर्मित शिला-स्तरों में पूर्व काल से एक सर्वथा भिन्न अवस्था तथा रूप के वानस्पतिक प्रस्तरावशेषों को कार्बनजनक के उत्तरार्द्ध तथा परमियन काल में देखा जाता है, जिन्हें निम्न गोंडवाना काल की रचना कहा जाता है। इनकी आश्रयदाता शिलाएँ निम्न गोंडवाना शिला के नाम से ज्ञात हैं।

भौगर्भिक दृष्टि से दक्षिणी गोलार्द्ध में हम निम्न गोंडवाना काल (उत्तरार्द्ध कारबोनिफेरस तथा पूर्वार्द्ध परमियन काल) में वनस्पति जगत में जिस वर्ग के उदय से कायापलट का उदाहरण पाते हैं, उसी जिह्वापत्री (ग्लोसोप्टेरिस) वर्ग के वनस्पति का प्रस्तरावशेष उत्तरी रूस की परमियन काल की शिलाओं में अनुसंधानकर शोध-जगत में एक भारी विस्मय की बात खड़ी हो गई थी, किन्तु इस भारी अपवाद का समाधान यह अनुमान कर किया गया कि आज के उत्तरी गोलार्द्ध नाम से ज्ञात भूखंडों में (भारत को छोड़ कर) कहीं भी इस ग्लोसोप्टेरिस नाम के

वर्ग का वानस्पतिक प्रस्तरावशेष किसी भी युग की शिला में न प्राप्त होने का कारण केवल यह हो सकता है कि किसी प्रकार उत्तरी रूस तक ही दक्षिणी-गोलार्द्ध का सम्बन्ध रहने का अवसर प्राप्त हुआ होगा, अतएव दक्षिणी गोलार्द्ध के विशेष वनस्पति वर्ग की पहुँच काल-चक्र से उत्तरी रूस में हो सकी होगी।

जिह्वापत्री या ग्लोसोप्टेरिस वनस्पति वर्ग का नाम एक विशेष प्रकार की पत्तियों के आकार के नाम पर पड़ा है। इस वर्ग का भी उन पत्तियों के प्रस्तरावशेषों के नाम पर जिह्वापत्री (ग्लोसोप्टेरिस) नाम पड़ गया है। इनकी विद्यमानता जिन क्षेत्रों में पाई गई है वहाँ देखा जाता है कि उनके नीचे की शिला ऐसे प्रस्तरखंडों या ढोंकों से बनी पाई जाती है जिन्हें हिमनदों के प्रवाह ने मर्दित कर विशेष रूप प्रदान किया हो। अतएव जिह्वापत्री वनस्पतियों के प्रस्तरावशेषों को सुलभ करने वाली शिलाओं के नीचे हिम-मर्दित शिलाखंडों युक्त स्तरों की स्थिति हमें पूर्वकाल की रचना का क्रम प्रकट कर दिखाती है। विश्व भर की शिलाओं के कालक्रम संकलन का कार्य बड़ा ही कठिन है, परन्तु विद्वानों का यह अनुमान ठीक जान पड़ता है कि पूर्वार्द्ध कार्बनजनककाल तक इन हिमनदों की वीभत्स-लीला का युग रहा होगा जो भौगर्भिक दक्षिणी गोलार्द्ध की ही विशेष घटना बड़े ही व्यापक क्षेत्र में प्रमाणित होती है। यह कांड गोंडवाना शिला की पूर्वपीठिका स्थापति करने वाला माना जा सकता है।

स्वेस नाम के विद्वान ने लिखा है कि उत्तरी गोलार्द्ध के कोयला स्तरों के निर्माणकाल के पश्चात् दक्षिण में 'एक विशाल महादेश की स्थिति हमारे सम्मुख प्रकट होती है तथा कार्बनजनक काल की समाप्ति के पश्चात् यह अधिक दिनों तक भूतल की प्रमुख रूपरेखा गोंडवाना महादेश रूप में रहता है।'

इस महादेश में कार्बनजनक काल के आरंभिक वनस्पतियों में प्रमुख वनस्पतियों के प्रस्तरावशेष आस्ट्रेलिया के तटवर्ती भागों में समुद्री तलछटीय शिला में प्राप्त होते हैं। ये वनस्पति उत्तरी गोलार्द्ध के पूर्वार्द्ध कारबोनिफेरस काल के अनुरूप ही हैं। इस प्रकार हम दोनों गोलार्द्धों में उस युग में वनस्पतियों के साम्य का ही उदाहरण प्राप्त करते हैं, परन्तु धरातल के उलट-फेर ने इस परिस्थिति में घोर परिवर्तन किया। धरती के स्थल खंड पर जल खंड के प्रसार का दृश्य आस्ट्रेलिया में देखने को मिला। फिर इन परिवर्तनों से ही किसी प्रकार विशाल हिमनदों के प्रसार का दृश्य आस्ट्रेलिया तथा उसी प्रकार की स्थिति के उन अन्य देशों में भी उपस्थित हुआ जो भौगर्भिक दक्षिणी गोलार्द्ध में अवस्थित थे। आस्ट्रेलिया की भाँति दक्षिणी अमेरिका के आर्जेंटाइना में भी हमें इस घोर परिवर्तन के पूर्वकाल की शिला में उत्तरी गोलार्द्ध के तत्कालीन प्राचीन वनस्पतियों के समान प्रस्तरावशेष प्राप्त हो सके हैं; परन्तु दक्षिणी अफ्रीका में हमें ऐसे प्रमाण कहीं प्राप्त नहीं हो सके हैं। निम्नकारबोनिफेरस काल के सर्वव्यापी वनस्पति भारतवर्ष में अपने प्रस्तरावशेष का क्षीण प्रमाण उपस्थित कर सके हैं। इस प्रकार हिमनदों के प्रसार वाले युग की गोंडवाना कालीन घटना के पूर्व हमें वनस्पतियों के समान रूपों का विश्व भर में प्रसार होने का प्रमाण यथेष्ट रूप में प्राप्त हो सका है। इनमें कुछ जलवायु तथा अक्षांश के अन्तर से कुछ थोड़ी-बहुत विभिन्नता दिखाई पड़ सकती है, परन्तु सर्वथा पृथक वर्ग या जाति ही प्रकट करने वाले वनस्पतियों के प्रस्तरावशेष उन दिनों के नहीं प्राप्त होते जिनको उत्तरी या दक्षिणी गोलार्द्धों में से किसी एक की ही सम्पत्ति कहना संभव हो। इन वनस्पतियों से सर्वथा विभिन्न स्थिति के द्योतक वनस्पति दक्षिणी गोलार्द्ध के वानस्पतिक इतिहास की विशेष कहानी ही हैं।

गोंडवाना काल या कार्बनजनक तथा परमियन काल के तुषार युग को भौगर्भिक इतिहास में एक भारी घटना माना जाता है, जिसका प्रसार भौगर्भिक दक्षिणी गोलार्द्ध में हो सका। भारत भी इस घटना चक्र के प्रभाव में था अतएव भौगर्भिक या वानस्पतिक इतिहास में उत्तरी गोलार्द्ध से पृथक् ही उसकी स्थिति दिखाई पड़ती है। विद्वानों का मत है कि इस तुषारपात का प्रारम्भ कदाचित् आस्ट्रेलिया के कुछ भागों में भारतवर्ष या अफ्रीका से पूर्व ही हुआ। यह संभव ज्ञात होता है कि उत्तुंग हिम-शिखरों का प्रादुर्भाव विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न समयों में हुआ हो। इस तुषार या हिमनद प्रसार युग की घटना को संक्षेप में गोंडवाना हिमयुग कह सकते हैं।

गोंडवाना हिमयुग के पश्चात् जो शिलाएँ भूगर्भीय दक्षिणी गोलार्द्ध में निर्मित मिलती हैं, उनमें जहाँ-तहाँ उन पूर्व रूप के वनस्पतियों के प्रस्तरावशेष भी अवश्य मिल जाया करते हैं जिनका प्रसार उत्तरी गोलार्द्ध में पूर्व काल में भी था तथा पश्चात्काल में भी हो सका अर्थात् जो विशेष रूप से उत्तरी गोलार्द्ध की देन कहे या माने जाते हैं, परन्तु इन्हें अपवाद ही कहा जा सकता है। बहुसंख्यक वानस्पतिक प्रस्तरावशेष तो गोंडवाना हिम युग के पश्चात् की शिलाओं में सभी दक्षिणी गोलार्द्ध में उन वर्गों के ही हैं जिनको जिह्वापत्री या ग्लोसोप्टेरिस कहा जाता है। इनमें ग्लोसोप्टेरिस, गंगमोप्टेरिस तथा शिजोन्योरा नामक वानस्पतिक वंश प्रसिद्ध हैं।

वनस्पति जगत के ऐसे उलट-फेर का पुष्ट प्रमाण आस्ट्रेलिया में न्यू साउथवेल्स के भूखंड में प्राप्त होता है। हंटर नदी के अंचल में यह कथा सुरक्षित सी मिलती है। इन शिलाक्रमों के निम्न या आधार रूप में बरंडी श्रृङ्खला है जो समुद्री तलछटीय रचना है। उसमें उत्तरी गोलार्द्ध के वनस्पति वर्गों में लेपिडोडेंड्रन के तने जलवाही रूप में पहुँचे मिलते हैं। उन प्रस्तरावशेषों से हम उस काल में भूमि पर उत्तरी गोलार्द्ध के समरूप वनस्पतियों का उगना अनुमानित कर सकते हैं। उन वानस्पतिक प्रस्तरावशेषों के साथ समुद्री जंतुओं के प्रस्तरावशेष समुद्र की उस स्थल पर विद्यमानता प्रकट करते हैं। बरंडी श्रृङ्खला की सब से ऊपरी तह पर २५०० फीट मोटाई का स्तर प्राप्त होता है, जो शिलाजन्य ढोंकों से निर्मित है। ये शिलाजन्य ढोंके स्थिति में परिवर्तन प्रकट करते हैं। यह ढोंकों का स्तर कुत्तुंग श्रृङ्खला का भाग है। इसमें ढोंकों के स्तर के ऊपर ज्वालामुखी रचना की शिलाएँ हैं, जिनमें हम उन वनस्पतियों का ही समरूपीय प्रस्तरावशेष देखते हैं, जो उत्तरी गोलार्द्ध के पूर्वार्द्ध कारबोनिफेरस काल की शिलाओं में प्राप्त होते हैं। कुत्तुङ्ग श्रृङ्खला लगभग १०,००० फीट मोटी तह निर्मित करती है। इस श्रृङ्खला में ही हमें हिमनदों के प्रसार के भी प्रमाण मिलते हैं। उस समय निम्न तापमान पर उगने वाले वनस्पतियों के उगने का ही अवसर हो सकता था अतएव हमें रेकोप्टेरिस, कारडियोप्टेरिस आदि वनस्पतियों की पत्तियों के प्रस्तरावशेष प्राप्त होते हैं, जो निम्न तापमान तथा कभी-कभी ज्वालामुखीय उद्गार से राख जमने की क्रियाओं का प्रमाण देते हैं। किन्तु यह वनस्पति वर्ग बाद की वानस्पतिक रचना से मेल नहीं खाता।

कुत्तुङ्ग श्रृङ्खला की सर्वोपरि तह युगान्तर की सूचना देती है। उसके ऊपर स्थित शिलाओं में सर्वथा नवीन वर्ग के वनस्पतियों का उदय दिखाई पड़ता है। ये ग्लोसोप्टेरिस वनस्पति के क्षेत्र सिद्ध होते हैं। इन प्रस्तरावशेषों से हम सर्वथा पृथक् रूप के दो वनस्पति-जगत की उपस्थिति का प्रमाण पाते हैं। इनमें एक उत्तरी वनस्पति-जगत तथा दूसरा दक्षिणी वनस्पति-जगत कहा जा सकता है। उत्तरी वनस्पति-जगत में जहाँ बहुत ही अधिक भेद-विभेद तथा सघन विस्तार का प्रमाण मिलता है, वहाँ दक्षिणी वनस्पति-जगत की कुछ इनी-गिनी जातियाँ ही पाई जाती हैं। साथ ही उत्तरी गोलार्द्ध की अनुकूल स्थिति से जहाँ वनस्पतियों का उर्वर प्रसार पाया जाता है, वहाँ दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षाकृत विषम परिस्थिति में क्षीण रूप में ही इस नवीन वनस्पति वर्ग का उदय होते देखा जाता है। यदि हम चाहें तो तेथी सागर के उत्तर तटवर्ती महादेश को हरियाली का तत्कालीन स्वर्ग कह सकते हैं, किन्तु दक्षिणी तटों के महादेशों अर्थात् गोंडवाना महादेश की हरीतिमा के मनोरम दृश्यों का दुर्बल प्रसार-क्षेत्र ही पा सकते हैं। उन दिनों हिमनदों के प्रवाह के तलछट-संचय से बनी भूमि पर ही नवागन्तुक वनस्पतियों का दक्षिणी गोलार्द्ध में उदय होने की कल्पना की जा सकती है। वे स्थल आज के अलास्का अथवा न्यूजीलैंड के पश्चिमी भाग के वातावरण तथा स्थिति के समतुल्य रहे होंगे। उन भूभागों में हमारी उर्वर कल्पना एक ओर विशाल हिमनदों को प्रवहमान होने की बात सोच सकती है, वहाँ पार्श्व में ही हिमराशि से होड़ करती हुई यह वनस्पति-राजि भी अपना उद्भव कठिनता से कर नवीन वनस्पति-जगत की रचना का भगीरथ प्रयत्न करती। इस तरह वैज्ञानिकों की यह धारणा बनती है कि उत्तरी गोलार्द्ध के देशों में जहाँ कोयले की अपार राशि संचित करने वाले वनस्पति अपनी वृद्धि तथा प्रसार की पराकाष्ठा पर पहुँच रहे थे, वहाँ कदाचित् दक्षिणी गोलार्द्ध उस समय हिम के गर्भ में अपना भूखंड निमज्जित ही पाता होगा। जहाँ कहीं

कुछ भूखंड हिमप्रसार-शून्य रह गए होंगे उन स्थलों पर घोर शीत के प्रकोप तथा हिम राशि के सामीप्य से संघर्ष कर जिह्वापत्री वनस्पति अपने लड़खड़ाते पैरों पर खड़े होने का उद्योग करते होंगे। इन कष्टसहिष्णु वनस्पतियों का आकार-प्रकार, रंगरूप स्थिति-वैषम्य के कारण उत्तर गोलार्द्ध के अनुरूप किस प्रकार होना सम्भव हो सकता था! उस घोर विपरीत तथा विषम परिस्थितियों का सामना कर जीवित रहने के पश्चात् ही भारत तथा दक्षिणी गोलार्द्ध के अन्य भूखंडों के वनस्पति कालान्तर में पल्लवित तथा पोषित होकर जहाँ-तहाँ की कोयला खदानों के लिए कार्बन की ढेरी हमारी आवश्यकतापूर्ति करने के लिए निर्माण कर सके।

आस्ट्रेलिया की हंटर नदी की घाटी में कुत्तुंग श्रृङ्खला के ऊपर हिमनदीय तलछट की एक मोटी तह मिलती है जिसके ऊपर समुद्री तलछटीय स्तरें हैं। इस श्रृङ्खला के आधार से ३०० फीट ऊपर हमें सर्वप्रथम गंगमोप्टेरिस वनस्पति का प्रस्तरावशेष प्राप्त होता है। हंटर नदी की घाटी के शिला-क्रमों में शिला निर्माण की परीक्षा कर ज्ञात होता है कि दस विभिन्न स्तर हिमनदीय तलछटों से बने हैं। ये दस बार विभिन्न समयों पर हिमनद प्रसार के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इतना स्पष्ट प्रमाण दक्षिणी गोलार्द्ध में अन्यत्र नहीं पाया जा सकता। किन्तु ऐसा क्रम सर्वत्र प्रमाणित होता है।

हिमनद-मर्दित शिलापिंडों का स्तर भारत में तालचिर श्रृङ्खला नाम से गोंडवाना शिलामंडल की भित्ति निर्मित करता है। उड़ीसा में तालचिर नाम का एक देशी राज्य था, जहाँ इस तालचिर श्रृङ्खला नाम के शिलापिंड-स्तर का पहले-पहल अध्ययन किया गया था। वही इस नामकरण का कारण है। इस श्रृङ्खला के बनाने वाले शिलापिंड एक हजार मन तक के पाए जा सकते हैं। अरावली पर्वत से निःसृत होकर विशाल क्षेत्रों में प्रसारित हिमनदों ने ही कदाचित् इन छोटे या बड़े शिलापिंडों की रचना की थी जिनके आधार पर तालचिर शिला बनी। गोंडवाना शिलामंडलों की रचना नदी और झीलों के अलवणीय (मीठे) जल में तलछट रूप में जमकर हुई होगी। केवल उमरिया में एक तह समुद्री (खारे) जल की तलछट से निर्मित मालूम पड़ती है। इससे विन्ध्य प्रदेश के स्थल पर समुद्र के अतिक्रमित होकर पहुँचने का अनुमान करना पड़ता है। यह समुद्री अंचल किस दिशा से वहाँ तक पहुँचा होगा यह अभी विवादग्रस्त विषय ही है। तालचिर श्रृङ्खला के ऊपर कहारबारी नामक श्रृङ्खला पत्थरकोयला तथा गंगमोप्टेरिस और अन्य वनस्पतियों के प्रस्तरावशेष प्रदर्शित करती है। तालचिर श्रृङ्खला की रचना प्रारम्भिक गोंडवाना काल में हुई, परन्तु उसके नीचे की शिला बहुत ही पुरानी मिलती है जिसका काल-निर्णय कठिन समस्या है। वनस्पति के प्रस्तरावशेष प्रकट करने वाली गोंडवाना शिलामंडल की शिला को उत्तरार्द्ध कार्बनजनक काल का कहा जा सकता है। काश्मीर के तेथी सागर की तलछटीय रचना में भी गंगमोप्टेरिस के भव्य प्रस्तरावशेष समकालीन रूप में प्राप्त होते हैं। सतलज की सहायक स्पिती नदी की घाटी में उस काल की शिला मिलती है, जिसे हम गोंडवाना काल से पूर्व की रचना कह सकते हैं। इसकी उस शिला से तुलना की जा सकती है, जो आस्ट्रेलिया में निम्न स्तरों में विद्यमान पाई जाती है। वहाँ के कुत्तुंग शिलामंडल की भाँति पो श्रृङ्खला नाम की यह स्पिती क्षेत्र की शिला रेकोप्टेरिस नामक वनस्पति का प्रस्तरावशेष प्रकट करती है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि यह सार्वभौम रूप का ही वनस्पति है जो उत्तरी तथा दक्षिणी वनस्पति-जगत उदय होने के पूर्व सब क्षेत्रों में व्याप्त था। इसी प्रकार के कुछ अन्य वनस्पति भी इस क्षेत्र में प्राप्त होते हैं।

दक्षिणी अफ्रीका में प्रिंस अल्बर्ट प्रदेश में ड्वीका नामक नदी की घाटी की शिला में प्रस्तरपिंडों की २००० फीट मोटी तह पाई जाती है। यह प्रस्तरपिंडीय स्तर किसी हिमनद-मर्दित तल के ऊपर निर्मित सिद्ध होता है, अतएव यह उस क्षेत्र में हिमनदों के विस्तार का स्पष्ट प्रमाण है। इन प्रस्तरपिंडों के आधार तथा उसके नीचे की पूर्ववर्ती शिला के मध्य गंगमोप्टेरिस वनस्पति की छाप के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। जंतुओं के प्रस्तरावशेष से इन शिला-क्रमों का काल-निर्णय करने का प्रत्यन किया किया गया है। इसी प्रकार दक्षिणी अमेरिका में भी ग्लोसोप्टेरिस के प्रमाण मिलते हैं। फाकलैंड द्वीप में तथा ब्राजील में इसके उदाहरणों की न्यूनता नहीं।

ग्लोसोप्टेरिस का उदय हिमनदों के भयंकर प्रसार के पश्चात् होने के जो उदाहरण दक्षिणी गोलार्द्ध में प्राप्त होते हैं, उनके विपक्ष हम उत्तरी गोलार्द्ध पर दृष्टि डालते हैं तो ग्लोसोप्टेरिस के अभाव के साथ हिमनदों के व्यापक प्रसार का भी सर्वथा अभाव पाया जाता है। इस स्थिति में उत्तरी गोलार्द्ध का हिमनदों से तत्कालीन रूप से शून्य रहने के कारण की मीमांसा करना एक दुर्बोध समस्या ही है।

जिह्वापत्री (ग्लोसोप्टेरिस) वनस्पति को इन अति विचित्र स्थितियों में उदय होने के अतिरिक्त रंगरूप की भी विशेषता रखते पाया जाता है। इनकी पत्तियों को बीच में एक शिरा या नस रख कर जीभ के आकार में फैला पाया जाता है। इस वनस्पति को कदाचित् बीजधारी ही मानना होगा। इनको फर्न (पर्णाङ्ग) की तरह बीजाणुदानी रखते नहीं पाया जाता। किन्तु बहुत से प्रस्तरावशेषों में पत्रों के निकट बीज तथा शल्क विद्यमान रखते पाया गया है। बीज को शल्क अवलंबित रखते होंगे, किन्तु कोई बीज पल्लव से संयुक्त रूप में प्राप्त नहीं हो सका है। समीप-समीप बीज और पल्लव अवश्य प्राप्त हो सके हैं। जिह्वापत्री का पत्र डंठल के साथ भी दुर्लभ रूप में ही कभी-कभी प्राप्त किया जाता है। किन्तु डंठल तथा पत्र का समीप-समीप प्राप्त होना तो साधारण घटना है। अतएव यह अनुमान अधिक पुष्ट ज्ञात होता है कि वे पत्र उन डंठलों में संयुक्त रहे होंगे। गंगमोप्टेरिस तथा ग्लोसोप्टेरिस में भेद करना कठिन ही होता है, किन्तु गंगमोप्टेरिस के पत्र प्रायः दीर्घकाय होते हैं और मध्यस्थ शिरा अल्प विकसित या लुप्त होती है। गंगमोप्टेरिस कदाचित् अधिक आदिम वनस्पति है तथा जिह्वापत्री (ग्लोसोप्टेरिस) वर्ग के वनस्पतियों के क्षेत्र में निम्नतम शिलाओं में पाया जाता है। कदाचित् वह ग्लोसोप्टेरिस की भाँति दीर्घजीवी नहीं रह सका। वास्तव में ग्लोसोप्टेरिस या गंगमोप्टेरिस के रूपों की कल्पना कठिन ज्ञात होती है। कदाचित् वे झाड़ी रूप में ही होते थे। इसी वर्ग का एक वनस्पति गोंडवांडियन नाम से भी प्रसिद्ध किया गया है, जिसमें पत्रावली लंबी होती है तथा पत्तियों की दुहरी पंक्ति होती है। इसकी पत्तियों में गहरी फाँकें भी होती हैं। इसमें बीज या बीजाणु का पता नहीं लगता।*

---

*"विलुप्त वनस्पति" (प्रका० किताब महल, इलाहाबाद) से उद्धृत

महाद्वीपीय-ऊढ़ और वेगेनर* के विचार

कृष्णचन्द्र दुबे, एम० एस-सी०, भौमिक विज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय

ब्राजील के पश्चिमी और अफ्रिका के पूर्वी किनारों का आकार, वनस्पति, पशु, शिलाएँ और अवशेषों में समानता के आधार पर यह अनुमान सहज ही उठता है कि ये दोनों भाग किसी प्राचीन भूकाल में एक रहे होंगे। इस अनुमान ने १९१० के लगभग भौमिक-विज्ञान में एक नई धारा को जन्म दिया जो 'महाद्वीपीय-ऊढ़-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह वह सिद्धान्त है जो महाद्वीपों और महासागरों की वर्तमान स्थिति को भूकाल में महाद्वीपों के एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर प्रवाह अथवा भ्रमण के फलस्वरूप मानता है। कोलबर्ग, क्रिशगार, इवैन्स, पिकरिंग और टेलर ने इस विषय पर अपने अपने विचार १९१० के पूर्व प्रगट किये थे। पिकरिंग ने अपने लेखों में दक्षिण अमेरिका का अफ्रिका से अलग होने और चंद्रमा का पृथ्वी से अलग होने (जी० एच० डारविन के अनुसार) का काल एक बताया था। पर्वतों की उत्पत्ति पर विचार करने के पश्चात् डाना, स्वेस और हीम ने इन्हें पृथ्वी के सिकुड़ाव व सिमटन के कारण बताया, जो पृथ्वी के ठंडे होने के फलस्वरूप हुई। इसके परिणाम स्वरूप पृथ्वी के कुछ भाग उठकर पर्वत तथा अन्य समुद्र बन गये। पर इस विचार के अनुसार पर्वतों की संस्थिति अथवा संरचना को नहीं समझाया जा सकता, जो उनकी घनता, स्थूलता और क्लिष्ट विभंजन से प्रगट है। इस विचार को यदि माना भी जावे तो समुद्री-तल में भी फोल्ड पर्वत (भंजित पर्वत) होना चाहिए। यह सम्भव नहीं कि सिमटाव के कारण केवल थल भाग में विभंजन हो और जल-भाग इससे सुरक्षित रहें। पर सागर-तल सपाट और सीधा है—जो इस विचार के विरुद्ध है। टमान के अनुसार यदि सिमटाव हो भी, तो सिलीकेट स्तर-सैल्फा में कोई परिवर्त्तन न होगा—क्योंकि १५० किलोमीटर के दबाव के भीतर वाले भाग में इस सिमटाव का कोई प्रभाव नहीं होगा और यदि इसे माना जावे तो ताप की कमी से पृथ्वी की बाहरी सतह में सिमटाव तो संभव नहीं और न इस आधार पर पर्वतों की उत्पत्ति समझाई जा सकती है। और जब हम पृथ्वी में रेडियम धर्मिता ताप की उत्पत्ति मानते हैं तो वह पृथ्वी की ताप-हानि को पूरा कर देता है और सिकुड़न हो नहीं सकती। महाद्वीपों के बीच थल सेतुओं के आधार पर भी यह समानता समझाने का प्रयत्न किया गया। जीवों का आवागमन थलसेतुओं के कारण संभव हुआ। पर यदि थलसेतुओं की उपस्थिति मानी भी जावे तो उनका समुद्र तल में धंस जाना सम्भव नहीं। समतुल्य-सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए यह विचार उचित नहीं प्रतीत होता। वर्तमान महाद्वीपों के बीच का भाग धंस जाने से महासागरों की उत्पत्ति हुई—यदि यह विचार भी ध्यान में लाया जावे तो यह भी वैज्ञानिक तर्क के सन्मुख निराधार सिद्ध हो जाता है। यदि हम पृथ्वी स्तर को सैल्फ और सैमा में विभाजित मानते हैं और सैल्फ की विशिष्ट भ्वाकृष्टि २·७ तथा सैमा

---

*'विज्ञान' अप्रैल के अंक में "महाद्वीप अचल नहीं हैं" नामक विद्वतापूर्ण लेख में श्री जनार्दन प्रसाद श्रीवास्तव ने Megener का उच्चारण वैगेनर किया है। इस लेख का लेखक इसे वैगेनर उच्चारित करेगा। जहाँ तक लेखक को जर्मन भाषा का ज्ञान है, G का उच्चारण 'ग' ही होता है।

लेखक

की ३ है तो सैल्फपुंज महाद्वीप-सैम्रा में कैसे धंस जावेंगे यह समझ में नहीं आता; और फिर यह धंसाव समतुल्य-सिद्धान्त की भी अवहेलना करता है।

वेगेनर के अग्रगामी

पृथ्वी की रचना को महाद्वीपीय-ऊढ़ सिद्धांत के द्वारा समझने का प्रयत्न प्राचीन काल से आरम्भ होता है। उन विचारकों ने अपने लेखों और ग्रन्थों में इस बात का वर्णन दिया है कि पृथ्वी में उत्पत्ति से लेकर अभी तक बहुत परिवर्त्तन हुए हैं और महाद्वीप अपने वास्तविक स्थान से इधर-उधर हट चुके हैं। इस विचार की प्रगति को अध्ययन करने के लिये हमें ३०० वर्ष पीछे जाना पड़ता है; (प्राचीन काल को ध्यान में न लाते हुए) यद्यपि यह सत्य है कि इस प्रकार का अध्ययन ऐतिहासिक मूल्य ही रखता है। सन् १६२९ में फ्रांसिस बेकन ने अपने विचार प्रकट किये थे। इनके उपरान्त १६८० में बफन तथा बाद में वंग, ओवेन, स्नाइडर वेल्स्टीन, फिशर, वारिंग और पिकरिंग—ये सभी वेगेनर के अग्रगामी थे, पर वे किसी वैज्ञानिक आधार पर इस सिद्धांत की रचना न कर सके। अंटानियो स्नाइडर ने १८५८ में एक पुस्तक रूप में अपने विचार रखे थे और उसमें उन्होंने पृथ्वी के जो नक्शे अपने विचारों को समझाने के लिये दिये हैं—उनमें और वेगेनर के नक्शों में बहुत समानता है। (आकृति २) वेगेनर के पूर्व इस सिद्धान्त का वैज्ञानिक विवेचन टेलर ने १९०८ तथा बेकर ने १९११ में किया था। टेलर ने ध्रुवों से भूमध्य-रेखा की ओर तृतीयक युग में महाद्वीपीय-ऊढ़ का पक्ष किया और उनके अनुसार यह ऊढ़ चन्द्र-आकर्षण के फलस्वरूप पृथ्वी में ज्वार के कारण हुआ। टेलर के अनुसार पृथ्वी ने मध्ययुग के पश्चीकाल में चंद्रमा हस्तगत किया पर यदि उसे माना जावे तो चंद्र पथ की केन्द्रत्परान्मुखता या उत्केन्द्रता को नहीं समझाया जा सकता। टेलर के विचार वैज्ञानिक जगत में कुछ विशेष उत्तेजना उत्पन्न न कर सके परन्तु जब १९१४ में वेगेनर की पुस्तक "डाई इन्स्टेहुङ्ग डेयर कांटिनेंटे अंड ओजियेन" का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ तो उसने भूविज्ञान के क्षेत्र में एक हलचल कर दी। वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और तब से लेकर आज तक इस विषय पर विवाद चला ही हुआ है।

वेगेनर की विचार धारा

महाद्वीपीय-ऊढ़-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने और उसे एक नई धारा के रूप में प्रवाहित करने में अल्फ्रेड वेगेनर ने प्रायः सभी प्राप्त सामग्री और साहित्य का उपयोग किया। उन्होंने भौमिक शास्त्र, अवशेष विज्ञान, प्राच्य जलवायु विज्ञान, भूभौतिक शास्त्र—इन सभी शाखाओं में तथ्यों का संग्रह किया व वनस्पति और पशु जगत के विस्तार और प्राप्ति पर विशेष ध्यान दिया। पृथ्वी की बाहरी सतह या स्तर, वेगेनर के अनुसार सैल्फ (Sial) है। वेगेनर से पूर्व स्वेस ने यह विचार दिया था पर जहाँ स्वेस स्तर को पूर्ण रूप, अविच्छिन्न सैल्फ ही मानते थे, वेगेनर के अनुसार केवल थलपुञ्ज ही सैल्फ था—महासागर सैम्रा पर (Sima) स्थित थे—महासागर तल सैम्रा का ऊपरी भाग था। सैल्फ की यह सीमित दशा केवल वर्तमान काल में ही नहीं, कारबोनिफेरस काल में भी थी। उस काल में एक सैल्फ महाद्वीप 'पैंगिया' था जिसके चारों ओर 'प्राचीन पैसिफिक (प्रशांत) महासागर—'पैंथेलेशिया' था। सैल्फ का महाद्वीपों से और सैम्रा का सागरतल से सम्बन्ध, वेगेनर के अनुसार, क्रूमेल के हिप्सोमीट्रिक विन्दुरेख (ग्राफ) तथा ट्रैबर्ट के विन्दुरेख से सिद्ध होती है। क्रूमेल के चित्र में (आकृति ३) पृथ्वी के भिन्न भागों—ऊँचाई और गहराई को एक अविच्छिन्न रेखा-रूप में खींचा गया है। ट्रैबर्ट की आकृति में पृथ्वी सतह को प्रतिशत रूप से (अथवा प्रतिशत आधार पर) ऊँचाई व गहराई के विरुद्ध रख कर ग्राफ तैयार किया गया है। इस ग्राफ में दो शिखर आते हैं (आकृति ४)—एक +१०० मीटर पर तथा दूसरा −४७०० मीटर पर। यह सिद्ध करता है कि पृथ्वी विभंजन में दो स्तरों ने भाग लिया है। यदि एक ही स्तर प्रभावित होता तो, वेगेनर के अनुसार, केवल एक ही शिखर −२४५० मीटर पर मिलता। इसे उन्होंने ट्रैबर्ट के ग्राफ में टूटी लाइन से दर्शाया है (आकृति ४)।

एटलांटिक महासागर के पूर्वी और पश्चिम किनारों की समानता शिलाओं, वनस्पति-पशु, तथा पर्वतों की दिशा (स्ट्राइक) और अवशेषों से स्पष्ट है। इन किनारों का आकार

भी इन दोनों किनारों को एक करने के प्रयास में सहायता करता है। यदि ऐसा किया जावे तो द० आफ्रिका के केप पर्वत और दक्षिण अमेरिका के सियरा डेटेंडिल की दिशाएँ समान हो जाती हैं। अवशेष-विज्ञान के अनुसार भी ग्लासॉप्टेरिस वनस्पति अवशेष दक्षिण-भारत, मेडागास्कर, दक्षिण आफ्रिका और दक्षिण अमेरिका में मिलते हैं। इस आधार पर वेगेनर का इन दोनों महाद्वीपों तथा भारत को कारबोनिफेरस काल में एकत्रित करना स्थित था। कारबोनिफेरस-काल की शिलाओं में बर्फीली जलवायु के चिन्ह मिलते हैं—ब्राजील के सैंटा कैथाराइना शिलाक्रम में, फाकलैंड द्वीप, दक्षिण-आफ्रिका के कारू शिलाक्रम में, भारत के गोंडवाना और कारबोनिफेरस शिलाक्रम में तथा आस्ट्रेलिया और एँटार्कटिक में। इन व्यापक प्रादेशिक बर्फीली अवस्था का कारण वेगेनर दक्षिण ध्रुव की स्थिति बताते हैं जो इस काल में डरबन, दक्षिण अफ्रिका के पास थी और यह स्थान पैंगिया महाद्वीप के मध्य में था। इसी प्रकार वे ग्लासॉप्टेरिस-अवशेषों की प्राप्ति भी समझते हैं।

स्पिट्सबर्गन और उत्तर ग्रीनलैंड में समान शिलाएँ प्राप्त होती हैं। पूर्व कैंब्रियन अग्नि-आक्रमिक-शिलाएँ लैब्रेडोर में और केप-फेयरवेल में मिलती हैं। इसके सिवा, वेगेनर के अनुसार, उत्तर स्कॉटलैंड और हेब्रीडीज की नाइस (Gneiss शिलाओं की दिशा (स्ट्राइक) और लैब्रेडोर की नाइस-शिला दिशा एक ही है।—उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम। इन आधारों पर इन भागों को वे मिला सके थे।

जहाँ टेलर ने केवल भूमध्य रेखीय ऊढ़ का प्रतिपादन किया वहाँ वेगेनर ने महाद्वीपों की दो दिशाओं में गति देखी—भूमध्यरेखा वर्त्तीय और पश्चिमवर्त्तीय। भूमध्य-रेखावर्त्तीय प्रवाह केन्द्रत्यागाकर्षण के कारण होता है जो सैस्फ के और सैम्र के गुरुत्वाकर्षण केन्द्र की ऊँचाई के अन्तर का फल है। यह ४५° अक्षांश में बहुत शक्तिशाली रहता है। पश्चिमवर्त्तीय प्रवाह पृथ्वी में सूर्य और चंद्र आकर्षण के फलस्वरूप ज्वार के कारण होता है। यह सच है कि प्रवाह नहीं के बराबर होता है। पर समय का प्रश्न भी ध्यान में रखना आवश्यक है। श्वेडर ने एक तीसरा कारण और भी बताया है जो महाद्वीपों को भूमध्य-रेखा की ओर और पश्चिमवर्त्तीय—दोनों ओर गतिमान करता है; और यह कारण है पृथ्वी के धुरी से महाद्वीप-समूह-धुरी की अग्रगति। यह स्पष्ट है कि इस विचार के अनुसार पृथ्वी को घूमने की धुरी को महाद्वीपीय घूमने की धुरी से पृथक माना गया है। यह गति ०° पर अधिक तथा ३६° अक्षांश रेखाओं पर बहुत कम रहती है। एशिया के पूर्वी द्वीप समूह की उत्पत्ति वेगेनर मूल एशिया भाग के पश्चिमवर्त्तीय प्रवाह के कारण मानते हैं—जिससे ये भाग छूटकर वर्तमान द्वीप बना सके।

भूकाल में ध्रुवों की स्थिति में परिवर्तन हुआ है, ऐसा वेगेनर मानते हैं। उत्तर-ध्रुव की स्थिति सिलूरियन में १४° उ० अक्षांश, १२३ प० देशांस; कारबोनिफेरस युग में १६° उ० अक्षांश, १४७° प० देशांस तथा तृतीयक काल में ५१° उ० अक्षांश, १५३ प० देशांश रही है। इसी के अनुसार दक्षिण-ध्रुव और भूमध्यरेखा की दिशा में भी परिवर्त्तन होता रहा है। दक्षिण ध्रुव की ऐसी दशा के कारण ही, जैसा आगे बताया गया है, कारबोनिफेरस युग के व्यापक हिम-विस्तार को समझाया गया है। यदि इन भिन्न ध्रुव-स्थितियों को ध्यान में रखकर हम संसार के नक्शे का विचार करें (आकृति १) तो यह स्पष्ट है कि एंडीज पर्वत इत्यादि की रचना पश्चिमवर्त्तीय महाद्वीपीय-ऊढ़ के कारण हुई है और हिमालय तथा आल्प्स इत्यादि भूमध्य-रेखीय ऊढ़ के कारण बने। इसी प्रकार कारबोनिफेरस काल की हरसीनियन फोलडिंग उस काल की भूमध्यरेखा की स्थिति पर हुई। यदि हिमालय की तलछटी शिलाओं के स्तरों को हम कल्पना से फैला दें तो भारत मैडागास्कर के पास पहुँच जाता है।

वेगेनर को वैज्ञानिक सहयोग

जॉली के विचारों से महाद्वीपीय-ऊढ़ सिद्धान्त को सहयोग प्राप्त होता है। जॉली ने भौमिक-क्रांतियों और भूरूपरेखा को रेडियम-धर्मिता के आधार पर समझने का प्रयत्न किया है। स्थल पुंज सैस्फ तथा सागर भाग सैम्रा निर्मित है, यह पीछे बताया गया है। सैस्फ की विशिष्ट-भ्वाकृष्टि २·६ तथा सैम्रा की ३ है—और सैस्फ-स्तर में रेडियम-धर्मा तत्वों की मात्रा अधिक होती है। कालांतर में रेडियम-धर्मिता जनित ताप सैस्फ स्तर में सैम्रा से बहुत अधिक हो जाता है और ताप-प्राबल्य के कारण सैम्रा में चला जाता है।

सैभ्रा का द्रवाँक ११५०° शतांक है और इस ताप तक पहुँचने में सैभ्रा को ३३ ०००,००० वर्षों से ६०,०००,००० वर्षों तक लग जाते हैं। सैभ्रा के द्रवीकरण से महाद्वीप-पुंज उस पर तैरते से हैं। इस अवस्था में पृथ्वी पर ज्वार प्रभाव बहुत अधिक होता है और इसका परिणाम महाद्वीपों का पश्चिमवर्त्तीय प्रवाह होता है। ताप से सैभ्रा की मुक्ति सागर तलों से होती है—जहाँ से ताप-वियोजन होता है। महाद्वीपों के नीचे ताप बना ही रहता है। ऊढ़ के फलस्वरूप महाद्वीपों का स्थान सागर लेते हैं और इसमें उस स्थान की सैभ्रा का ताप वियोजित होता है। यदि ऊढ़ न हो तो यह स्थिति न आ सकेगी और महाद्वीपों के नीचे ताप बना ही रहेगा और उस अवस्था में महाद्वीपों के नीचे कुछ प्रलयंकारी उत्पात होना चाहिये जिनका कोई भी प्रमाण भू-इतिहास में नहीं है।

रेजिनाल्ड आर्चिबाल्ड डैली भी अपनी पुस्तक में कहते हैं कि प्राणि विज्ञान के आधार पर पैंगिया महाद्वीप का मानना उचित दिखता है; क्योंकि उस आधार पर ही जीव-सम्बन्ध और विकास समझाया जा सकता है।

वेगेनर के विचारों की समीक्षा

वेगेनर के विचारों को आरम्भ से ही बड़ी कठिन प्रत्यालोचना का सामना करना पड़ा और उनके मूल विचारों का अधिकांश भाग निराधार ही सिद्ध कर दिया गया है। वेगेनर के विरुद्ध जो भी प्रत्यालोचन और समीक्षा हुई—उसमें से बहुत कुछ आवश्यक और उचित थी और कुछ अनुचित एवं अनावश्यक। उनके विरुद्ध कुछ भी कहने के पहिले यह ध्यान में लाना आवश्यक प्रतीत होता है कि जो भी प्रमाण, जैसे भी (अर्थात् सही या गलत हमारे लिये पर उस समय सही और प्रामाणिक) मिले वेगेनर ने सबको विचार में रखा। उन्होंने भौमिक-विज्ञान में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया जिसने पार्वतीय संस्थिति और उत्पति तथा महाद्वीपों की रूप-रेखा समझने में हमें नयी दृष्टि दी। यह सत्य है कि वेगेनर के विचारों की अधिक हानि उन्हीं में प्राप्त दुर्बलताओं के कारण हुई।

वेगेनर ने यह माना था कि कारबोनिफेरस काल में एक बृहत मध्य महाद्वीप 'पैंगिया' था जो सीमित सैल्फ की दशा का द्योतक है। वेगेनर ने कारबोनिफेरस से पूर्व काल का कोई अधिक विवरण नहीं दिया है और उसके विरुद्ध यह एक आक्रमण है। परन्तु कारबोनिफेरस में पैंगिया की उपस्थिति मानकर अपने विचारों की रचना करने का यह तो अर्थ कदापि नहीं कि वेगेनर उसके पूर्व महाद्वीपीय-ऊढ़ क्रिया नहीं मानते। यह आरोप उचित नहीं है।

जी० बी० डगलस और ए० ए० डगलस ने वेगेनर पर दूसरा आक्रमण ट्रैवर्ट ग्राफ पर किया। उन्होंने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि यदि भू-विभंजन में केवल एक ही स्तर भाग ले तो भी ऐसी ही स्थिति आवेगी; ट्रैवर्ट-ग्राफ में द्विशिखर आने का यह अर्थ नहीं कि दो स्तर-सैल्फ और सैभ्रा प्रभावित हुए। यह बतलाने में कि यदि एक ही स्तर प्रभावित होता तो ट्रैवर्ट-ग्राफ में केवल एक शिखर—२४५० मीटर पर मिलता, (देखिये आकृति ४, टूटी रेखा) वेगेनर ने एक भारी गलती की जो उनके विरुद्ध सहायक हुई। वह यह कि इसमें उन्होंने मूल ग्राफ से दुगनी जगह घेर ली। श्री फिलिप लेक ने यह सिद्ध कर दिया है कि वेगेनर का यह तर्क अर्थहीन है।

एटलांटिक सागर के पूर्वी और पश्चिमी किनारों की समानता और मध्य-एटलांटिक-पृष्ठ की इन किनारों से समानांतरता को देखकर वेगेनर ने अपने नक्शों में कारबोनिफेरस काल में इन दोनों भागों को जोड़ दिया था। यद्यपि यह माना भी जावे कि वे इस प्रकार थे—तो भी ऊढ़ के फलस्वरूप उनमें कुछ न कुछ विरूपता तो होगी ही। जैसा श्री जे० ए० स्टीयर्स ने कहा है—कि इन दोनों भागों को इस प्रकार जोड़ देना जैसे एक विजिटिंग-कार्ड के दो फटे हिस्सों को जोड़ दिया जावे—निरर्थक है; और यह वेगेनर के लिये दुर्भाग्य की बात थी कि उन्होंने ऐसा किया। यह अवश्य है कि ऐसा करने से तो केप और सियरा डेरेंडिल के फोल्ड-पर्वतों की दिशा समान हो जाती है और वे अविच्छिन्न प्रतीत होते हैं। पर केप पर्वतों के बाद के टेबल पर्वत को वेगेनर ध्यान में न लाये जो प्रायः विभंजन-रहित है। और केप पर्वत उत्तरवर्त्तीय होकर सिडारबर्ज से मिल जाते हैं। इसे वेगेनर ने ब्राजील किनारे का आफ्रिकन किनारे उत्तरीय ऊढ़ और घर्षण के कारण बताया; पर दुर्भाग्यवश वे यह भूल गये कि उन्होंने इन किनारों को पहिले ही बिलकुल जमा दिया था और किसी प्रकार की

अकृति १

A = पूर्व कैंब्रियन

B = कैंब्रो-आर्डोवीसियन (अमेरिकन)

C = ”　　　　,,　　(वेल्श)

D = ओल्ड रेड सैंडस्टोन

E = रेड स्तर

H = प्रथम घोड़ा (अवशेष)

GL = ग्लेशियर स्तर

W = चिलोटा कीड़ा

आकृति २

आकृति ३
क्रुमेल का हिप्सोमीट्रिक विन्दुरेख

आकृति ४
ट्रैबर्ट का बिंदु रेखा चित्र

(१) उच्च कारबोनिफेरस काल

(२) इओसीन

(३) चतुथ काल

आकृति ५
पूर्वकाल में पृथ्वी की तीन अवस्थाओं का चित्र
(वेगेनर के आधार पर)
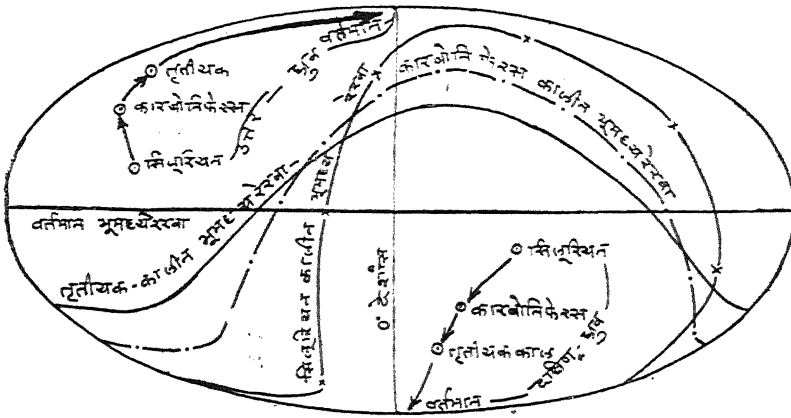
आकृति ६
भिन्न भूकालों में भूमध्य रेखा और ध्रुवों की स्थितियाँ (क्रिशगार के अनुसार)
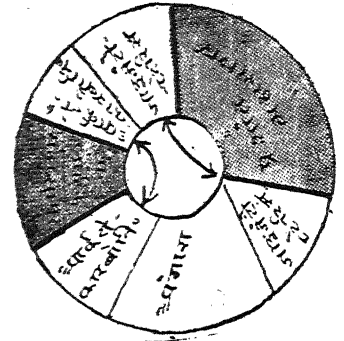
आकृति ७
महासागरों के किनारों पर वनस्पति-समानता (प्रो० साहनी के आधार पर)
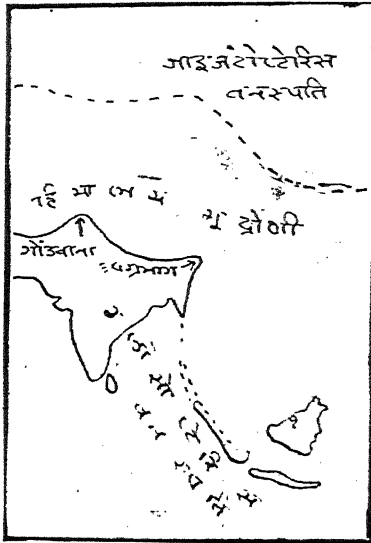
आकृति ८
(प्रो० साहनी के चित्रों के आधार पर)
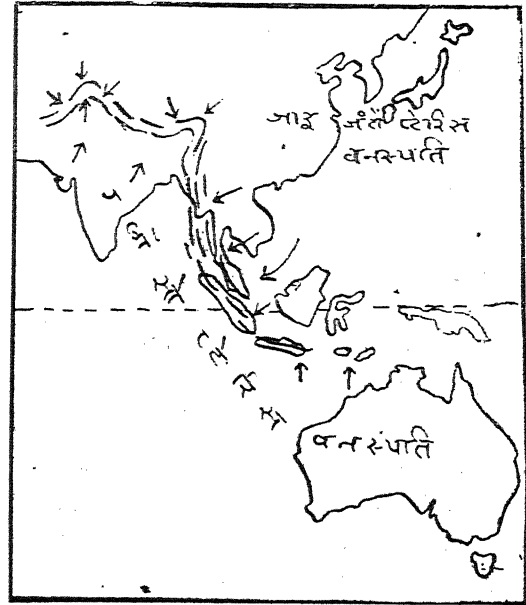
आकृति ९
(प्रो० साहनी के चित्रों के आधार पर)

गुंजायश नहीं छोड़ी थी। ड्यू टायट ने, जिन्होंने दक्षिण अमेरिका और दक्षिण आफ्रिका का सूक्ष्म भौमिक पर्यवेक्षण किया है, इन दोनों भागों को ४००-८०० मीटर के अन्तर पर रखा है। उस तरह सटाया नहीं जैसे वेगेनर ने किया था। ड्यू टायट के समय में भौमिक विज्ञान की उन्नति अधिक हो चुकी है और इन्हें वेगेनर से अधिक तथ्यों की प्राप्ति है। उपर्युक्त दोनों भागों में बहुत समानता है। यह तो और अधिक स्पष्ट हो गया है और ड्यू टायट के अनुसार यदि सभी

तथ्यों को समझना हो तो ४००—८०० मीटर की दूरी इन महाद्वीपों में मानना आवश्यक प्रतीत होगा।

भौमिक-विज्ञान-समिति (Geological Society) में सन् १९२९ में सभापति-पद से भाषण देते हुए प्रोफेसर ग्रेगरी ने महाद्वीपीय-ऊढ़ के आधार पर एटलांटिक महासागर के पूर्वी और पश्चिमी किनारों की समानता समझाने के प्रयासों का विरोध किया था। उनके अनुसार यह समानता ऊढ़ के कारण नहीं हुई है। टेथिस महासागर (तत्कालीन महासागर; देखिये चित्र) के उत्तर-दक्षिण खाड़ियों के फैलाव से यह एटलांटिक महासागर बना। किनारों की समानता उन्होंने मध्यस्थ भूमि के धंस जाने से समझाई। पर यदि सैल्फ और सैम्रा स्तरों की उपस्थिति हम मानते हैं तो सैल्फ, जिसकी विशिष्ट-भ्वाकृष्टि २·६ है, का सैम्रा (विशिष्ट-भ्वाकृष्टि ३) में धंस जाना तो संभव नहीं दिखता। और न यह उचित दिखता है कि इतने बड़े परिमाण पर 'फाल्टिंग' (Faulting) हुई हो।

वेगेनर ने कल्पना के आधार पर यह अनुमानित किया था कि यदि हिमालय में जमे हुए स्तरों को फैला दिया जावे तो भारतवर्ष मेडागास्कर के निकट पहुँच जाता है और इससे यह सिद्ध होता है कि टेथिस भूद्रोणी के स्तरों का हिमालय पर्वत रूप में विकास भारतवर्ष के ऊढ़ से हुआ है। पर फिर वे आल्प्स पर्वत को इस आधार पर नहीं समझा सकते। वेगेनर के लिये यह एक दुर्भाग्य की बात है कि उन्होंने जो स्काटिश नाइस शिलाओं की दिशा उत्तर-पूर्व—दक्षिण-पश्चिम बताई वह गलत है। वास्तव में यह :दिशा पश्चिम-उत्तर पश्चिम—पूर्व-दक्षिण पूर्व है। यह आश्चर्य की बात है कि यह गलती वेगेनर से कैसे हुई। वर्तमान लेखक के विचार के अनुसार यह उस समय प्राप्त आधारों पर रही होगी और इन शिलाओं की दिशा उस समय वही कही गई होगी। यह तो बाद में सूक्ष्म और प्रादेशिक पर्यवेक्षण के बाद पता चला कि वास्तव में क्या दिशा है। और यदि यह सच है तो वेगेनर बिलकुल दोषी नहीं। परन्तु यह लेखक का अनुमान-मात्र है।

प्राचीन भूकाल में विश्व के जो नक्शे वेगेनर ने बनाये हैं—वे भी वर्तमान समीक्षा के सामने ठहर नहीं सकते। ग्लासोप्टेरिस वनस्पति-अवशेष भारत, दक्षिण आफ्रिका, अमेरिका फाकलैंड द्वीप, अन्टार्कटिका तथा आस्ट्रेलिया में प्राप्त होते हैं। इसे वेगेनर ने उन्हीं आधारों पर समझाया था जैसे उन्होंने इन भागों में हिम-दिशा के चिन्हों को। पर इन भागों के अतिरिक्त ये वनस्पति-अवशेष काश्मीर, उत्तर पश्चिम अफगानिस्तान, उत्तर-पूर्वीय फारस, टोंकिन और साइबेरिया में भी प्राप्त होते हैं। इन भागों को वेगेनर ने ध्यान में नहीं रक्खा है और यदि इन्हें उनके नक्शों में उस आधार पर स्थान दिया जावे तो वे नक्शे निरर्थक हो जाते हैं। इसी प्रकार एक और अशुद्धि है। पैलियो-जोयक काल की टिलाइट शिलाएँ लार-पर्वत, भारतवर्ष और अफगानिस्तान में मिलती हैं जो वेगेनर के बनाये हुए उस काल के नक्शे में भूमध्यरेखा से ३०° के भीतर हैं। इसी प्रकार की शिलाएँ उत्तर-पश्चिम-आफ्रिका, अलास्का और बोस्टन में भी प्राप्त हुई हैं। यह बहुत आश्चर्य की बात है कि बोस्टन उस काल की भूमध्यरेखा पर स्थित है! (वेगेनर के नक्शों में) भूमध्यरेखा पर हिमदशा और हिमनदों का होना असंभव है।

सन् १९१८ में अमेरिका में वेगेनर के सिद्धान्त की वैज्ञानिक परीक्षा के लिये एक सभा हुई थी। इस सभा में जो भी विभिन्न विचार प्रगट हुए उनका संक्षेप में विवरण ऊपर दिया ही जा चुका है। यहाँ हम उसमें से कुछ विशेष उद्धरणों पर विचार करेंगे। इसी सभा में बोलते हुए वानडर ग्राप्ट ने कहा था कि भौमिक-शास्त्र के कई प्रश्नों, जैसे पर्वतों की उत्पत्ति, वर्तमानकाल में तथा भूतकाल में जलवायु-विभागों का फैलाव, जीव-विकास तथा फैलाव इत्यादि, को केवल महाद्वीपीय ऊढ़ के सिद्धान्त पर ही समझाया जा सकता है। वेगेनर के विरुद्ध बोलते हुए श्री डेविड ह्वाइट कहते हैं कि यदि महाद्वीप-रचना में महाद्वीपीय-ऊढ़ मान्य किया जावे तो फिर वह कौन-सा कारण था जो इस शक्ति को पक्षीकाल तक रोके रहा? क्यों नहीं महाद्वीप इसके पहिले ही छिन्न-भिन्न और प्रवाहित हुए? अथवा इस सिद्धान्त के रचयिता अपनी कल्पनानुसार महाद्वीपों को पक्षीकाल तक एकत्रित करते हैं, जिससे वे अवशेष-विज्ञान के प्रश्नों को हल कर सकें? इस प्रश्न पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि श्री ह्वाइट अवैज्ञानिक आधार पर खड़े

होकर वेगेनर पर प्रहार कर रहे हैं। इन पंक्तियों के लेखक को लगता है कि श्री ह्वाइट का यह प्रश्न एक उसी प्रश्न के समान है जो कहे कि जब जीव को उत्पन्न होना ही था तो वह पृथ्वी के उत्पन्न होते ही क्यों न हो गया। अस्तु ! श्री एडवर्ड डब्ल्यू बेरी के अनुसार वेगेनर की प्रणाली अवैज्ञानिक है और उसने वैज्ञानिक साहित्य से केवल उन्हीं तथ्यों को विचार में स्थान दिया है जो इस सिद्धान्त के सहायक हैं। दूसरा भयंकर आरोप लगाते हुए श्री बेरी कहते हैं कि शायद वेगेनर को यह ज्ञात नहीं कि भूकाल में जलवायु कैसी थी और न वे ऐतिहासिक भूशास्त्र के सिद्धान्त से परिचित हैं ! फिर, यदि जो शक्तियाँ अमेरिका को पश्चिमवर्त्ती प्रवाहित कर सके उनसे यूरेशिया, जिसका घन अमेरिका से अधिक है, कैसे अप्रभावित रहा ? श्री चेम्बरलिन अपने वक्तव्य में कहीं से एक उद्धरण देते हुए कहते हैं कि यदि हम वेगेनर के विचारों को मान्यता दें तो हमें भूशास्त्र के वे सारे सिद्धान्त भुला देने होंगे जो हमने पिछले ७० वर्षों में सीखे। कहा ही जा चुका है कि आवश्यक और अनावश्यक, दोनों तरह के आरोप वेगेनर के विरुद्ध लगाये गये। उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो जावेगा। श्री वानडर ग्राच्ट कहते हैं कि इस सिद्धान्त के आधार पर ही प्राणिफैलाव को समझाया जा सकता है। और जब कोई सिद्धान्त हमारे बहुत से प्रश्नों को हल कर सकता है तो उसमें कुछ न कुछ तथ्य होना ही चाहिये। श्री गाच्ट यह जरूर मानते हैं कि कौन-सी शक्ति यह महाद्वीपीय ऊढ़ चालित कर सकी, यह अज्ञात है। पर जैसा श्री स्टीयर्स कहते हैं कि उस शक्ति में हमारी अज्ञानता के यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि वह शक्ति है ही नहीं।

वेगेनर के विचार और आधुनिक अवशेष-विज्ञान

अवशेष-विज्ञान में जो खोजें हुई हैं उनसे वेगेनर के विचारों को बहुत सहयोग प्राप्त होता है। प्रोफेसर वॉन ह्यून के अनुसार मध्य प्रदेश में प्राप्त दानव सरट अवशेषों और मैडागास्कर, ब्राजील, उरुग्वे तथा अर्जेन्टाइना में प्राप्त दानवसरट अवशेषों में बहुत अधिक समानता है। अवशेष वनस्पति-विज्ञान में भी महत्वपूर्ण खोजें हुई हैं और वे भी वेगेनर के विचारों को शक्ति देती हैं। इनका विवरण स्वर्गीय आचार्य बीरबल साहनी ने विद्वत्तापूर्ण दिया है। निम्नलिखित विवरण आचार्य साहनी के विचारों पर आधारित है।

वनस्पति-अवशेषों के अध्ययन से दो प्रमाण सिद्ध हैं :—

(१) कुछ समान-वनस्पति-भाग पृथ्वी के बृहत महासागरों के विरुद्ध किनारों पर हैं (आकृति ७)।

(२) कुछ अत्यन्त असमान वनस्पति-भाग, जैसे गोंडवाना प्रांत और जिजांटोप्टेरिस प्रान्त, एक दूसरे के निकट हैं (आकृति ८)।

ये ग्लॉसोप्टेरिस वनस्पति भाग और जिजांटोप्टेरिस वनस्पति-विभाग जो एक दूसरे के इतने निकट हैं (आकृति-८), बिल्कुल भिन्न हैं। इसके सिवा वैज्ञानिक मत यह है कि ग्लॉसोप्टेरिस वनस्पति का विकास समशीतोष्ण जलवायु विभाग में हुआ था—जो भाग हिमदशा से तत्काल ही मुक्ति पाये थे। जिजांटोप्टेरिस वनस्पति का विकास उष्ण जलवायु में हुआ। डाक्टर नोरिन ने जिजांटोप्टेरिस वनस्पति अवशेष स्तरों का रसायनिक अध्ययन किया है और इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि ये स्तर ट्रापिकल जलवायु काल में स्तरीगत हुए होंगे। यदि हम इसे स्वीकार करते हैं कि भारत व आस्ट्रेलिया की ग्लॉसोप्टेरिस वनस्पति व चीन-सुमात्रा की जिजाँटोप्टेरिस वनस्पति का विकास भिन्न-भिन्न जलवायु के अन्तर्गत हुआ, तो यह विचार कि ये विभाग जो वर्तमान दशा में एक दूसरे के पड़ोस में प्रायः एक ही अक्षांशो पर स्थित हैं—भूकाल में इसी स्थित में रहे होंगे—कोई अर्थ नहीं रखता। और फिर उनकी यह वर्तमान स्थिति महाद्वीपीय-ऊढ़-सिद्धांत की सहायता के बिना समझाई ही नहीं जा सकती। ये दोनों विभाग हिमालय भूद्रोणी अथवा टेथिस महासागर के उत्तर व दक्षिण में स्थित थे—(आकृति ९) और ऊढ़ के फलस्वरूप इस दशा में विद्यमान हैं। यह विचार जो प्रोफेसर हैल ने सन् १९२७ में जगत के सम्मुख दिया था, श्री फ्रोमागट तथा आचार्य बीरबल साहनी का समर्थन प्राप्त करता है। जांगमंस ने भी सन् १९३५ में यह मत प्रगट किया था कि महाद्वीपीय-ऊढ़-सिद्धांत के सिवा सुमात्रा वनस्पति का सम्बन्ध समझाया नहीं जा सकता।

इस विषय पर संक्षेप में मत देते हुए आचार्य बीरबल साहनी कहते हैं—

(१) गोंडवाना महाद्वीप (पैंगिया) के भिन्न भागों का छिन्न-भिन्न होने का हमारे पास काफी वनस्पति-अवशेष प्रमाण नहीं हैं।

(२) पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि वृहत रूप से महाद्वीपीय-ऊढ़ के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न भाग एक दूसरे के निकट आ गये हैं।

इस प्रकार आचार्य साहनी के अनुसार हमें महाद्वीपीय-ऊढ़-सिद्धांत को मानना ही पड़ेगा पर वेगेनर के विचारों को अपनी स्वयं की मूल्यता पर ही निर्भर रहना पड़ेगा।

वेगेनर के विचारों ने एक नई धारा को जन्म दिया है। उन पर विवाद होना स्वाभाविक है—क्योंकि कोई भी विचार-धारा विवाद-रहित नहीं होती। सन् १६५१ में भारतीय विज्ञान कांग्रेस में आये हुए एक आस्ट्रेलियन वैज्ञानिक ने फिर से इस धारा पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि भारतवर्ष और आस्ट्रेलिया में प्राप्त अवशेषों को तथा सम्बन्धों को केवल महाद्वीपीय-ऊढ़ के आधार पर ही समझाया जा सकता है।

वेगेनर के मूल-विचारों में संशोधन हुआ है और यह आवश्यक था भी। इस भाग पर किसी अगले लेख में विचार किया जावेगा। पर जन्मदाता-रूप से वेगेनर का स्थान अमर है।

विज्ञान-भवन की सहायता

विज्ञान परिषद्, प्रयाग आज लगभग चालीस वर्षों से किराए के मकान में अपना कार्यालय, पुस्तक भंडार आदि रखती आयी है। अब उसके लिए भवन बनाने की निश्चित योजना बन गई है। उसके लिए प्रयाग-विश्व-विद्यालय की कृपा से भूमि भी प्राप्त हो गई है जिसकी सूचना 'विज्ञान' में पहले प्रकाशित हो चुकी है।

यदि आप विज्ञान प्रेमी हैं तो परिषद् के आयोजित विज्ञान-भवन के निर्माण के लिए कोषाध्यक्ष, विज्ञान परिषद्, प्रयाग के नाम दान भेजें और उदार पुरुषों से भी दान भेजने की प्रार्थना करें।

रामदास तिवारी
प्रधान मन्त्री
विज्ञान परिषद्

बसन्तीकरण

श्री रामजी शर्मा; एम०, एस-सी०, साहित्यरत्न, बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा

भूमिका

"भाक्रमवाद"* में पौधों पर प्रकाश-काल के प्रभाव को हम लोगों ने देखा। यह भी परिणाम स्पष्ट हो गया था कि केवल प्रकाश ही नहीं, प्रस्तुत 'ताप' का भी यथेष्ट प्रभाव पौधों पर पड़ता है (शर्मा, १९५२) पाश्चात्य देशों में, जहां कठिन और लम्बा शीतकाल होता है, प्रायः दो प्रकार के धान्य (Cereals पाये जाते हैं। राई, गेहूँ और जौ, इनमें से मुख्य धान्य हैं, जो दो प्रकार के होते हैं: एक को 'शरद् धान्य' (Winter Cereal) और दूसरे को 'बसन्ती-धान्य (Spring Cereal) कहते हैं। शरद् धान्य शीतकालीन पतझड़ में बो देने पर अग्रिम ग्रीष्म ऋतु में पक कर तैयार हो जाते हैं तथा बसन्ती-धान्य बसन्त-ऋतु में बो देने पर उसी वर्ष पक कर तैयार हो जाते हैं। शरद-धान्य को यदि बसन्त-ऋतु में बोया जाय, तो उनमें उस वर्ष बालियां नहीं आतीं, प्रस्तुत वह दूसरे वर्ष पकता है और इस प्रकार द्विवर्षिकी पौधों-सा व्यवहार करता है। इससे यह प्रकट होता है कि शीतकाल में कुछ ऐसा प्रभाव है जो धान्य को उसी वर्ष पकाने में सहायक होता है। शीतकाल की दो ही खास विशेषताएँ हैं—एक 'निम्न तापक्रम' और दूसरे 'छोटे दिन'। छोटे दिनों का प्रभाव 'अनुभा' पौधों के पुष्पोद्भव पर कैसा पड़ता है, यह हम देख चुके हैं (शर्मा, १९५२) सक्रिय बीजों पर 'निम्नतापक्रम' का प्रभाव भी पुष्पोद्भव को शीघ्रता प्रदान करता है (गैसनर, १९१८)। जाड़ों में अल्प-अंकुरित बीज हिम से ढके रहते हैं और इसी निम्नतापक्रम के कारण उनमें पुष्पोद्भव उसी वर्ष होता है। परन्तु यदि उन्हीं बीजों को बसन्त में बोया जाता है, तो बीजों को निम्न तापक्रम न मिलने से वे दूसरे वर्ष फूलते हैं इस प्रकार पाश्चात्य देशों में भूमि के शीतकालीन हिमाच्छादन के कारण बीजों को स्वतः निम्नतापक्रम प्राप्त हो जाता है। परन्तु कृत्रिम रूप से भी बीजों को निम्नतापक्रम पर रख कर ऐसे प्रयोग किए गये हैं और परिणाम वही निकला है जो स्वाभाविक हिमाच्छादन द्वारा होता है, (गैसनर १९१८; लाइसेन्को, १९२८; ग्रेगरी और पर्विस, १९३३ आदि)। अतः निम्नतापक्रम प्रयुक्त करके इस बात का प्रयत्न किया गया कि शरद्-धान्य को बसन्ती-धान्य की भांति व्यवहार करने को बाध्य किया जाय और इसी कारण इस क्रिया का नाम 'बसन्तीकरण, (Vernalization) पड़ा। इस बात को ध्यान रखना चाहिये कि इस क्रिया द्वारा शरद्-धान्य को बसन्ती-धान्य के समान व्यवहार करने को बाध्य किया जा सकता है, परन्तु इससे शरद्-धान्य को बसन्ती-धान्य में बदला नहीं जा सकता, जैसा कि कुछ लोगों की धारणा है।

इस क्रिया के वैज्ञानिक अन्वेषण के पूर्व भी, इसका व्यावहारिक प्रयोग होता था। मैककिनी (१९४०) ने ओहियो के क्लिपर्ट नामक व्यक्ति का वर्णन किया है जो १८५७में इस प्रकार की क्रिया में सफल हुआ था। क्लिपर्ट के भी २० वर्ष पूर्व इस प्रकार की क्रिया के प्रयोग का वर्णन मिलता है। परन्तु इसको वैज्ञानिक आधार अभी हाल ही में प्राप्त हुआ है, विशेषकर लाइसेन्को (१९२८-१९३४) के कार्यों द्वारा। 'रशन' भाषा में बसन्तीकरण का समानवाची शब्द **'jarovizatie'** है जिससे अँग्रेजी शब्द **'Vernalization'** उद्भूत हुआ है।

सिद्धान्त

सर्व प्रथम 'विकास-प्राणकी' (Developmental Physiology) पर काम क्लेब्ज (१९१८) ने प्रारंभ किया। उनके अनुसार वृद्धि की प्रथम अवस्थाओं में 'ताप' और 'प्रकाश' विशेष उपादान हैं, जिनका प्रभाव पड़ता है और इतर अवस्थाओं में नाइट्रोजन, जल, 'कार्बोहाइड्रेट' भोजन आदि अपना विशेष प्रभाव रखते हैं। गैसनर

*"भाक्रमवाद" भाग ७६ संख्या में (अक्टूबर १९५३) के विज्ञान में प्रकाशित हुआ था।

(१६१८), जो 'ताप' को अधिक महत्व देता है, इस निर्णय पर पहुँचा कि :

१. शरद-पौधों को निम्न तापक्रम पर उगाने से उनमें 'शीत क्षमता' (winter hardiness) बढ़ जाती है।

२. निम्नतापक्रम पुष्प-निर्माण के लिए एक आवश्यक उपादान है।

३. निम्न तापक्रम पर पौधों के उत्पादन से उनमें 'शर्करा' की मात्रा बढ़ जाती है।

'मैक्सी-मोव' ने भी 'गैसनर' के आधार पर ही प्रयोग किए जो कि केवल प्रयोगशालाओं तक ही सीमित थे, क्योंकि उसने छोटे-छोटे अंकुरों के साथ ये प्रयोग किए थे, जिनका बड़ी मात्रा में खेतों में प्रयोग करना कठिन था। टोमासीव (१६२६) ने इस कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न किया और उसने बीजों को 'आंशिक सिक्त' (Partial soaking) करके उन्हें शून्य अंश पर दो माह तक रक्खा। इससे बीज जाग्रत तो हो जाते हैं पर उनमें वृद्धि नहीं होने पाती। इस प्रकार पानी की मात्रा पर नियंत्रण रखने से बीजों को बहुत काल तक जाग्रत होते हुए भी, अंकुरित होने से रोका जा सकता है।

यद्यपि क्लेब्ज (१६१८) ने पौधों में 'अवस्थायि-वृद्धि' (Phasic development) का विवेचन किया था, परन्तु यह बात तब तक स्पष्ट न हुई जब तक कि 'लाइसेन्को' (१६३४) के सिद्धान्त सामने न आये। 'लाईसेन्को' ने पौधों में ५ 'वर्धमान अवस्थाओं' की कल्पना की है, जिसमें से केवल ३ ही ज्ञात हो सके हैं। 'लाइसेन्को' के अनुसार पौधों में वृद्धि (Growth) के लिए यह आवश्यक है कि बीज में वृद्धि के लिए आवश्यक उपादान संचित हों, अर्थात् बीज का पूर्ण 'विकास' (Development) हो चुका हो। अतः इसके अनुसार, 'विकास' और 'वृद्धि' दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। पौधों में दो प्रकार की प्रधान वृद्धि देखने में आती है : एक तो 'वर्धि-वार्धक्य' (Vegetative growth) और दूसरे 'प्रजनन-वृद्धि' (Reproductive growth) इन दोनों प्रकार की वृद्धियों के लिए भिन्न-भिन्न उपादानों और अवस्थाओं की आवश्यकता होती है, परन्तु इन 'अवस्थाओं' का क्रमपूर्वक होना अत्यावश्यक है। जब तक पूर्व की 'अवस्था' समाप्त न हो जाएगी, पश्चात की कोई 'अवस्था' नहीं उत्पन्न हो सकती। इन 'अवस्थाओं' में—

१. 'ताप अवस्था' (Thermophase)

२. 'भा अवस्था' (Photophase)

३. जनन-अवस्था' (Gametogenesis phase)

ही ज्ञात हैं। 'जनन अवस्था' के लिए आवश्यक उपादानों का ज्ञान अभी नहीं हो पाया है। शेष दो अवस्थाएँ—'ताप'—और 'भा'—ही वर्तमान 'वसन्तीकरण' और 'भा-क्रमवाद' के विज्ञान की पृष्ठ भूमि हैं। पौधों के जीवनकाल में कुछ निश्चित ताप और प्रकाश की आवश्यकता होती है। यदि इसे हम किसी प्रकार पौधों में प्रयुक्त कर सकें तो पौधे बिना किसी बाह्य-उपकरणों पर आश्रित हुए अपनी वृद्धि को पूरा कर लेंगे। अतः अब प्रश्न यह रह जाता है कि किस प्रकार इन 'अवस्थाओं' को पौधे में दिया जाय ? 'सुप्त भ्रूण' (Dormant embryo) को इन अवस्थाओं से प्रयुक्त करना अर्थहीन है। अतः 'जाग्रत-भ्रूण' (Active embryo) ही इन अवस्थाओं को ग्रहण कर सकता है। बीजों को पानी में भिगोकर भ्रूण को जाग्रत किया जा सकता है और साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि अंकुर न बढ़ने पाए। इसीलिए 'टोमासीव' (१६२६) की विधि अर्थात् 'आंशिक-सिक्तता' का प्रयोग किया जाता है। हम जानते है कि 'विकास' और 'वृद्धि' भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। अतः 'वृद्धि' को न्यूनतम रखते हुए भी पौधे को अपनी सम्पूर्ण जीवन-क्रियाओं के लिए विकसित किया जा सकता है यदि जाग्रत भ्रूण को पौधे के लिए आवश्यक 'ताप' और 'प्रकाश' की मात्रा प्रदान कर दी जाय, तो फिर पौधा 'ताप' और 'प्रकाश' निरपेक्ष होकर बढ़ता है। यदि केवल 'ताप' ही प्रदान किया जाय तो पौधे की केवल 'ताप-अवस्था' ही पूरी हो पाती है, जिससे पौधा अपने शेष जीवन में ताप-निरपेक्ष होते हुए भी 'प्रकाश' की मात्रा पर आश्रित रहेगा। वसन्तीकरण की क्रिया में जाग्रत-भ्रूण को आवश्यक ताप देकर उसकी 'ताप-अवस्था' पूरी की जाती है, जिससे वह पौधा, अपनी एक अवस्था भ्रूण में ही समाप्त कर देने के कारण, शीघ्र ही बढ़ कर पुष्पित होने लगता है।

ताप की आवश्यकता के अनुसार भी पौधों में दो

श्रेणियाँ देख पड़ती हैं कुछ पौधों, यथा घास-वर्ग और धान्य-वर्ग को 'निम्नताप' की एक अवस्था समाप्त करना आवश्यक होता है, जब कि सोयाबीन, कपास, आदि के लिए एक उच्च-ताप की अवस्था आवश्यक होती है।

विधान

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि ऐसे देशों में जहाँ भूमि वर्ष में कुछ काल तक हिम से ढकी रहती है, बोये गये बीजों को स्वतः ही निम्नताप प्राप्त हो जाता है। इस क्रिया को वैज्ञानिक ढंग से कृषि-योग्य परिमाण पर करने का प्रयत्न रूस में ही हुआ है। वहाँ पर विशेष प्रकार के 'बसन्तीकरण-केन्द्र' खोले गए, जहाँ पर बीजों का बसन्तीकरण करके उन्हें कृषकों में वितरण किया जाता था। रूस में बसन्तीकरण की क्रिया आसानी से हो जाती थी। आंशिक-सिक्त बीजों को उत्तर की ठंडी हवाओं के सामने फैला दिया जाता था। इससे किसी प्रकार के व्यय की भी आवश्यकता नहीं थी। एम० ए०, ऑल्फोविकोव ने कुछ आँकड़े प्रस्तुत किए हैं जिनसे १९३२ से १९३७ तक हुए, बसन्तीकरण-युक्त बीजों के वपन की वृद्धि पर प्रकाश पड़ता है:—

वर्ष	बसन्तीकरण-युक्त बीजों से वपित भूमि—एकड़ में
१९३२	४३,०००
१९३३	२००,०००
१९३४	६००,०००
१९३५	२,१००,०००
१९३६	५,०००,०००
१९३७	१०,०००,०००

परन्तु अर्वाचीन आँकड़ों के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि अब रूस में इसकी क्या अवस्था है।

रूस के अतिरिक्त अन्य देशों ने बसन्तीकरण के केवल सैद्धान्तिक आधार के अन्वेषण तक ही अपने को सीमित रक्खा है, यद्यपि सेन (१९४०) ने भारतवर्ष में 'बसन्तीकरण-केन्द्र' स्थापित करने की ओर इङ्गित किया था। इसी कारण अन्य देशों में वैज्ञानिकों ने विद्युत चालित स्वनियंत्रित शीतक यंत्रों का उपयोग किया है, क्योंकि उन्हें केवल प्रयोग के लिए थोड़ी मात्रा में बीजों का बसन्तीकरण करना था। 'रेफ्रीजरेटर' ऐसे प्रयोगों के लिए विशेष काम में लाया जाता है। पहले बीजों को पानी में इतनी देर तक भिगोया जाता है कि वे अपने भार का ३०% जल सोख लें। फिर उन बीजों को शोषक कपड़ों में रखकर अतिरिक्त जल सुखा लिया जाता है। इसके बाद उन्हें गीले मोटे कपड़े के थैलों में बन्द करके 'रेफ्रीजरेटर' में रख दिया जाता है। 'रेफ्रीजरेटर' का तापक्रम इच्छित अंश पर नियंत्रित कर दिया जाता हैं। भिन्न-भिन्न बीजों के लिये निम्नताप के भिन्न-भिन्न अवधि की आवश्यकता होती है; उतनी अवधि के बाद बीजों को 'रेफ्रीजरेटर' से निकाल कर बो दिया जाता है।

सेन और चक्रवर्ती (१९३८) ने थोड़े बीजों के बसन्तीकरण के लिए नये ढंग का प्रयोग बताया है। जहाँ विद्युत शक्ति न हो, वहाँ मिट्टी के तेल से चालित शीतक-यन्त्र काम में लाए जा सकते हैं। बीजों को नम रखने के लिए विशेष 'आर्द्र-वेश्म' (Moist Chambers) की आवश्यकता पड़ती है। ये वेश्म किसी भी लकड़ी की सामान्य सन्दूक से बनाए जा सकते है। अधिक बीज होने पर यह आवश्यक होता है कि उनके 'श्वसन' (Respiration) क्रिया द्वारा उद्भूत 'कार्बन-डाई-ऑक्साइड' को हटा दिया जाय और इसे 'आर्द्र वेश्म' में एक 'पोटैशियम हाइड्रॉक्साइड' से भरा प्याला रखकर पूरा किया जाता है। (सेन और चक्रवर्ती, १९४२) जहाँ बहुत थोड़े बीजों के बसन्तीकरण की आवश्यकता हो, वहाँ चौड़े मुँह वाले 'थरमस' बोतल से भी काम चलाया जा सकता है (सेन और चक्रवर्ती, १९४२) लेखक ने अपने प्रयोगों में एक विशिष्ट 'बर्फ-सन्दूक' (Ice-box) का प्रयोग किया था, परन्तु इसमें तापक्रम ०° से ५° तक ही बना रहता है। प्रतिदिन बर्फ को सन्दूक में भरना पड़ता है, जिससे बीजों को नई वायु और उनके द्वारा इकट्ठी 'कार्बन-डाई-ऑक्साइड' में विनिमय हो जाता है।

यदि बसन्तीकरण का संकुचित अर्थ लिया जाय तो यह केवल "वपन के पूर्व बीजों को निम्नताप क्रम-प्रयुक्त करने की क्रिया" को कहते हैं, परन्तु विस्तृत अर्थ में इसका प्रयोग उन सभी क्रियाओं के लिए होता है जो "बीज निर्माण के पूर्व या पश्चात् भ्रूण पर प्रयुक्त की जाती हैं, जिनसे पौधे का 'वर्धि-काल' (Vegetative period) छोटा हो जाता है।" इस परिभाषा के अनुसार और भी क्रियाएँ यथा

'उच्चताप' और 'अनुभा' आदि उपादानों को भ्रूण पर प्रयुक्त करने को भी 'बसन्तीकरण' ही कहा जायगा।

'उच्च तापक्रम' (High temp) द्वारा बसन्तीकरण के विधान का वर्णन रडॉफ, शेल्जनर, और हार्टिश (१९३७) ने किया है, जो सोयाबीन जैसे पौधे पर हो सकता है। उच्च तापक्रम पर बसन्तीकरण करने से दो विशेष असुविधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं :—

१—बीजों के अंकुरों की असामान्य वृद्धि,

२—फफूंदी और वेत्राणुओं (Fungi and Bacteria) की वृद्धि।

अतः उपर्युक्त वैज्ञानिकों के अनुसार इन दोनों वृद्धियों को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि बीजों में जल की मात्रा पर पूर्ण नियंत्रण हो तथा बीजों को अंधकार में सतत गतिशील रक्खा जाय।

भारतवर्ष में 'उच्च तापक्रम' द्वारा बसन्तीकरण धान के पौधे पर 'परिजा' (१९४३), 'हिदायतुल्ला' और 'सेन' (१९४१), 'कार' और 'अधिकारी' (१९४५) तथा हिदायतुल्ला और घोष (१९४६) द्वारा दिखाया जा चुका है। प्रायः भीगे बीजों को 'आटॉक्लेव' नामक यन्त्र में रखकर उच्चताप दिया जाता है।

अंकुरों को 'अनुभा' काल प्रदान करके उनका बसन्तीकरण करने की विधि का वर्णन 'सरकार' (१९४४) द्वारा हुआ है। धान के अंकुर, जो पोषक-क्यारियों (Nursery beds) में लगाए जाते हैं, भिन्न-भिन्न प्रकाश-काल में रक्खे जाते हैं। जिन पौधों को कम प्रकाश-काल प्रदान किया जाता है, वे अन्य पौधों की अपेक्षा शीघ्र पुष्पित होने लगते हैं। 'रूपसेल-धान' पर किए गए इस प्रकार के प्रयोग द्वारा पौधों का वर्धि-काल १३३ से घट कर ४७ दिन ही रह गया (सरकार और परिजा, १९४५)। यद्य पि इस क्रिया को 'अनुभा द्वारा बसन्तीकरण' कहते हैं, परन्तु वास्तव में यह 'भाक्रमवाद' के अन्तर्गत है, जैसा कि इसके 'अन्तरानुरसीय-व्याख्या' से स्पष्ट होता है (सरकार १९४८)।

पौधे में लगे अपक्व बीजों का भी निम्नताप द्वारा बसन्तीकरण किया जा सकता है। कॉट्जु-सेन्को व जारूबेलॉ (१९३५, १९३६, १९३७) ने एक 'शरद-गेहूँ' को दो स्थानों पर, एक उत्तरी शीत स्थान हिबनी (उत्तरी अक्षांश ६७° ४४′) तथा दूसरा उष्ण स्थान किरोवॉबाद (उ० अ० ४०° ४१′); बोया। हिबनी में पके गेहूँ के दानों को फिर उसने किरोवॉबाद में बोया, तो वे 'शरद गेहूँ' के स्थान पर 'बसन्ती गेहूँ' सा व्यवहार करने लगे अर्थात् हिबिनी के शीत के कारण उनका स्वतः बसन्तीकरण हो गया था। इस शीत का प्रभाव भ्रूण पर उसी समय तक हो सकता है जब तक सुप्तावस्था को नहीं प्राप्त कर लेता। ग्रेगरी और पर्विस (१९३५, १९३६) ने भी इस प्रकार के प्रयोग किए और उन्हें यथेष्ट सफलता मिली। उन्होंने कृत्रिम रूप से निम्नताप पौधों के अपक्व बीजों पर प्रदान किया। इसकी दो विधियाँ हैं।

(१) पौधे की बालियाँ डंठल के साथ तोड़कर पानी के साथ रेफ्रीजरेटर में आवश्यक समय तक १° से० पर रक्खी जाती हैं। नियंत्रित बालियाँ भी इसी प्रकार एक अंधेरे स्थान में पकने तक रख दी जाती हैं। बसन्तीकृत बालियाँ समय के उपरान्त निकाल कर पकने को छोड़ दी जाती हैं।

(२) दूसरी विधि में बालियाँ, जो पौधे में ही लगी रहने दी जाती हैं, एक शीशे की नली से ढक दी जाती हैं और उस नली को "थरमस" के अन्दर बन्द कर दिया जाता है। नियंत्रित बालियाँ भी इसी प्रकार 'थरमस' से ढक दी जाती हैं परन्तु इनके 'थरमस' में बरफ नहीं रक्खी जाती।

दोनों ही विधियों के परिणाम सफल हुए थे। उन्होंने (१९३८) यह ही पता लगाया कि भ्रूण की प्रारम्भिक अवस्था में निम्नताप का प्रभाव तीव्रतम होता है और भ्रूण की वृद्धि के साथ साथ यह घटता जाता है यहाँ तक कि पक्व और सुप्त भ्रूण पर कोई प्रभाव नहीं होता।

परिणाम

बसन्तीकरण का सबसे स्पष्ट प्रभाव पुष्पोद्भव पर होता है। रूस जैसे देश में इस विधि द्वारा 'शरद धान्य' को 'बसन्त धान्य' में बदल कर लगभग एक वर्ष के समय की बचत की जाती है। अन्य देशों में केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही इस पर प्रयोग किए गए हैं। इसमें से प्रमुख प्रयोग ब्रिटेन में बेल (१९३५, १९३६), ग्रेगरी और पर्विस (१९३४–), नटमैन (१९३९, १९४१) आदि; अमेरिका में मैककिनी व सैण्डो (९३३), लोजिन

(१९३६) आदि तथा भारतवर्ष में सेन व चक्रवर्ती (१९४०-), सेन गुप्ता व सेन (१९४४), मूर्ति व पिल्ले (१९४१,'४४), सरकार व परिजा (१९४५), पार्थ सारथी (१९४०), चिनाय (१९४२-), पाल व मूर्ति (१९४१) द्वारा हुए हैं।

ग्रेगरी और पर्विस (१९३८) ने यह सिद्ध कर दिखाया कि बसन्तीकरण की क्रिया में केवल वृद्धिबद्धता, (Growth inhibition) ही कारण नहीं है, प्रत्युक्त निम्न तापक्रम ही प्रमुख कारण है। उन्होने अन्य प्रकारों से वृद्धि रोक कर यह प्रयोग किया और परिणाम असफल रहे।

प्रायः यह विचार कि कोई पुष्पीय अन्तरानुरस बीजान्तरंग (Endosperm) में उत्पन्न होकर भ्रूण में जाता है, ग्रेगरी और पर्विस द्वारा असत्य सिद्धकर दिखाया गया है। विलग्न भ्रूण (Excised embryo) का भी बसन्तीकरण हो जाता है यदि उन्हें आवश्यक 'कार्बोहाइड्रेट' प्रदान किया जाय। उनके अनुसंधनो का सारांश यह है :—

(१) पुष्पोत्पत्ति के लिये आवश्यक काल्पनिक पदार्थ बीजान्तरंग में उत्पन्न होकर भ्रूण में नहीं जाता, क्योंकि बीजान्तरंग से अलग किए गए भ्रूणों का भी बसन्तीकरण होता है।

(२) उच्चताप द्वारा बसन्तीकृत बीजों का प्रतिबसन्तीकरण (Devernalization) किया जा सकता है। बसन्तीकृत बीजों को ६ सप्ताह तक सुखाने से भी उनका प्रति-बसन्तीकरण हो जाता है (ग्रेगरी व पर्विस, १९३८)।

(३) पुष्पीय अन्तरानुरस के उत्पादन में एक ओषदीकरण की क्रिया अवश्य होती है, क्योंकि ऑक्सीजन विहीन होने पर बीजों का बसन्तीकरण नहीं होता।

पुष्पीय अन्तरानुरस पर विशेष अनुसंधान हुआ है, पर अभी तक कोई ऐसे पदार्थ का ज्ञान नहीं। एवरी, बर्जर व शलूचा (१९४१) ने मक्के में इस प्रकार के एक पूर्वस्थ (Precursor) का पता लगाया था। बर्जर व एवरी (१९४४) ने इस पूर्वस्थ का पृथकीकरण भी किया। चक्रवर्ती (१९५१) ने लिखा है—"निम्नताप की क्रिया द्वारा एक स्वक्रियाशील (Autocatalytic), ताप-अप्रभावित (thermo stable) पदार्थ 'अ' उत्पन्न होता है, जो क्रिया की अवधि के साथ-साथ बढ़ता जाता है जब तक कि उच्चतम नहीं पहुँच जाता। यह पदार्थ 'अ' एक दूसरे पदार्थ 'ब' के निर्माण को गति देता है। जो ('ब') काण्ड-अग्र (Shoot tip) में उच्चतम घनत्व पर पहुँच पर या तो पुष्पोद्भव के लिए हानिकर पदार्थों को नष्ट करता है या स्वयं एक तीसरे पदार्थ 'स' में बदल जाता है जो पुष्पोत्पत्ति के लिए सहायक होता है।" परन्तु ये केवल कल्पना मात्र ही हैं वास्तव में वह दिन जब हम उस पदार्थ का पता लगा सकेंगे जिससे कि फूल निकलते है, बहुत ही महत्व का होगा। फिर हमें प्रकृति के उपर निर्भर होकर यह न देखना पड़ेगा कि गर्मी आए तो गेहूँ पके या जाड़े आएँ तो हमारे उद्यान के फूल खिलें !!

बसन्तीकृत पौधों में तुषार-निरोधता (Frost-resistance) क्षीण हो जाती है (वासिल्जर १९३४; कूपरमैन १९१६, कूपरमैन व जॉडन्कीव १९३६, साल्टीकॉवॉस्की व सैप्रीगिना १९३५)। कुछ लोगों का कहना है कि बसन्तीकृत पौधों में 'भा-काल' (Photo-phage) प्रारंभ होने पर उनकी तुषार-निरोधता क्षीण होने लगती है। दूसरे लोग मानते हैं कि तुषार-निरोधता तभी क्षीण होती है जब पौधे 'भा-काल' के अनुकूल अवस्था में उगाए जाते हैं। टुमानोव (१९३५) ने इसके विपरीत यह दिखाया कि 'भाकाल' के प्रतिकूल अवस्था में उगाने पर भी पौधे की तुषार-निरोधता क्षीण हो जाती है। कूपरमैन (१९३६) ने बसन्तीकृत पौधों में क्षीण तुषार-निरोधता का कारण उनमें शर्करा की न्यूनता को माना है, परन्तु टुमानोव व फेडरोवा ने यह सिद्ध कर दिखाया कि बसन्तीकृत पौधों में शर्करा की न्यूनता अधिक से अधिक १०% होती है जो उसकी क्षीण-तुषार-निरोधता के लिए यथेष्ट नहीं।

कोनोवालोव (१९३६,) तथा कोनोवालोव व पोपोवा (१९४१) ने यह स्पष्ट कर दिया कि बसन्तीकृत पौधों में 'भा-संश्लेषण' (Photosynthesis) की क्रिया तीव्र होती है। पश्चात कोनोविलाव (१९४४) ने देखा कि बसन्तीकरण का भा-संश्लेषण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं

होता। परन्तु परोक्ष रूप से अन्य बातें इस पर प्रभाव डालती हैं, यथा :

(१) पत्तियों की संख्या : जो बसन्तीकृत पौधों में शीघ्र और अधिक संख्या में उत्पन्न हो जाती हैं।

(२) पत्तियों की जीवन-अवधि : न्यून हो जाती है। वे शीघ्र ही अपने पूर्ण आकार में आ जाती हैं।

(३) शाखाओं की संख्या घट जाती है।

ग्रेगरी व पर्विस (१६३४) ने 'न्यूनतम पत्र सिद्धान्त' को जन्म दिया जिसके अनुसार 'अनुभा' अवस्था के पौधों में पुष्पोत्पत्ति के पूर्व कम से कम २२ पत्तियों का निकलना आवश्यक था। 'अंतिभा' पौधों में; वे पौधे जो निम्नताप पर अंकुरित किए जाते हैं, कम से कम १२ पत्तियाँ रखते हैं तथा वे जो उच्च ताप पर अंकुरित होते हैं, २२ से २५ पत्तियाँ तक रखते हैं। उनके अनुसार बसन्तीकृत पौधों में यह 'न्यूनतम पत्र संख्या' (Minimum leaf number) शीघ्र पहुँच जाती है।

कोनोविलाव (१६३६) ने यह भी दिखाया कि बसन्तीकृत पौधों में शुष्क-पदार्थ (Dry-matter) की मात्रा अधिक होती है। परन्तु बाद के प्रयोगों से यही सिद्ध होता है कि इसकी मात्रा घट जाती है (सेन व चक्रवर्ती सिंह १६५३)। लेखक के प्रयोगों से भी यही परिणाम निकला है।

कोनोविलाव ने यह भी पाया कि बसन्तीकृत पौधों में दानों का उत्पादन (Grain yield) बढ़ जाता है। दाने बड़े अच्छे और अधिक होते हैं, परन्तु शाखाओं की संख्या कम हो जाने से बालियों की संख्या भी घट जाती है, जिससे पूर्ण-उत्पादन (Total yield) में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। ग्रेगरी (१६४२) के प्रयोग भी इसी बात का समर्थन करते हैं। इसमें दाने का उत्पादन जौ में १०%, आटे में ५% वृद्धि से अधिक नहीं था।

जैकीवा (१६३६) ने बसन्तीकृत पौधों की पत्तियों की पर्ण-हरित (Chlorophyll) की मात्रा का पता लगाया जिससे ज्ञात हुआ कि सामान्य पौधों में बसन्तीकृत पौधों में इसकी मात्रा अधिक होती है। बसन्तीकृत पौधों से इसकी मात्रा ६ मिलीग्राम प्रति ग्राम पत्ती होती है जब कि सामान्य पौधे में केवल ३ या ४ मिलीग्राम प्रति ग्राम पत्ती।

बसन्तीकृत पौधों के 'शुष्क-निरोधता' (Draught Resistance) से सम्बन्ध पर भी कार्य हुआ है। यह कार्य प्रायः भारतवर्ष में ही हुआ है। चिनाय (१६४३) ने गेहूँ पर ऐसे प्रयोग किए हैं। हाल में सिंह (१६५३) ने भी गेहूँ और जौ पर इस प्रकार के प्रयोग किए हैं। इन सब से ज्ञात हुआ है कि बसन्तीकरण से पौधों के पानी की आवश्यकता कम हो जाती है और वे अधिक 'शुष्क निरोधी' बन जाते हैं।

संक्षेप

बसन्तीकरण पौधों में पुष्पोत्पत्ति को शीघ्रता प्रदान करने वाले कारणों में से प्रमुख है। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से ग्रेगरी और पर्विस द्वारा इस पर प्रचुर काम हो चुका है, फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से इसकी उपादेयता संदेहास्पद है। केवल रूस को छोड़ कर जहाँ इसके व्यावहारिक मूल्य को महत्व दिया जाता है, अन्य किसी देश में आर्थिक दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं।

सांख्यकी (Statistics) की उन्नतिशील महत्ता

सुशील कुमार सिंह, एम० एस-सी०, लखनऊ

भारत में सांख्यकी का प्रचार हुये अभी अधिक समय नहीं हुआ। इस विद्या की महत्ता तथा आवश्यकता दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। आज शायद ही कोई विषय बचा हो जिसने अपने प्रयोगों से इसका सहारा न लिया हो। सांख्यकी को नियोजन तथा सामाजिक भलाई का शक्ति-गृह (Power house of planning & social welfare) कहा जाय तो अनुचित न होगा।

सांख्यकी वास्तव में तो अंकों की ही विद्या है। गणित में परिणाम बिलकुल यथार्थ रूप में होते हैं जब कि सांख्यकी उपसादन (Approximation) का ही प्रयोग करती है। सांख्यकी की यों तो बहुत प्रकार से परिभाषा की गई है परन्तु साधारण रूप में कहा जा सकता है कि "Statistics are facts stated in figures"

एक अंक-विशेषज्ञ का कार्य बिलकुल एक चित्रकार के सदृश्य होता है। चित्रकार किसी वृक्ष का चित्र अंकित करते समय अलग-अलग एक-एक पत्ती न बना कर पूरे वृक्ष को रँगता है। इसी प्रकार सांख्यकी में भी व्यक्तिगत वस्तुओं की उपेक्षा कर दी जाती है।

सांख्यकी के कार्य करने की पद्धति को सांख्यकीय विधि (Statistical Method) अथवा सांख्यकीय यान्त्रिकी (Statistical Mechanics) कहते हैं। एक सांख्यक या अंक-विशेषज्ञ के इन विधियों का पूर्ण ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। इस विज्ञान का उपयोग वह भली-भांति तब ही कर सकेगा जब सांख्यकीय यान्त्रिकी के साथ-साथ अपने अनुभव व साधारण बुद्धि का भी प्रयोग करे। अन्यथा कभी-कभी भ्रमपूर्ण परिणामों पर पहुँच जाने की सम्भावना रहती है। एक बहुत ही निपुण व्यक्ति ही इस विज्ञान को उपयोगी बना सकता है।

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि "संख्यायें मिथ्यावाद की ऊति है।" (Statistics are tissues of falsehood) वास्तव में बात ऐसी नहीं है। इस उक्ति के लिये एक अशिक्षित व अनिपुण मन ही उत्तरदायी है। ऐसा कह देने मात्र से विज्ञान को ही व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ औषधियों का उपयोग गलत किया जा सकता है परन्तु इससे न तो उनकी उपयोगिता ही नष्ट हो जाती है और न औषधि-विज्ञान ही असार हो जाता है। इसी प्रकार एक अशिक्षित व्यक्ति द्वारा निकाले भ्रमपूर्ण परिणामों को देख कर इस विज्ञान को ही निरर्थक कह देना उचित नहीं होगा।

अंक धोखा कैसे देते हैं, यह देखने के लिये कुछ उदाहरण देखिये। एक विद्यालय में ५० बालक व २ बालिकायें विद्या ग्रहण करते हैं। परीक्षा में २५ बालक व दोनों बालिकायें सफल हो जाती हैं। विद्यालय का प्रिन्सीपल यह कह सकता है कि उसके विद्यालय में ५०% बालक तथा १००% बालिकायें पास हो गईं। अतः बालिकाओं का परीक्षा-फल बालकों की अपेक्षा बहुत ही अच्छा रहा। बालिकायें, बालकों की अपेक्षा अधिक चतुर व तीव्रबुद्धि होती है। अंकों की दृष्टि से बिलकुल सत्य है। परन्तु कितना भ्रमपूर्ण परिणाम है। क्या यह सांख्यकी (Statistics) की अयोग्यता है? नहीं, ऐसा नहीं है। यह तो परिणाम निकालने वाले की गलती है कि उसने एक विशेष परिस्थिति कि 'विद्यालय में लड़कियां तो केवल दो ही थीं' का बिलकुल विचार नहीं किया।

दूसरा उदाहरण और देखिये। एक गांव की आय सम्बन्धी Survey के आंकड़े निम्न प्रकार निकले। गांव की कुल जन-संख्या ६०१ थी जिनमें से एक व्यक्ति ५००० रु० मासिक आय वाला लखपति था।

Frequency (बारबरता)	Income (आय)	Total (कुल)
४०० व्यक्ति	५०/ प्रति माह	२००००/
१०० ,,	१५०/ ,,	१५०००/
१०० ,,	२००/ ,,	२००००/
१ ,,	५०००/ ,,	५०००/
६०१		६००००/

अतः औसत आय १००/- प्रति व्यक्ति प्रति माह। इन आँकड़ों के आधार पर कोई भी व्यक्ति कह सकता है कि गाँव की आर्थिक दशा अच्छी है, लोग बहुत ही सुखी हैं। परन्तु वास्तव में तो २/३ जनता को ५०) मासिक आय है। यहाँ फिर आवश्यकता है उस विशेष परिस्थिति को विचार करने की। इस प्रकार की स्थति में निपुण अंक-विशेषज्ञ ऐसी असामान्यताओं को अलग निकाल देने के पश्चात् ही आगे बढ़ने का प्रयत्न करेगा।

अब हमें जरा यह भी विचार करना है कि इस विज्ञान का दूसरे विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है और किस प्रकार उनको सहायता देता है। एक समाजशास्त्री, (Sociologist) मदिरा के विक्रय तथा अपराधों की संख्या के सम्बन्ध को प्रदर्शित करने का प्रयत्न कर सकता है। एक खगोल-शास्त्री (Astrologist) सांख्यकीय यान्त्रिकी का प्रयोग ग्रहण-सम्बन्धी भविष्य-कथन में करता है। जीव-शास्त्र (Biology) अपनी साधारण संज्ञाओं (Generalisations) को नियमित सूत्र में बाँध सकती है घनवातिकी (Meteorology) अपने Weather Forecasts में, मनोविज्ञान अपने सिद्धान्तों की सत्यता सिद्ध करने में और बुद्धि-माप में सांख्यकी का प्रयोग करते हैं। इतिहास ने प्राचीन सिक्कों के भार में कमी-घिसने के द्वारा-सम्बन्धी संख्याओं को एकत्र कर यह अनुमान लगाने प्रयत्न किया है कि वे कितने प्राचीन समय के हो सकने हैं। अर्थशास्त्र 'पुरातत्व' वाणिज्य-विज्ञान, भूगोल आदि २ कोई भी अंक गणना के व्यवहार से बच नहीं सकी है।

व्यापार में सांख्यकी की क्या क्रिया है यह भी एक विचार-णीय विषय है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवस्थापक के कमरे में बहुत से रेखाचित्र और सारिणी लटकी हों। संख्यायें तो केवल उसके क्रय-विक्रय, लाभ-हानि सम्बन्धी निर्णयों में सहायक हो सकती हैं। व्यापार में सांख्यकी का वास्तविक उद्देश्य व्यापारी के निर्णयों का परीक्षण मात्र है, आदिष्टि (Substitute) नहीं। (Geoffry Hey-worth) के शब्दों में

"One begins with a judgement and one ends with a judgement. The purpose of figures is to come in the middle in order to make the one with which one began."

एक उदाहरण देखिये। एक व्यापारी जूते की दूकान खोलता है। यदि वह वैज्ञानिक आधार पर अपनी दूकान चला कर अधिक मुनाफा उठाना चाहता है, तो इसके लिये वहां के निवासियों की दृष्टि से यह विचार करना आवश्यक है कि वहां किस रंग के, किस साइज के, किस डिजाइन के जूतों की अधिक मांग है और खपत हो सकती है। यह ज्ञान सही प्राप्त करने में संख्यायें ही अधिक सहायक हो सकती हैं।

आंकड़ों के एकत्रीकरण का कार्य हमारे देश में अधिकतर सरकारी विभाग ही करते हैं। इस प्रकार का सबसे बड़ा एकत्रीकरण भारत की जन-गणना है जो हर दस वर्ष बाद होती है। इसके द्वारा हम किसी भी स्थान की जनता की सेक्स, धर्म, जाति, आयु, शिक्षा शादी, पेशा आदि सम्बन्धी रेखाचित्र बना सकते हैं। कृषि विभाग अन्न उत्पादन तथा अन्य कृषि-सम्बन्धी आंकड़ों को प्रस्तुत कर खाद्यान्न की स्थिति को निरीक्षण करने योग्य बना देता है। पशु-पालन-विभाग पशुओं की बीमारियों द्वारा मरणशीलता तथा पशु-गणना, पुलिस व जेल विभाग अपराधों तथा कैदियों सम्बन्धो आंकड़े, विद्युत विभाग शक्ति-उत्पादन तथा उसके भोग सम्बन्धी अंकों, तार व डाक विभाग रेडियो लाइसेन्स, सेविंग सरटिफिकेटस आदि सम्बन्धी संख्यायें और मारकेटिंग विभाग सोना व चांदी, अन्न आदि के मूल्यों के अंकों को हमारे सामने प्रस्तुत कर देश की स्थिति का चित्र खींच देते हैं।

अंकों के इस महत्वपूर्ण उपयोग और आवश्यकता को देखते हुये वह अनुमान लगता है कि Statistics की व्यापकता दिन पर दिन अधिक बढ़ती चली जावेगी और सम्भव है कि भविष्य में एक दिन वह आ जावे कि केवल रेखाचित्रों तथा सारिणियों पर एक दृष्टिपात करने मात्र से वैज्ञानिक बड़े-बड़े परिणामों पर पहुँच सकेंगे।

आकाश घड़ी

सोहनलाल गुप्त एम० एस-सी०, एम० ए०, लेक्चरर पी० बी० म्युनिसिपल कालेज, हरद्वार

सूर्य चंद्रमा ग्रह, और तारों से भरा आकाश प्रकृति की घड़ी है जो केवल समय ही नहीं बतलाती वरन भारतीय तिथि मास और वर्ष भी बतलाती है। मनुष्य द्वारा बनाई गई सभी प्रकार की घड़ियाँ प्रकृति की इस सच्ची-सदैव ठीक चलने वाली घड़ी से ही मिला कर ठीक की जाती हैं।

आकाश मंडल में पश्चिम-पूरब सूर्य के मार्ग पर जिसे क्रान्ति वृत्त कहते हैं बराबर अन्तर पर बारह तारा समूह पड़ते हैं जिन्हें राशि कहते है। राशि का अर्थ समूह है। राशियाँ समय का ज्ञान कराती हैं क्योंकि वे आकाशीय घड़ी पर अंकों की भाँति हैं जिसकी सुइयाँ ग्रह आदि हैं। पश्चिम से पूरब की ओर जाती हुई राशियों की क्रम संख्या और नाम इस प्रकार है।

१—मेष, २—वृष, ३—मिथुन, ४—कर्क, ५—सिंह, ६—कन्या, ७—तुला, ८—वृश्चिक, ९—धनु, १०—मकर ११—कुंभ, १२—मीन।

इस नामकरण का भी कारण है। राशियों के रूप अपने नाम के प्राणियों या पदार्थों से मिलते है जिससे उनके बतलाने में सुविधा रहती है।

पृथ्वी के किसी स्थान से किसी समय जो राशि पूरब क्षितिज पर रहती है उसे लग्न कहते हैं। लग्न का अर्थ है लगा हुआ, मिला हुआ या कटा हुआ। पृथ्वी के अक्ष भ्रमण के कारण चौबीस घंटों में लग्न पश्चिम से पूरब की ओर चलती हुई राशि चक्र का चक्कर पूरा कर लेती है अतः प्रत्येक राशि की लग्न लगभग दो घन्टे के लिए रहती है। पृथ्वी के अक्ष के भूकक्षा कर लंब न होने के कारण दिनरात छोटे बड़े होते रहते है और राशि लग्न का काल दो घंटे से कुछ घटता बढ़ता रहता है। यह परिवर्तन ऋतुओं के साथ मेल खाता है। बसन्त और शरद संपात के दिनों में जब दिन और रात बराबर होती है प्रत्येक राशि की लग्न भी ठीक दो घंटे की होती है। राशि या लग्न के आधे भाग को होरा कहते है जो अहो-रात्रि के बीच के अक्षरों से बना है। इसी से घंटे का यूरोपीय शब्द अवर (Hour) निकला है। लग्न आकाशीय घड़ी पर घंटे की सुई का काम करती है। रात्रि में समय जानने के लिए देखो कि सायंकाल की लग्न राशि कितनी राशियाँ ऊपर उठ गई है। इस राशि संख्या को दो से गुणा करने पर रात्रि के बीते घंटे मिलेंगे।

आकाश घड़ी पर महीना बतलाने वाली एक सुई सूर्य है जो सौर मास देता है। पृथ्वी के कक्षा भ्रमण के कारण राशि-चक्र पर सूर्य एक वर्ष में घूम लेता है। एक राशि में वह एक महीना रहता है। किसी राशि में सूर्य का प्रवेश काल उस राशि की संक्रान्ति कहलाता है। दो संक्रान्तियों के बीच का काल सौर मास है। पंजाब और बंगाल में जनसाधारण में सौर मासों का ही चलन है। सौर मासों ने चांद्र मासों के नाम इस प्रकार ले लिए हैं।

सूर्य राशि	सौर मास	सूर्य राशि	सौर मास
मेष	वैशाख	तुला	कार्तिक
वृष	जेष्ठ	वृश्चिक	मार्गशीर्ष
मिथुन	आषाढ़	धनु	पौष
कर्क	श्रावण	मकर	माघ
सिंह	भाद्रपद	कुंभ	फाल्गुन
कन्या	आश्विन	मीन	चैत्र

चूँकि सूर्य के प्रकाश में राशियाँ छुपी रहती हैं अतः सूर्य की राशि स्थिति सूर्योदय के ठीक पहले उदय राशि या सूर्यास्त के ठीक बाद अस्तराशि को देखकर जान सकते हैं।

चांद्रमास और तिथियों को बतलाने वाली सुई चंद्रमा है जो राशिचक्र का एक चक्कर सत्ताइस दिनों में पूरा कर लेता है। अतः चंद्रमा की एक दिन की गति को इकाई मान कर क्रान्तिवृत्त पर तथा उसके पास के तारों के सत्ताइस

भाग किए गए। प्रत्येक भाग को नक्षत्र नाम मिला है। एक नक्षत्र में चन्द्रमा एक दिन रहता है। प्रत्येक राशि में सवा दो नक्षत्र पड़ते हैं। नक्षत्र या तो राशियों के अन्त-भाग या उसके पास कुछ उत्तर या दक्षिण में तारापुंज हैं। नक्षत्रों का राशियों से संबंध इस प्रकार है:—

राशि	नक्षत्र
१—मेष—	(१) अश्विनी, (२) भरणी, (३) कृत्तिका ¼
२—वृष—	कृत्तिका ¾, (४) रोहिणी, (५) मृगशिरा ½
३—मिथुन—	मृगशिरा ½ (६) आर्द्रा, (७) पुनर्वसु ¾
४—कर्क—	पुनर्वसु ¼, (८) पुष्य, (९) अश्लेषा।
५—सिंह—	(१०) मघा, (११) पूर्वा फाल्गुनी, (१२) उत्तरा फाल्गुनी ¼
६—कन्या—	उत्तरा फाल्गुनी ¾ (१३) हस्त, (१४) चित्रा ½
७—तुला—	चित्रा ½ (१५) स्वाती, (१६) विशाखा ¾
८—वृश्चिक—	विशाखा ¼, (१७) अनुराधा (१८) ज्येष्ठा।
९—धनु—	(१९) मूल, (२०) पूर्वाषाढ़, (२१) उत्तराषाढ़ ¼
१०—मकर—	उत्तराषाढ़ ¾, (२२) श्रवण, (२३) धनिष्ठा ½
११—कुंभ—	धनिष्ठा ½ (२४) शतभिषा, (२५) पूर्वा भाद्र पदा ¾
१२—मीन—	पूर्वा भाद्रपदा ¼ (२६) उत्तरा भाद्रपदा, (२७) रेवती।

सत्ताइस नक्षत्रों में बारह नाम ऐसे हैं जो चांद्रमासों के नामों से मेल खाते हैं। वास्तव में चांद्रमासों को इन नक्षत्रों से ही नाम मिले हैं। यथा अश्विनी से आश्विन, कृत्तिका से कार्तिक, मृगशिरा से मार्गशीर्ष, पुष्य से पौष, मघा से माघ, फाल्गुनी से फाल्गुन, चित्रा से चैत, विशाखा से वैशाख, ज्येष्ठा से ज्येष्ठ, आषाढ़ा से आषाढ़, श्रवण से श्रावण और भादपदा से भाद्रपद। कारण यह है कि पूर्णमासी के दिन चन्द्रमा महीने के नक्षत्र में या उसके पास के अगले या पिछले नक्षत्र में रहता है। इस प्रकार पूर्णमासी के दिन चंद्रमा का नक्षत्र देख मास ज्ञान कर सकते हैं। अन्य दिनों में मास ज्ञान सायंकाल को पूरब क्षितिज पर इन बारह नक्षत्रों में पहले उदय होने वाले नक्षत्र से होगा तथा महीने का नाम इस नक्षत्र के अनुसार होगा।

समय का ज्ञान भी नक्षत्रों से किया जा सकता है। शुक्लपक्ष में देखो कि महीने के नाम का नक्षत्र पूरब क्षितिज में कितने नक्षत्र ऊपर उठ चुका है। उतने ही घंटे रात बीत चुकी होगी। कृष्णपक्ष में उससे पहले का नक्षत्र देख इसी प्रकार जानो।

तिथि ज्ञान के लिए देखो कि गत मास के नक्षत्र से चंद्रमा कितने नक्षत्र आगे है। यदि यह अन्तर १५ से कम है तो वह कृष्ण पक्ष की तिथि देगा। यदि यह संख्या १५ से अधिक है तो उसमें से १५ घटा दो। शेष शुक्ल पक्ष की तिथि देगा। यह देखो कि चंद्रमा वर्तमान मास के नक्षत्र से कितने नक्षत्र पीछे है। यदि अन्तर १५ से कम है तो उसे १५ से घटाने पर शेष शुक्ल पक्ष की तिथि देगा। यदि अन्तर १५ से अधिक है तो उसे ३० से घटाने पर शेष कृष्ण पक्ष की तिथि देगा। दोनों विधियों के उत्तरों में कभी-कभी एक तिथि का अन्तर पड़ सकता है।

वर्ष बतलाने वाली सुइयाँ बृहस्पति और शनि हैं। एक राशि में बृहस्पति एक वर्ष और शनि ढाई वर्ष रहता है। राशि चंद्र की परिक्रमा में बृहस्पति को बारह वर्ष और शनि को तीस वर्ष लगते हैं दोनों एक स्थान से आरम्भ कर फिर बीस-बीस वर्ष बाद मिलते रहते है और साठ वर्ष बाद फिर उसी राशि में ही आकर मिलते है। अतः साठ संवत्सरों का चक्र है और बीस-बीस संवत्सरों की तीन ब्रह्मा विष्णु और महेश बीसियाँ हैं।

आगामी लेख राशियों नक्षत्रों और ग्रहों की पहचान पर होगा।

विज्ञान समाचार

दो नई कीटमार औषधियाँ

अमेरिकी कृषि विभाग के कथनानुसार, चीनी अंगूर की बेल की जड़ों से एक ऐसी नई औषधि तैयार की गयी है जिसके प्रयोग से वृक्षों को हानि पहुँचाने वाले कई प्रकार के कीड़े नष्ट हो जाते हैं।

यह औषधि ली कुंग तेंग अथवा वरुण लता की जड़ की छाल से तैयार की जाती है, और यह अमेरिका में पैदा होने वाली सब्जियों, फलों तथा वृक्षों की पत्तियों को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों को नष्ट कर देती है।

यह पौधा सर्वप्रथम १६१६ में अमेरिका लाया गया था। चीनी कृषक कुछ विशेष प्रकार के कीड़ों से अपने पौधों की रक्षा करने के लिए वर्षों से इस पौधे का चूर्ण उपयोग में ला रहे हैं।

कृषि-विभाग ने बताया है कि इस नई कीटनाशक औषधि के सम्बन्ध में अभी परीक्षण हो रहे हैं। कृषि-विभाग के रसायनशास्त्री डाक्टर मोर्टन बेरोजा जो इसके सम्बन्ध में परीक्षण कर रहे हैं, का विचार है कि यह औषधि बड़ी ही प्रभावशाली सिद्ध होगी क्योंकि कीड़े अन्य औषधियों की तरह इस औषधि का प्रतिरोध करते दिखाई नहीं पड़ते।

जब अमेरिकी कृषि-विभाग ने पौधों को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों को नष्ट करने वाली इस नई औषधि के सम्बन्ध में सूचना दी तो उधर प्रतिरक्षा-विभाग ने कोरिया में टाइफस की रोक थाम के लिये एक दूसरी औषधि के सफल प्रयोग की सूचना दी। इस औषधि का नाम 'लिंडेन' है।

कोरिया में संयुक्तराष्ट्रीय अधिकारियों ने यह पता लगा लिया है कि 'लिन्डेन' जूं जैसे कृमियों को मार देती है जब कि डी-डी-टी उसे नष्ट करने में असमर्थ है। ये कृमि टाइफस और सन्निपात ज्वर को फैलाते हैं।

जब संयुक्तराष्ट्रीय चिकित्सा दलों ने यह मालूम किया कि डी-डी-टी का जूं आदि शारीरिक कृमियों पर कोई प्रभाव नहीं होता तो प्रतिरक्षा तथा कृषि-विभागों ने वैसी कोई प्रभावशाली औषधि खोजने के लिये सम्मिलित रूप से अनुसंधान कार्य प्रारम्भ किया। ऐजवाट (मैरिलैन्ड) स्थित अमेरिकी सेना की स्वास्थ्य-प्रयोगशाला में अनुसंधानकर्ताओं ने पता लगाया कि लिन्डेन जुंओं को तो मार देती है पर उसका प्रयोग मनुष्य भी निश्शंक होकर कर सकते हैं। यह औषधि मनुष्यों के प्रयोग के लिये चूर्ण रूप में और छिड़कने के कार्य के लिये द्रव रूप में उपलब्ध है।

विनाशक कीटों को नष्ट करने वाले रासायनिक द्रव्य

अमेरिकी वैज्ञानिक विनाशक कीटों से पौधों की रक्षा करने के लिए फास्फोरस के नये-नये मिश्रणों का प्रयोग कर रहे हैं।

कुछ पौधे तो स्वभावतः स्वयं अपनी रक्षा कर लेते हैं। कुछ अन्य पौधों के फूल, पत्तों अथवा जड़ों से कीटनाशक औषधियां तैयार की जाती हैं। 'वीनस फ्लाईट्रैप' नामक पौधे के समान ऐसे पौधे भी हैं जो मक्खियों, मकड़ियों, गोबरीलों तथा चीटियों को तत्काल दबोच लेते हैं।

अब वैज्ञानिक विनाशक कीटों को नष्ट करने की नय विधियां मालूम कर रहे हैं। वे पौधों के डंठलों तथा पत्तियों में फास्फोरस के नये मिश्रण पहुँचा देते हैं। ऐसा करने से पौधों से अपना आहार प्राप्त करने वाले कीट नष्ट हो जाते हैं। उदाहरण के तौर पर, गुलाब के पौधों में

फास्फोरस के नये मिश्रण पहुँचाने से उन पौधों पर पलने वाले दीपक आदि कीट नष्ट हो जाते हैं। वे कीट पौधों से रस चूसने के बाद ज़हर का असर बढ़ते जाने पर मर जाते हैं।

वैज्ञानिकों का मत है कि इन कीटनाशक औषधियों के चुनाव में हमें सावधानता बरतनी चाहिये, क्योंकि वे ऐसी होनी चाहिये जो केवल हानिकारक कीटों को नष्ट करें, तितली, भौंरे और मधुमक्खियों जैसे लाभप्रद कीटों को नहीं। हाल में किये गये प्रयोगों में फास्फोरस के नये मिश्रणों के प्रयोग से केवल वही विनाशक कीट नष्ट हुए हैं जो पौधों के लिये हानिकारक थे, अन्य कीटों को कोई क्षति नहीं पहुँची।

'सिस्टोक्स' तथा 'मेटासाइड' नामक फास्फोरस के दोनों मिश्रण प्रयोग सम्बन्धी कार्यों के लिये पहले ही उपलब्ध हैं। परीक्षणों से यह प्रकट होता है कि वे पौधों को हानि पहुँचाने वाले कीटों को तुरन्त नष्ट कर देते हैं। इनको एक बार प्रयोग में लाने से कई सप्ताह तक पौधों की विनाशक कीटों से रक्षा हो जाती है। एक एकड़ में एक चौथाई पौन्ड फास्फोरस का मिश्रण काफी होता है। ये रासायनिक द्रव्य पत्तियों पर छिड़के जाते हैं अथवा सीधे जड़ों में पहुँचा दिये जाते हैं।

ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि फास्फोरस के मिश्रण पत्तियों के ऊपरी तल की अपेक्षा निचले तल में अधिक अच्छी तरह जज्ब होते हैं। इसके लिये प्रकाश की भी आवश्यकता है। यदि पौधों को अँधेरे में रखा जाय तो वे कीटनाशक द्रव्यों को पूरी तरह से अपने अन्दर ग्रहण नहीं करते।

अमेरिकी कृषि-विभाग की प्रयोगशाला में रेडियो-प्रभावित मिश्रणों से किये गये अनुसन्धानों से प्रकट होता है कि पौधों में विधिवत् कीटमार द्रव्य पहुँचाने से वे जड़ों से ऊपर डंटलों की ओर तथा नीचे से पत्तियों में ऊपर की ओर इसके साथ-साथ पहुँच जाते हैं। वे ऊपर की पत्तियों से नीचे जड़ों या डंठलों की ओर नहीं जाते।

ये द्रव्य विनाशक कीटों को नष्ट करने के लिये तो बड़े प्रभावशाली हैं, किन्तु इनको प्रयोग करते समय बड़ी सावधानता बरतने की आवश्यकता है। इसीलिये इनके प्रयोग के सम्बन्ध में जनता को पूरी-पूरी जानकारी दी जानी चाहिये।

सर्व प्रथम इन कीटमार द्रव्यों का फूलों के बागीचों तथा ऐसी फसलों में प्रयोग किया जायेगा जो खाने के काम में नहीं आतीं। बाद में इनका कपास की फसल में भी प्रयोग किया जा सकेगा, जिसके बिनौले पशुओं को खिलाने और तेल निकालने के भी काम आते हैं।

रासायनिक द्रव्यों से विश्व में खाद्य सामग्री की कमी दूर की जा सकती है

अमेरिका के अनुसन्धानकर्ता डा० नेस्टर डब्ल्यू० फ्लोडिन ने अमेरिकन एसोसियेशन फार दि ऐडवान्समेन्ट औव् साइन्स की वार्षिक सभा में बताया कि किस प्रकार अधिक मात्रा में रासायनिक द्रव्यों का उत्पादन करके विश्व की खाद्य-सामग्री को दुगना किया जा सकता है।

उन्होंने वैज्ञानिकों को बताया है कि पेट्रोलियम-उद्योग में व्यर्थ जाने वाली वस्तुओं, मक्का की छूंछों, चावल तथा जई के तुस से प्राप्त होने वाले रासायनिक द्रव्यों में शरीर को पुष्ट करने वाले तत्व मौजूद हैं। उक्त वस्तुओं को अभी तक असाध्य समझा जाता रहा है।

इस वैज्ञानिक ने इस बात पर बल दिया है कि आज खाद्य-सामग्री में प्रोटीन का जो अभाव है उससे समस्त मानव जाति को, विशेष रूप से एशिया, अफ्रीका, वेस्ट इण्डीज, मध्य अमेरिका, लैटिन अमेरिका तथा यूरोप के लोगों को बहुत हानि पहुँच रही है। उन्होंने कहा कि प्रोटीन पैदा करने वाले रासायनिक द्रव्यों की सहायता से नियमित भोजन में पाई जाने वाली कमी को दूर किया जा सकता है।

डा० फ्लोडिन का कहना है कि प्रतिवर्ष एक डालर खर्च करके रोटी को इतना शक्तिदायक किया जा सकता है कि उसमें २७ पौण्ड मांस, ५२ सेर दूध अथवा ३३० अन्डों से प्राप्त होने वाली शक्ति हो।

"न्यूयार्क टाइम्स" ने इस अनुसन्धान को 'अक्ल की

करामात' बताते हुए "विश्व की खाद्य सामग्री में सुधार" शीर्षक अपने सम्पादकीय में लिखा है—

"यह खोज उन लाखों प्राणियों के लिये बहुत महत्व रखती है जो गेहूँ, चावल, मक्का, दालों आदि ऐसे अन्नों पर निर्वाह करते हैं जिनमें अमीनो जाति के उन अम्लों का अभाव रहता है जो प्राणिज प्रोटीनों—मांस, दूध, मछली, पनीर तथा अन्डों—में हो पाये जाते हैं।"

किन्तु वैज्ञानिकों ने यह मालूम किया है कि सामान्य भोजन में न पाये जाने वाले ये तत्व कृत्रिम द्रव्यों से प्राप्त किये जा सकते हैं। वे पेट्रोलियम, नारकोल तथा पौधों की व्यर्थ जाने वाली चीजों से प्राप्त किये जा सकते हैं। जिन खाद्य वस्तुओं में आवश्यक प्रोटीन नहीं मिलती और जिन पर लोगों का जीवन निर्भर है, उन्हें पौष्टिक बनाया जा सकता है। इससे लोगों के स्वास्थ्य में जो सुधार होगा उसका अनुमान लगाना सम्भव नहीं। और सब से बड़ी बात तो यह है कि यह कार्य अतिरिक्त भूमि में खेती किये बिना ही किया जा सकेगा।

यदि यह कार्य काल्पनिक प्रतीत होता हो तो डा० फ्लोडिन की बात पर ध्यान दो। उनका कहना है कि एक अरब डालर की लागत से स्थापित किये गये एक कारखाने में इतना अमीनो एसिड (अम्ल) तैयार किया जा सकता है जो लाखों व्यक्तियों के लिये काफी होगा। यह कार्य किसी भी प्रकार अव्यवहार्य नहीं है। यह खोज उन लोगों को आशा प्रदान करती है जो यह विश्वास करते हैं कि मानव जाति जनसंख्या तथा खाद्य-सप्लाई के मध्य पाये जाने वाले असन्तुलन की चेतावनी का सामना करने की क्षमता रखती है। निःसन्देह उस वैज्ञानिक ने आशावादियों के लिये विस्तृत क्षेत्र खोल दिया है।

शिशु पक्षाघात के विकलांग रूप की रोक सम्भव

अमेरिका वैज्ञानिकों की खोजों से अब यह आशा होने लगी है कि शिशु पक्षाघात के विकलांग रूप को रोग प्रतिरोध-क्षमता बढ़ाकर रोका जा सकता है इस आशा का आधार यह खोज है कि शिशु पक्षाघात दो स्थितियों में आक्रमण करता है। पहली स्थिति में वह रक्त में रहते हुए भी हानि नहीं पहुँचाता किन्तु दूसरी में वह ज्ञान-तन्तु समूह में पहुँचकर भयानक रूप ग्रहण कर लेता है।

शिशु पक्षाघात की इन दोनों स्थितियों को खोज करने वाले दो व्यक्ति हैं। पहले डा० डोरोथी एम० होर्स्टमैन, जो कि न्यू हेवन (कनेटिकट) के येल चिकित्सा-विद्यालय में रोग-निवारण चिकित्सा के सहायक प्रोफेसर हैं। दूसरे डा० डेविड बोडियन जो मैरिलैन्ड की बाल्टिमोर स्थित जौन्स हौपकिन्स यूनिवर्सिटी में महामारी विज्ञान के प्रोफेसर हैं।

इस रोग के विषाणु नाक अथवा मुख के द्वारा मनुष्य और जानवरों में प्रवेश करते हैं। इसका परीक्षण करने के लिये दोनों वैज्ञानिकों ने चिम्पैंजी तथा अन्य जाति के बन्दरों को खिलाये जाने वाले खाद्य में इन विषाणुओं को मिला दिया। इन परीक्षणों से ज्ञात हुआ कि जिस समय विषाणु रक्तधारा में थे उस समय रोग के लक्षण न्यूनतम अथवा बिलकुल नहीं प्रकट हुए। यह रोग की पहली दशा थी। तीन या सात दिन तक रक्त में ठहर कर ये विषाणु मेरुदन्ड तथा मस्तिष्क के चेतना-तन्तु समूह में प्रविष्ट हो गये और पक्षाघात अथवा मृत्यु के कारण बन गये। यह रोग की दूसरी दशा थी।

एक अत्यन्त उल्लेखनीय खोज यह हुई कि रोग की पहली दशा में जब कि विषाणु रक्त में ही थे, और जब उन पर काबू पाने के लिये रोग-निवारक जीवाणुओं (प्रतिकायों) को जन्म देने की शक्ति रक्त में मौजूद थी रोगाणु चेतना-तन्तु समूह में नहीं प्रविष्ट हुए और किसी प्रकार की विकलांगता या विरूपता नहीं हुई।

क्योंकि शिशु पक्षाघात की पहली दशा में मामूली अथवा कोई भी लक्षण प्रकट नहीं होते हैं। इसलिये इससे पूर्व यह नहीं मालूम किया जा सकता कि ये विषाणु रक्त में भी प्रविष्ट हो जाते हैं। दोनों अन्वेषकों ने यह सिद्ध किया है प्रारम्भिक दशा में रक्त में विषाणु बड़े परिमाण में उपस्थित रहते हैं और जब रक्त उन रोगाणुओं को निष्क्रिय बनाने के लिये अपेक्षित प्रतिकायों को नहीं जन्म देता तो जन्तुओं में वैक्सीन का प्रवेश करके उन विषाणुओं को ज्ञानतन्तुओं में पहुँचने से रोका जा सकता है। इस वैक्सीन में कुछ अंश तक उस व्यक्ति का रक्त भी होता है, जो शिशु

पक्षाघात से अच्छा हो चुका हो और जिसके रक्त में प्रति-कार्य विद्यमान रहे हों।

इन प्रयोगों के आधार पर वैज्ञानिकों को यह विश्वास हो गया है कि मानव रक्त से तैयार की हुई यह वैक्सीन यदि हल्की हो तो पोलियो-ग्रस्त बच्चों को विकलांगता से पूरी तरह बचा सकती है। उनकी रिपोर्ट है कि पक्षाघात उत्पन्न करने वाला पोलियो इन रोग प्रतिरोधवर्धक प्रयोगों से तुरन्त ही रोका जा सकता है।

शिशु पक्षाघात के लिए अमेरिका में बनी एक राष्ट्रीय संस्था, जो एक प्राइवेट निर्लाभ संस्था है, मनुष्य रक्त के गामाग्लोबुलिन अंशों पर बड़े परिमाण में परीक्षण कर रही है। एक से ६ वर्ष तक की आयु के ३५,००० बच्चों के ऊपर पहला परीक्षण जून १९५२ में टैक्सास प्रदेश के हाउस्टन नगर में किया गया था। आधे बच्चों को गामाग्लोबुलिन के टीके दिये गये और शेष आधों को उससे मिलती-जुलती जेलेटिन के इन्जेक्शन किये गये।

६ मास के बाद जांच करके देखा गया कि गामाग्लोबुलिन के टीके लगे हुए बच्चों में पोलियो की विकलांगता किसी भी न्यूनाधिक रूप में विद्यमान है या नहीं। एक से ६ वर्ष तक की आयु के बच्चों को इसलिये चुना गया था कि पोलियो के ५० प्रतिशत रोगी इसी आयु के होते हैं।

क्योंकि पोलियो के विषाणुओं से होने वाले ज्ञानतन्तुओं के ह्रास का कोई इलाज नहीं है, इसलिये विषाणुओं को मेरुदन्ड और मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं तक पहुँचने से पूर्व ही रोका जाना आवश्यक है। दोनों डाक्टरों का विश्वास है कि इस घातक रोग के रोगी, मुख्यता छोटे-छोटे बच्चों, को बचाने के लिये बहुत कुछ किया जा सकता है, क्योंकि बहुत से मनुष्य उस समय जब कि यह बीमारी निरापद स्थिति में होती है, प्रतिकार्यों का निर्माण कर लेते हैं। डा० बोडियन की भविष्यवाणी है कि शीघ्र ही एक ऐसी वैक्सीन का निर्माण सम्भव है जो किसी भी मनुष्य के रक्त में प्रतिकार्यों का निर्माण कर उसे पोलियो से बचा सके।

एशिया की पहली रेलगाड़ी बम्बई से थाना तक की ऐतिहासिक यात्रा

आज से एक शताब्दी पहले भारत में ही नहीं बल्कि एशिया में सबसे पहली रेलगाड़ी बम्बई थाना के लिये रवाना हुई थी। इस रेलगाड़ी में तीन इंजन, चार-चार पहिये वाले ग्यारह छोटे डिब्बे और लगभग ५०० यात्री थे।

शनिवार के तीसरे पहर बोरी बंदर पर, जो आज बम्बई का विक्टोरिया टर्मिनस कहलाता है, आमन्त्रित विशिष्ट अतिथि आपस में हँसी मजाक कर रहे थे और हजारों पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की भीड़ रेलवे लाइन के निकट बड़ी उत्सुकता से बंबई से थाना की २१ मील की दूरी के लिये चलने वाली इस पहली रेलगाड़ी के चलने की राह देख रही थी।

बोरी बंदर में स्वागत के लिये बनायी गयी अतिथि-शाला में पश्चिम और पूर्व का सौंदर्य और वस्त्राभूषणों के नये नये फैशन किये हुए संभ्रांत अतिथिगण एकत्रित हुए। स्त्रियाँ प्रसन्नता से बातें कर रही थीं, पुरुष भी उत्साह में अपने-अपने साहसिक कार्यों का बखान कर रहे थे। धीरे-धीरे रेलगाड़ी छूटने का समय भी निकट आता जा रहा था।

अपराह्न में ३.३० बजे सैंट जार्ज स्थित तोपखाने ने शाही सलामी दागी और उसके बाद राज्यपाल (गवर्नर) के बैंडने, जो एक सवारी गाड़ी में था, राष्ट्रीय गान तथा दूसरे गीतों की धुनें बजाकर वातावरण को संगीतमय बना दिया।

जब तीनों इंजन उस ऐतिहासिक यात्रा के लिये तैयार हुए तो आश्चर्यचकित दर्शकों का हृदय कुतूहल से भर गया! उस समय चार बजने में २५ मिनट थे। इस समय सबसे आगे वाले इंजन ने एक लम्बी सीटी दी और धुँआं और भाफ छोड़ता हुआ रेल पथ पर थाना की ओर बढ़ चला।

दर्शकों ने गद्‌गद हर्ष ध्वनि की। रेल की रफ्तार तेज होने लगी और दोनों ओर कतार बांधे खड़े लोगों के हृदय का कुतूहल वाह वाह की ध्वनि में बदल गया। लोग प्रसन्नता से ओत प्रोत थे। कुछ ने हवा में अपनी छतरियां हिलायीं और कुछ ने अपनी टोपियाँ और पगड़ियाँ उछालकर अपने हृदय की असीम प्रसन्नता प्रकट की।

जिन लोगों ने पहले कभी रेलगाड़ी नहीं देखी थी

और जिन्होंने कभी सोचा भी नहीं कि ऐसा सम्भव है, उनके लिये वह दिन वास्तव में अविस्मरणीय था। इस दिन भारत की पहली रेलगाड़ी चली।

गाड़ी तेजी से बढ़ती हुई बायुकुला और माहीम पार करती हुई सियोन पहुँच गयी। सियोनमें इंजनों को पानी लेना था।

बम्बई से थाना पहुँचने में ५७ मिनट का समय लगा।

थाना में जहां गाड़ी को पहुँचना था, विशाल जन-समूह ने उचक-उचक कर आश्चर्य और कौतूहल के साथ रेलगाड़ी को आते हुए देखा। हर्षध्वनि फिर गूँज उठी यहां तक कि कुछ लोगों के गले बैठ गये।

थाना में कलात्मक ढंग से सुसज्जित शामियानों में ४०० व्यक्तियों को मौसम के अनुकूल सुस्वादु भोजन कराया गया।

कम्पनी के सीनियर डायरेक्टर मेजर स्वेन्सनने, जो अध्यक्ष के रूप में कार्य कर रहे थे, भोज के अवसर पर महारानी विक्टोरिया की स्वास्थ्य कामना की।

इसके बाद सर विलियम यार्डले ने भी स्वास्थ्य कामना का प्रस्ताव किया।

यह सब आज से एक सौ साल पहले १६ अप्रैल १८५३ को हुआ और उसी दिन से भारत में रेल युग का समारम्भ हुआ।

रेल के डिब्बे का विकास

बताया जाता है कि १६ अप्रैल, १८५३ को जो पहली रेलगाड़ी बम्बई थाना के लिए चली थी उसमें तीन इंजन और पुराने ढंग के बारह डिब्बे थे। दुर्भाग्य-वश, इन डिब्बों को सुरक्षित न रखा गया और न अब उनके फोटो-चित्र, ड्राइंग अथवा उनके सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक लिखित सामग्री उपलब्ध है। फिर भी, यह लगभग निश्चित ही है कि वे डिब्बे सागवान लकड़ी के बने थे और उनकी बनावट प्रायः इंगलैंड के तत्कालीन डिब्बों से मिलती जुलती थी।

इङ्गलैंड में लगभग १८२५ में—भारत की अपेक्षा चौथाई सदी पहले—रेल-निर्माण का काम आरम्भ हुआ था। सबसे पहले के बने डिब्बे सड़कों पर चलने वाली घोड़ा गाड़ियों से अधिक कुछ नहीं थे। भेद इतना ही था कि इन डिब्बों को रेल की पटरियों पर दौड़ने योग्य बना दिया गया था। जब भारत में रेल के डिब्बे बनने लगे, उस समय तक इङ्गलैंड में इस दिशा में काफी प्रगति हो चुकी थी। इसलिये, भारत में जो पहला डिब्बा बना, उसमें उस समय तक की प्रगति सन्निहित थी।

सन् १८५७-१८८५ में भारत में जो रेल के डिब्बे चलते थे, उनमें नीचे का ढांचा और ऊपरी ढांचा लकड़ी का था, चार पहिये थे, बाहर की ओर खुलने वाले दरवाजे थे, सीटें लम्बी थीं और एक डिब्बे में ४० से ६० यात्री तक बैठ सकते थे। इसकी लम्बाई २० से ३० फुट और वजन ८ से ११ टन तक था। तीसरे दर्जे में पाखाने नहीं थे।

दुमंजिले डिब्बे

लगभग १८६३ में बी० बी० एण्ड सी० आई रेलवे और ई० आई० रेलवे ने तीसरे दर्जे के असाधारण ढंग के दुमन्जिले डिब्बे चालू किये। ऊपर की मन्जिल में बेंचे नहीं थीं और यात्रियों को फर्श पर बैठना पड़ता था। बम्बई के राज्यपाल के दौरों के लिए भी एक दुमन्जिला सैलून बनाया गया था। ऐसे डिब्बे यात्रियों के लिये सुविधाजनक नहीं थे, इसलिये इनका चलन जल्दी ही बन्द कर दिया गया।

बीसवीं सदी के आरम्भ में बोगी डिब्बे चालू किये गये, जिनके दरवाजे अंदर खुलते थे और हर तीसरे दर्जे के डिब्बे में एक पाखाना भी था।

बिना ब्रेक के डिब्बे

प्रारम्भिक दिनों के सब डिब्बों में ब्रेक नहीं थे। जान पड़ता है कि कई साल तक गाड़ी के पहले और आखिरी डिब्बों में हाथ के ब्रेकों की प्रथा चलती रही। प्रायः चलते-चलते गाड़ी के डिब्बे एक दूसरे से अलग-अलग हो जाया करते थे, इसलिये इंजन चालकों को आवश्यकता के समय सूचित करने के लिये एक गार्ड पहले डिब्बे के ऊपर और दूसरा अंतिम डिब्बे के ऊपर बैठा करता था। दोनों गार्ड हाथ के ब्रेक लगाने में सहायता करते

थे, फिर भी, आम तौर पर गाड़ियाँ प्लेटफारमों से आगे निकल जाती थीं। गाड़ियाँ झटके से रुकती थीं और उसके कारण कभी कभी पटरी से उतर जाती थीं और यात्रियों को चोट लग जाती थी। किसी की नाक का दब जाना या रगड़ खा जाना या किसी का दाँत टूट जाना कोई असाधारण बात नहीं थी।

लगभग १९०० तक हाथ के ब्रेक ही चलते रहे। उसके बाद 'वैक्यूम' ब्रेकों का प्रचलन आरम्भ हुआ, जिससे गाड़ी की रफ्तार बढ़ाना और निरापद संचालन सम्भव हो सका। डिब्बे अलग-अलग होने पर ये ब्रेक अपने आप ही लग जाते हैं। अमेरिका और कुछ अन्य देशों में इस प्रकार के ब्रेक १८७५ से काम में लाये जा रहे हैं।

गाड़ियों में रोशनी की व्यवस्था

ज्ञात होता है कि पहले रेलगाड़ियों में रोशनी की व्यवस्था यात्रियों की सुविधा के लिये नहीं वरन् उनकी सुरक्षा के लिये की गयी थी। लगभग १८५० तक इंगलैंड में रेल के डिब्बों में यात्रियों पर डाकुओं आदि के हमले असाधारण बात थी। शुरू में, सुरक्षा दृष्टि से रोशनी के लिये डिब्बों में तेल के लैम्पों और मोमबत्तियों की व्यवस्था होती थी पर उससे आग लगने का खतरा रहता था। मांगने पर, ऊँचे दर्जे के यात्रियों को मोमबत्तियाँ दी जाती थीं पर साधारणतः यात्री अपने लैम्प और मोमबत्तियाँ साथ लेकर चलते थे।

लगभग १८७० में इङ्गलैंड और अमेरिका में गैस की रोशनी की जाने लगी और इससे यात्रियों को काफी सुविधा हो गयी। १८९४ से रेलों में बिजली की रोशनी की कुछ व्यवस्था होने लगी और १९०५ से इसका प्रचलन कुछ बढ़ना आरम्भ हुआ और १९२० तक भारत में लगभग सब बड़ी-बड़ी रेलों ने डिब्बों में बिजली लगा दी। हाल के वर्षों में 'फ्लोरेसेंट' रोशनी बहुत लोकप्रिय हुई है।

डिब्बों का भारत में निर्माण

भारत में लकड़ी के डिब्बे बनाने का काम लगभग सन् १८६० में शुरू हुआ और १८८० तक इस कार्य में में काफी कुशलता प्राप्त कर ली गयी। लगभग १८८५ से रेल के डिब्बों का नीचे का ढांचा लकड़ी की जगह इस्पात से बनाया जाने लगा।

इस सदी के आरम्भ में रेल के डिब्बों का निर्माण-कार्य बढ़ाने के लिये रेलवे कारखानों का विस्तार किया गया पहले तीस वर्षों में इस दिशा में काफी प्रगति हुई और देश भर में नयी रेलगाड़ियाँ चलाना सम्भव हो सका। १८८० में भारतीय रेलों के पास ६,६०० डिब्बे थे और १९५१ में इसकी संख्या बढ़कर, २०,७३७ हो चुकी थी। यात्रियों की संख्या बढ़कर २०,७३७ हो चुकी थी यात्रियों की संख्या में और भी अधिक अनुपात में वृद्धि हुई। १८८८ में १०३० लाख यात्रियों ने रेल-यात्रा की और १९५० में यह संख्या १,३०८० लाख हो गयी।

रेलों का समान बनाने के लिये बहुत तरह के कच्चे माल और अन्य तैयार सामग्री की आवश्यकता होती है। यद्यपि अभी कुछ चीजें बनाने के लिये भारत विदेशी पर निर्भर है किन्तु देशी उद्योग बड़ी तेजी से प्रगति कर रहे हैं और निकट भविष्य में ही इस दिशा में आत्म-भरित हो जाने की सम्भावना है।

आजकल बड़ी लाइन का एक तीसरे दर्जे का डिब्बा बनाने पर १,१७,००० रु०, दूसरा दर्जा बनाने पर १,४९,०० ० रु० और शीतोष्ण व्यवस्था वाला (एयर कंडिशन्ड) डिब्बा बनाने पर २,७१,००० रु० खर्च होता है।

गरम देश में सामान्यतः लकड़ी के बने रेल के डिब्बे लगभग ३० वर्ष तक चलते है। लकड़ी के ढांचे इस्पात का चौखटा १० वर्ष से अधिक नहीं चलता। यात्री-डिब्बों के निर्माण क्रम की दूसरी अवस्था में लकड़ी और इस्पात के मिले जुले डिब्बे बनाये जाने लगे। इसके बाद पूरे इस्पात के डिब्बे बनने लगे। अमेरिका में १९०८ में ही लकड़ी की जगह इस्पात के डिब्बे बनाये जाने लगे थे। इंगलैंड में पूरे इस्पात से बने २५० डिब्बे १९२५ में प्रयोग के रूप में भारत में चलाये गये। ये डिब्बे अभी भी चल रहे हैं किन्तु उनमें कहीं-कहीं क्षय के चिन्ह दृष्टिगोचर हुए हैं। आधुनिक किस्म के इस्पात के डिब्बे ऐसे बनाये गये है जिनमें यह खराबी आने की आशंका नहीं है।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—*विज्ञान प्रवेशिका, भाग १*—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक—ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी; ।=)

२—*चुम्बक*—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी; मू० ।।।=)

३—*मनोरंजन रसायन*—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी; २)

४—*सूर्य सिद्धान्त*—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८)। इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—*वैज्ञानिक परिमाण*—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—*समीकरण मीमांसा*—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—*निर्णायक* (डिटमिनैंट्स—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपालकृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी; ।।।)

८—*बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित*—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—*वर्षा और वनस्पति*—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१०—*सुवर्णकारी*—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

११—*विज्ञान का रजत जयन्ती अंक*—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१२—*व्यङ्ग-चित्रण*—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम ए०; १७५ पृ०, सैकड़ों चित्र, सजिल्द २)

१३—*मिट्टी के बरतन*—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले० प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १९५ पृष्ठ; ११चित्र; सजिल्द २) (अप्राप्य)

१४—*वायुमंडल*—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०—डाक्टर के० बी० माथुर, सजिल्द, २)

१५—*लकड़ी पर पालिश*—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का ब्योरेवार वर्णन। ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन-भटनागर, एम० ए०, २१८ पृष्ठ, ३ चित्र, सजिल्द; २) (अप्राप्य)

१६—*कलम पेवंद*—लेखक श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; २० चित्र; मालियों मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी, सजिल्द; २)

१७—*जिल्दसाजी*—इससे सभी जिल्दसाजी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम ए० सजिल्द, २)

१८—*तैरना*—तैरना सीखने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है। ले०—डा० गोरखप्रसाद, मूल्य १)

१९—*सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग*—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़ों पौधों की अचरज-भरी दुनिया सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन-कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६) (अप्राप्य)

२०—*वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ*—ले०—डा० संतप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२१—*खाद्य और स्वास्थ्य*—ले०—डा०—ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।)

२२—*फोटोग्राफी*—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, सजिल्द मूल्य ४)

२३—*फल संरक्षण*—फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा, जैम, जेली, शरबत, अचार, चटनी, सिरका, आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२४—*शिशु पालन*—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई। गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि का वैज्ञानिक विवेचन। मूल्य ४)

२५—*मधुमक्खी पालन*—द्वितीय संस्करण। ले० - पंडित दयाराम जुगड़ान; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों या जन-साधारण को इस पुस्तक का अधिकाँश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा. मधुमक्खियों की रहन सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, सजिल्द; ३)

२६—**घरेलू डाक्टर**—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी०, घोष, एम० बी० बी० एस, डी० टी० एम० प्रोफेसर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच० डी०, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। ५० चित्र, सजिल्द, ४)

२७—*उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर*—संपादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। मूल्य ३॥)

२८—**फसल के शत्रु**—लेखक श्री शंकर राव जोशी फसलों को नष्ट करने वाले रोगों, कीड़ों, आदि से रक्षा के सुगम उपाय। मू० ३॥)

२९—*साँपों की दुनिया*—ले० श्री रामेश वेदी, साँपों के भेद पहचान आदि का विशद वर्णन। मू० ४)

३०—*पोर्सलीन उद्योग*—ले० प्रो० हीरेन्द्र नाथ बोस, पोर्सलीन की वस्तुएँ, पात्र आदि बनाने का वर्णन। मू० ॥)

३१—*राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ*—भारत की राष्ट्रीय वैज्ञानिक अनुसधानशालाओं का सचित्र परिचय। मू० २)

३२—*गर्भस्थ शिशु की कहानी*—ले० मारग्रेट शी गिल्बर्ट (अनु० प्रो० नरेन्द्र) मा की कोख में शिशु शरीर की रचना का सरल वर्णन मू० २॥)

हमारे यहाँ नीचे लिखी पुस्तकें भी मिलती हैं:—

१—*साबुन-विज्ञान*—विद्यार्थियों और व्यवसाइयों के लिये एक सरल और सुबोध पुस्तक, जिनमें साबुन तैयार करने की विभिन्न विधियाँ और नाना प्रकार के साबुन तैयार करने की रीतियां हैं। विवरण के साथ-साथ सैकड़ों के साथ-साथ अनुभूत और प्रमाणित नुसखे भी दिये गये हैं। लेखक श्री श्याम नारायण कपूर बी० एस-सी, ए० एच० बी० टी० आई०, फेलो, आयल टेकनोलोजिस्ट एसोसिएशन मूल्य ६)

२—*भारतीय वैज्ञानिक*—१२ भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियां—ले०—श्री श्यामनारायण कपूर, सचित्र ६० पृष्ठ सजिल्द; मूल्य ३)

३—*वैक्युमब्रेक*—ले०—श्री ओंकारनाथ शर्मा। यह पुस्तक रेलवे में काम करने वाले फिटरों इंजन-ड्राईवरों, फोरमैनों और कैरेज एग्जामिनरों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। १६० पृष्ठ ३ चित्र जिनमें कई रंगीन हैं, २)

४—*यांत्रिक चित्रकारी*—ले० ओंकारनाथ शर्मा, मूल्य २॥)

५—*विज्ञान के महारथी*—लेखक- श्री जगपति चतुर्वेदी। संसार भर के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के जीवन व खोजपूर्ण कार्यों का विस्तृत वर्णन है। मूल्य २)

६ *पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ*—ले० श्री जगपति चतुर्वेदी। जितने प्रमुख भौगोलिक अन्वेषण हुए हैं उन सबका रोचक वर्णन है। मूल्य १॥)

७—*विज्ञान, जगत की झाँकी*—ले० प्रो० नारायण सिंह परिहार। सामान्य ज्ञान तथा विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी पुस्तक है। मूल्य ?)

८—*खोज के पथ पर*—ले० श्री शुकदेव दुबे—जान को हथेली पर रखकर दुर्गम स्थानों एवं पर्वतों के खोज करने वालों का रोमांचकारी वर्णन। मूल्य ॥)

पता—विज्ञान परिषद, प्रयाग

साँपों की दुनियाँ

लेखक—श्री रमेश वेद आयुर्वेदालंकार

"साँपों की दुनियाँ" श्री रामेश वेदी द्वारा रचित सर्पविज्ञान सम्बन्धी एक मौलिक रचना है। साँपों का रहन-सहन, भोजन आदतें, आकस्मिक आक्रमण से बचाव सर्प-विष के प्रकार, उसका मनुष्य एवं अन्य प्राणियों पर प्रभाव, सर्पविष चिकित्सा आदि विषयों पर लेखक ने अभी तक किये गये प्रयोगों एवं अनुसंधानों का सरल भाषा में सारांश दिया है।

भारतवर्ष में बहुतायत से पाये जाने वाले विषहीन एवं विषैले सापों का विस्तृत एवं सचित्र वर्णन भी दिया है तथा प्रत्येक जाति के सांप की शरीर-रचना, उसकी आदतें, रहन-सहन, भोजन, मनोविज्ञान इत्यादि का सुन्दर चित्र खींचा है। लेखक की भाषा रोचक है, और शैली सुन्दर। हमारे पूर्वजों का सर्प सम्बन्धी ज्ञान, प्राचीन संस्कृत साहित्य में विभिन्न जाति के सर्पों का उल्लेख, सर्पों का वर्गीकरण विषैले एवं निर्विष साँपों की पहिचान, साँपों के विष-दन्त एवं विष ग्रंथियों की रचना, सर्प-विष का मनुष्य और दूसरे प्राणियों पर प्रभाव, सर्प-विष चिकित्सा और साँपों की आर्थिक उपयोगिता इत्यादि पर लेखक ने विस्तृत प्रकाश डाला है।

"साँपों की दुनियाँ" साँपों से सम्बन्धित वैज्ञानिक अनुसन्धान, अवैज्ञानिक किम्वदन्तियाँ एवं अन्ध विश्वास, प्राचीन साहित्य में साँपों का उल्लेख एवं तत्सम्बन्धी ज्ञान का निचोड़ है। मूल्य ४)

फसल के शत्रु

लेखक—श्री० शंकरराव जोशी

बहुत से कीट मानव-समाज का अहित करते हैं, कुछ कीट इन कीटों का ही संहार कर डालते हैं तथा कुछ कीट अन्य रूप से मनुष्य का हित करते हैं। सिद्धहस्त और अनुभवी लेखक ने इस पुस्तक में उन कीटों का वर्णन किया है जो फसलों को विशेष हानि पहुँचाते हैं। वैज्ञानिक कृषि तथा व्यापारिक प्रतियोगिता के इस युग में इन जंतुओं के करतब का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य ही है। फसलें बो लेना और प्रति एकड़ पैदावार बढ़ा लेना मात्र ही कृषि व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर लेना नहीं माना जा सकता। खेत में खड़ी फसलों और बगीचे के पौधों की शत्रु से रक्षा करना तथा गोदाम में रक्खी गई पैदावार को कीड़ों और रोगों से बचा लेना भी आवश्यक है।

इस पुस्तक में फसलों, लकड़ी, कोठरी में भरे नाज, साग, तरकारी आदि सभी वस्तुओं की इन शत्रुओं से सुलभ साधनों द्वारा प्रभावोत्पादक रूप से रक्षा पा लेने की विधियाँ तथा उन शत्रु रूपी कीटों तथा रोगों की पूरी पहचान भी दी गई है। डबल फुल्सकेप सोलहपेजी आकार के लगभग ३५० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ३॥)

पता—विज्ञान परिषद्, बैंक रोड, इलाहाबाद

Reg. NO. 372

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उपसभापति एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मंत्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश-शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम

सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद् बैंक रोड, इलाहाबाद

अगस्त १९५३ — भाग ७७

सिंह २०१० — संख्या ५

वार्षिक मूल्य चार रुपए — प्रति अंक छः आने

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh
and Madhya Pradesh for use in Schools,
Colleges and Libraries

विज्ञान के नियम

१—वार्षिक मूल्य ४) तथा प्रति अंक का ।=) है।

२—प्रतिमास प्रथम सप्ताह में विज्ञान प्रकाशित होता है।

३—ग्राहक किसी भी मास से बनते हैं।

४—वार्षिक मूल्य सदा दो एक मास पूर्व अग्रिम भेजने से ।=) वी. पी. व्यय की बचत हो सकती है।

५—नमूने की प्रति माँगने पर या विना मांगे भी ज्ञात पतों पर मुफ्त भेजी जाती है।

लेखकों से निवेदन

१—लेख किसी भी विषय के वैज्ञानिक पक्ष पर होना चाहिए।

२—लेख मनोरंजक और सुबोध होना चाहिए।

३—कागज पर एक ओर ही सुपाठ्य लिखना चाहिए।

४—चित्र सदा काली स्याही से बने होने चाहिए। हल्के या अन्यरंग में बने चित्रों का ब्लाक नहीं बन सकता।

५—लेख भेजने के दो मास पश्चात् भी न छपने पर स्मरण-पत्र अवश्य भेजें।

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ४) चार रुपया एक प्रति का ।=) छः आना।

विज्ञान

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५

भाग ७७ | सिंह २०१०, अगस्त १९५३ | संख्या ५

जादू के वर्ग

[ले० डा० सत्यप्रकाश]

अंग्रेजी में जादू के वर्ग (मेजिक स्कायर) उन वर्गों का नाम है जिनके अंकों का योग दायें से बायें जाने वाली पंक्तियों में, ऊपर से नीचे जाने वाले स्तम्भों में और कर्णों की दिशाओं में जानेवाले वर्गों में एक ही होता है । स्वस्तिकल्पना के रूप में इनमें से कुछ वर्ग मकानों और दूकानों की दीवारों पर हमारे देश में बहुधा लिखे मिलते हैं, जैसे—

८	१	६	=१५
३	५	७	=१५
४	९	२	=१५
१५	१५	१५	

चित्र नं० १

इस वर्ग में ८+१+६=१५, ८+५+२=१५; ८+३+४=१५; ६+७+२=१५; ६+५+४=१५—, इस प्रकार चाहें पंक्तियों में जोड़िए, चाहें स्तम्भों (Columns) में और चाहें कर्णों (Diagonals) में, जोड़ सब प्रकार १५ आता है । १ से लेकर ९ तक के अंक ९ खानों में इस क्रम से रक्खे गए हैं, कि जोड़ सदा १५ ही रहे ।

हमारे प्राचीन गणित शास्त्र में इन वर्गों के बनाने के अनेक नियम दिए गए थे । हम इस लेख में पाठकों के मनोरञ्जनार्थ कुछ नियम देते हैं ।

प्रत्येक पंक्ति का योग कितना होना चाहिए—

प्रत्येक पंक्ति में ३, ४, ५, ६, ७,……न खानें हो सकते हैं, जिनमें से १ से लेकर $३^२, ४^२, ५^२, ६^२, ७^२, \cdots, न^२$ तक की गिनतियाँ लिखी जा सकती हैं । १ से लेकर $न^२$ तक की गिनतियों का योग $\frac{न^२(न^२+१)}{२}$ होगा । यह योग न पंक्तियों में बराबर बराबर विभाजित है, अतः प्रत्येक पंक्ति के अंकों का योग $= \frac{न^२(न^२+१)}{२ न} = \frac{न(न^२+१)}{२}$

अतः यदि १ से ९ तक के अंक $३^२$ वर्गों में हैं, तो प्रत्येक पंक्ति का, प्रत्येक स्तम्भ का, या प्रत्येक कर्ण के अंकों का योग १५ होगा ।

$४^२$ वर्गों में १ से १६ तक के अंक बाँटे जायँ तो यह योग $\frac{४ \times १७}{२} = ३४$ होगा।

$५^२$ वर्गों में १ से २५ तक के अंक बाँटे जायँ तो जादू के वर्ग की प्रत्येक पंक्ति का योग $\frac{५ \times २६}{२} = ६५$ होगा।

$६^२$ वर्गों में यह योग $\frac{६ \times ३७}{२} = १११$ होगा।

इसी प्रकार $७^२$ वर्गों में यह योग $\frac{७ \times ५०}{२} = १७५$ होगा।

इसी प्रकार और बड़े वर्ग बनाए जा सकते हैं। $१३^२$ वर्ग में यह योग $\frac{१३ \times १७०}{२} = ११०५$ होगा।

सम और विषम वर्ग—यदि जादू के वर्ग की प्रत्येक पंक्ति में ३, ५, ७, आदि विषम (odd) खाने हों तो यह वर्ग विषम वर्ग कहलाता है। $३^२$, $५^२$, $७^२$, $६^२$, वाले वर्ग विषम वर्ग हैं। इनका बनाना आसान है।

यदि जादू के वर्ग की प्रत्येक पंक्ति में ४, ६, ८ आदि सम (even) खानें हों तो यह वर्ग समवर्ग कहलाता है। इनके बनाने के सामान्य नियम जटिल हैं।

विषम वर्ग बनाने की पहली विधि

ऊपर वाली पंक्ति के बीचोबीच के खाने में १ लिखिए। अब इस खाने से दाहिनी ओर को ऊपर की ओर कर्ण की दिशा में बढ़िए। क्योंकि आप वर्ग से बाहर निकल गए, तो उसी से संबंध रखने वाले नीचे खाने में आप २ लिख दीजिए (चित्र २)। अब फिर ऊपर कर्ण की ओर बढ़िए, और क्रमशः अंक

चित्र २ चित्र ३ चित्र ४

लिखते जाइए। ४ का अंक वर्ग के बाहर पड़ा (चित्र ३)। इसे उठाकर उसी से संबंध रखने वाले बायीं ओर के पहले स्तम्भ में लिख लीजिए। अब फिर कर्ण के मार्ग से ऊपर दाहिनी ओर को उठिए। आपने ४, ५ के अंक लिखे, पर जब मार्ग में १ वाला खाना आ जाने से रुकावट आ गयी, आप ५ के नीचे एक खाना उतर आइए (रुकावट आने पर सदा ऐसा ही कीजिए), और फिर कर्ण के मार्ग से ऊपर दाहिनी ओर बढ़ते जाइए जब तक कि वर्ग से बाहर न निकल जायँ। बाहर ८ का अंक निकला। इसे उसीसे सम्बन्ध रखने वाले सबसे नीचे के खाने में लिख लीजिए (चित्र ५)। अब फिर कर्ण के मार्ग से आप बढ़ें तो १० का अंक फिर कर्ण से बाहर पड़ेगा। यह क्योंकि वर्ग के दाहिनी ओर बाहर पड़ा है, इसे उठाकर पहले स्तम्भ में उसी की सीध वाले खाने में रख लीजिए। १० के आगे कर्ण वाला मार्ग ६ अंक के कारण फिर बन्द है, इसलिए

आप एक खाना नीचे उतर आइए और फिर कर्ण के मार्ग से अंक लिखते जाइए (चित्र ६), १५ तक पहुँचने पर जादू के वर्ग का कर्ण पूरा हो गया। नीचे उतरकर १६ लिखिए। १७ अंक वर्ग के बाहर दाहिनी ओर को पड़ेगा। इसे सीध

			२	९	
		१	८		
	५	७			
४	६				४
				३	१०
			२	९	

चित्र ५

			२	९	
		१	८	१५	
	५	७	१४	१६	
४	६	१३			४
१०	१२			३	१०
११			२	९	

चित्र ६

	१८	२५	२	९	
१७	२४	१	८	१५	१७
२३	५	७	१४	१६	२३
४	६	१३	२०	२२	४
१०	१२	१९	२१	३	१०
११	१८	२५	२	९	

चित्र ७

में बायीं ओर के पहले समूह के पहले खाने में लिख लीजिए, और फिर कर्ण के मार्ग से बढ़िए। आप इसी क्रम से पूरे वर्ग को भर डालिए (चित्र ७)। चित्र ७ जादू का वर्ग बन गया। १ से २५ तक की गिनती २५ खानों में इस प्रकार के क्रम से लिख गयी कि चाहें बायें से दायें पंक्तियों में जोड़िए, चाहें ऊपर से नीचे किसी स्तम्भ में जोड़िए, चाहें कर्ण की दिशाओं में जोड़िए, अंकों का जोड़ ६५ ही निकलेगा।

इसी पद्धति पर बनाए गए ७ और ९ वाले वर्ग हम

	३१	४०	४९	२	११	२०	
३०	३९	४८	१	१०	१९	२८	३०
३८	४७	७	९	१८	२७	२९	३८
४६	६	८	१७	२६	३५	३७	४६
५	१४	१६	२५	३४	३६	४५	५
१३	१५	२४	३३	४२	४४	४	१३
२१	२३	३२	४१	४३	३	१२	२१
२२	३१	४०	४९	२	११	२०	

चित्र ८—७ का वर्ग—योग=१७५

	४८	५९	७०	८१	२	१३	२४	३५	
४७	५८	६९	८०	१	१२	२३	३४	४५	४७
५७	६८	७९	९	११	२२	३३	४४	४६	५७
६७	७८	८	१०	२१	३२	४३	५४	५६	६७
७७	७	१८	२०	३१	४२	५३	५५	६६	७७
६	१७	१९	३०	४१	५२	६३	६५	७६	६
१६	२७	२९	४०	५१	६२	६४	७५	५	१६
२६	२८	३९	५०	६१	७२	७४	४	१५	२६
३६	३८	४९	६०	७१	७३	३	१४	२५	३६
३७	४८	५९	७०	८१	२	१३	२४	३५	

चित्र ९—९ का वर्ग—योग=३६९

पीछे देते हैं, आप इनके बनाने का अभ्यास कर लें। आप याद रक्खें कि (१) कर्ण की दिशा में ऊपर के खानों की ओर अंक क्रमशः बढ़ाने हैं, (२) यदि वर्ग से ऊपर की ओर बाहर निकले तो उसी की सीध में सब से नीचे की पंक्ति में वह अंक उतारना है, (३) यदि वर्ग से दाहिनी ओर बाहर निकले तो उसी की सीध में पहले स्तम्भ के खाली खाने में अंक उतारना है, (४) कर्ण की दिशा में बढ़ते समय कोई अंक मार्ग में आजावे, तो अपने नीचे ही एक खाना उतर आइए और कर्ण मार्ग पर बढ़िए, (५) और यदि जादू के वर्ग का सब से बड़ा कर्ण पूरा हो जाय, तो फिर एक खाना नीचे उतर कर कर्ण मार्ग से फिर आगे बढ़िए। इन नियमों का पालन कर के आप कितना ही बड़ा जादू का विषम वर्ग बना सकते हैं।

विषम वर्ग बनाने की दूसरी विधि

(बेचेट की विधि—M. Bachet)

मान लीजिए कि हमें १ से २५ तक के अंकों की सहायता से ५ का विषम वर्ग बनाना है। क्रम से १ से २५ तक की संख्यायें आप चित्र १० के अनुसार लिख डालें। (मानों कि असली अभीष्ट वर्ग के कर्ण पर दूसरा एक वर्ग खिंचा है, जिसमें भी २५ खाने हैं। उस वर्ग में १ से २५ तक की गिनती ५ पंक्तियों में क्रमशः लिखी है।)

				१				
			६		२			
		११		७		३		
	१६		१२		८		४	
२१		१७		१३		९		५
	२२		१८		१४		१०	
		२३		१९		१५		
			२४		२०			
				२५				

चित्र १०

	११	२४	७	२०	३	
१६		१२	२५	८		४
२१	१७		१३		९	
२२		१८	१	१४		१०
	२३	६	१९	२	१५	

चित्र ११

अब जादू के वर्ग के भीतर जो संख्यायें आगयी हैं, वे तो अपने उचित स्थान पर हैं ही। केवल अन्य संख्याओं को वर्ग के खाली खानों में उतारना मात्र है। उतारने का नियम यह है—(१) जादू के वर्ग के बाहर दूसरे स्तम्भ के ऊपर एक संख्या ६ लिखी है। इसी स्तम्भ में वर्ग के बाहर नीचे एक संख्या २४ है। ६ संख्या के नीचे वर्ग के भीतर जो खाली खाना है उसमें २४ लिख दीजिए और २४ के ऊपर वर्ग के भीतर जो खाली खाना है उसमें ६ लिख दीजिए, अर्थात् अदल-बदल कर ये दोनों संख्यायें दूसरे स्तम्भ में उतार लीजिए। इसी क्रम से २ और २० को अदल-बदल कर चौथे स्तम्भ में उतारिए। २ जो ऊपर था, सो नीचे आवेगा और २० जो नीचे था सो ऊपर जावेगा। (२) इसी प्रकार तीसरे स्तम्भ में १ और २५ के जो अंक हैं, वे खाली खानों में अदल-बदल कर उतार लीजिए (चित्र ११)।

अब जादू के वर्ग के बाहर दायीं और बायीं ओर कुछ गिनतियाँ और रह गयीं। इन्हें भी खाली खानों में अदल-बदल कर उतारना है। दूसरी पंक्ति में १६ बायीं ओर है, जो उतारने पर दाहिनी ओर के खाने में उसी पंक्ति में जायगा। दूसरी पंक्ति के दाहिनी ओर का अंक ४ बायीं ओर के खाली खानों में आवेगा। यही नियम चौथी पंक्ति के २२ और १० अंकों के लिए हैं। तीसरी पंक्ति के

२१ और ५ अंक भी खाली खानों में अदल-बदल कर आवेंगे बस जादू का वर्ग तैयार हो गया (चित्र १२) ।

११	२४	७	२०	३
४	१२	२५	८	१६
१७	५	१३	२१	९
१०	१८	१	१४	२२
२३	६	१९	२	१५

चित्र १२—योग=६५

इसी पद्धति पर $७^२$ खानों का विषम वर्ग बनाने का अभ्यास कीजिए ।

१
८　२
१५　९　३

	२२		१६		१०		४	
२९		२३		१७		११		५
३६	३०		२४		१८		१२	६
४३ ३७		३१		२५		१९		१३ ७
४४	३८		३२		२६		२०	१४
४५		३९		३३		२७		२१
	४६		४०		३४		२८	

४७　४१　३५
४८　४२
४९

चित्र १३

१
८　२
१५　९　३

२२		१६		१०		४
५	२३		१७		११	२९
३०	६	२४		१८	३६	१२
१३	३१	७	२५	४३	१९	३७
३८	१४	३२		२६	४४	२०
२१	३९		३३		२७	४५
४६		४०		३४		२८

४७　४१　३५
४८　४२
४९

चित्र १४

चित्र १३ में १ से ४९ तक के अंक क्रमशः उस नये वर्ग में लिखे गए हैं जो जादू के वर्ग के कर्णों पर बना है। चित्र १४ में प्रत्येक पंक्ति में जादू के वर्ग के बाहर वाले अंक दाहिनी ओर और बायीं ओर से खानों के भीतर अदल बदल कर उतार लिए गए हैं। उतारने का नियम वही है जो ५ के वर्ग में बताया गया था। दाहिनी ओर के अंक बायीं ओर के खाली खानों में गए हैं, और बायीं ओर के अंक दाहिनी ओर के खाली खानों में। चौथी पंक्ति में विशेष सावधानी रखनी है। इस पंक्ति में वर्ग के दाहिनी ओर क्रमशः १३ और ७ अंक थे, और बायीं ओर ४३ और ३७। पहले वे अंक भीतर उतारे जावेंगे जो वर्ग के निकटस्थ हैं अर्थात् ३७ और १३। १९ के दाहिनी ओर के खाने में ३७ आवेगा, और ३१ के बायीं ओर के खाने में १३, अब शेष दो खाली खाने बचे, उनमें अदल-बदल कर ७ और ४३ आ जावेंगे।

इसी प्रकार के नियम से वर्ग के बाहर की ओर ऊपर और नीचे जो अंक हैं, उन्हें भी भीतर के खाली खानों में अदल बदल कर उतार लो। बस जादू का वर्ग बन गया। (चित्र १५) चित्र ८ में दिए गए वर्ग से यह भिन्न है।

२२	४७	[illegible]	४१	१०	३५	४
५	२३	४८	१७	४२	११	२९
३०	६	२४	४९	१८	३६	१२
१३	३१	७	२५	४३	१९	३७
३८	१४	३२	१	२६	४४	२०
२१	३९	८	३३	२	२७	४५
४६	१५	४०	९	३४	३	२८

चित्र १५

—योग = १७५

विषम वर्ग बनाने की तीसरी विधि

हम कह चुके हैं कि यदि जादू के वर्ग की प्रत्येक पंक्ति में खानों की संख्या "न" हो तो प्रत्येक पंक्ति की संख्याओं का योग न $\left(\frac{न^2+१}{२}\right)$ होगा।

अब $\frac{न(न^2+१)}{२} = \frac{न^3+न}{२}$

$$= \frac{न^3 - न^2 + न^2 + न}{२}$$

$$= \frac{न^3 - न^2}{२} + \frac{न^2 + न}{२}$$

$$= न \times \frac{(न-१)(न)}{२} + \frac{न(न+१)}{२}$$

= न × (० से लेकर न − १ संख्या तक का योग) + (१ से लेकर न संख्या तक का योग)

अतः जादू के वर्ग की प्रत्येक पंक्ति दो ऐसे वर्गों द्वारा प्रकट की जा सकती है जिनमें से एक की प्रत्येक पंक्ति ० से न−१ तक की संख्या द्वारा बनायी गयी हो, और दूसरे वर्ग की प्रत्येक पंक्ति १ से न तक की संख्या द्वारा बनायी गयी हो। ० से न−१ तक संख्या से बनी प्रत्येक पंक्ति को न से गुणा करके दूसरे वर्ग की प्रत्येक पंक्ति जोड़नी होगी।

इस विधि के अनुसार जादू के वर्ग निम्न प्रकार बनाते हैं। मान लो कि पाँच खानों वाली पंक्ति का वर्ग बनाना है (न = ५)।

क

१		२		३
	२		३	
२		३		४
	३		४	
३		४		५

चित्र १६

ख

१	४	२	५	३
४	२	५	३	१
२	५	३	१	४
५	३	१	४	२
३	१	४	२	५

चित्र १७

ग

२		१		०
	२		१	
३		२		१
	३		२	
४		३		२

चित्र १८

क वर्ग के कर्ण वाले खाने में १ से लेकर ५ तक की संख्या लिख डालो। अब नीचे से ऊपर जाने वाले कर्णों वाले खानों में वही संख्या लिख डालो जो मध्य कर्ण में ऊपर से नीचे आते समय लिखी थी (चित्र १९)। पहली पंक्ति में दो खाने शेष बचे—इनमें क्रमशः ४, ५ लिख डालो। इसी प्रकार से पहले स्तम्भ में भी जो खाने बचे उनमें क्रमशः ४, ५ लिख डालो। इस प्रकार १, ४, २, ५, ३ का क्रम मिला। प्रत्येक स्तम्भ और प्रत्येक पंक्ति में संख्यायें इसी चाक्रिक क्रम से होनी चाहिए—

१
३ ४
५
२

इस प्रकार चित्र १९ का वर्ग बना जिसमें प्रत्येक पंक्ति में एक से पाँच तक की गिनती है।

अब ० से ४ तक के अंक चित्र १८ वाले वर्ग में भरने हैं। पहले तो ० से ४ तक के अंक क्रमशः कर्ण में भर लो। यह कर्ण चित्र १९ वाले कर्ण की उलटी दिशा वाला लो। चित्र १९ के समान चित्र १८ में भी कर्णों वाले खाने की संख्याओं को दोहरा कर पूरे कर डालो। अब ऊपर पंक्ति में बायीं ओर से खाली खानों में ३, ४ लिख डालो।

इस प्रकार पहली पंक्ति और पाँचवा स्तम्भ ०, ३, १, ४, २ इस क्रम के अंकों में बना। शेष खाली खानों को भी इसी चाक्रिक क्रम से पूरा कर डालो। अब इस प्रकार हमें दो वर्ग मिले (चित्र १७ और १९)। चित्र २० का वर्ग बनाओ, जिसका प्रत्येक खाना इस प्रकार भरा हो—चित्र १९ की प्रत्येक संख्या को ५ से गुणा करो और उसमें १७ के वर्ग की तत्स्थानीय संख्या जोड़ दो। यह जादू का वर्ग बन गया। इसकी प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक स्तम्भ और प्रत्येक कर्ण पर की संख्याओं के योग ६५ हैं।

चित्र सं० २०, २१ और २२ में हमने ७ खानों वाला जादू का वर्ग दिया है। चित्र २० में १ से ७ तक की गिनती ऊपर बनाए गए क्रम से लिखी गई है, चित्र २१ में ० से ६ तक की गिनती लिखी है और चित्र सं० २२ वाला वर्ग चित्र २१ की प्रत्येक संख्या को ७ से गुणा करके तत्स्थानीय चित्र २० के वर्ग की संख्या के गुणनफल में जोड़कर बनाया गया है।

घ

२	४	१	३	०
०	२	४	१	३
३	०	२	४	१
१	३	०	२	४
४	१	३	०	२

चित्र १९

च

११	२४	७	२०	३
४	१२	२५	८	१६
१७	५	१३	२१	९
१०	१८	१	१४	२२
२३	६	१९	२	१५

च=५ घ+ख

चित्र २०

क

१	५	२	६	३	७	४
५	२	६	३	७	४	१
२	६	३	७	४	१	५
६	३	७	४	१	५	२
३	७	४	१	५	२	६
७	४	१	५	२	६	३
४	१	५	२	६	३	७

चित्र २१

ख

३	६	२	५	१	४	०
०	३	६	२	५	१	४
४	०	३	६	२	५	१
१	४	०	३	६	२	५
५	१	४	०	३	६	२
२	५	१	४	०	३	६
६	२	५	१	४	०	३

चित्र २२

ग

२२	४७	१६	४१	१०	३५	४
५	२३	४८	१७	४२	११	२९
३०	६	२४	४९	१८	३६	१२
१३	३१	७	२५	४३	१९	३७
३८	१४	३२	१	२६	४४	२०
२१	३९	८	३३	२	२७	४५
४६	१५	४०	९	३४	३	२८

चित्र २३
ग=७ ख+क

चित्र २३ वाला जादू का वर्ग वही है जो चित्र १४ में बना था।

दो वर्गों के इसी प्रकार के संबंध से जादू के अनेक वर्ग बनाए गए हैं। हम ५ वाले दो जादू के वर्ग और देते हैं जो इसी प्रकार की पद्धति पर बने हैं।

क

१	४	२	५	३
४	२	५	३	१
२	५	३	१	४
५	३	१	४	२
३	१	४	२	५

चित्र २४

ख

२	४	०	३	१
१	२	४	०	३
३	१	२	४	०
०	३	१	२	४
४	०	३	१	२

चित्र २५

ग

११	२४	२	२०	८
९	१२	२५	३	१६
१७	१०	१३	२१	४
५	१८	६	१४	२२
२३	१	१९	७	१५

चित्र २६
ग=५ ख+क

क

२	१	५	३	४
३	४	२	१	५
१	५	३	४	२
४	२	१	५	३
५	३	४	२	१

चित्र २७

ख

३	१	०	४	२
०	४	२	३	१
२	३	१	०	४
१	०	४	२	३
४	२	३	१	०

चित्र २८

ग

१७	६	५	२३	१४
३	२४	१२	१६	१०
११	२०	८	४	२२
९	२	२१	१५	१८
२५	१३	१९	७	१

चित्र २९
ग=५ ख +क

चित्र २४, और २५ में अंक ऊँट की शतरंजी चाल के हिसाब से हैं, पर चित्र २७ और २८ में ये अंक घोड़े की शतरंजी चाल के हिसाब से चले हैं।

विषम वर्ग बनाने की चौथी विधि (बेचेट)

बेचेट ने जादू के विषम वर्ग बनाने की एक और विधि दी है। इस विधि द्वारा जो वर्ग बनता है, उसमें से चारों ओर से यदि खाने निकाल लिए जांय तो केन्द्र में बचा वर्ग भी जादू का वर्ग बना रहता है।

मान लीजिए कि हमने ५ का वर्ग लिया। प्रत्येक पंक्ति का जोड़ $\frac{५ \times २६}{२} = ५ \times १३$ हुआ। अतः यदि किसी एक पंक्ति की प्रत्येक संख्या में से १३ घटा दिया दिया, तो प्रत्येक पंक्ति की बची संख्याओं का योग शून्य होगा, और २५ खानों में निम्न संख्यायें आवेंगी +१, −१, +२, −२+३, −३,⋯, +१२, −१२ अर्थात् १ से १२ तक की गिनती ऋण या धन चिह्नों सहित और एक शून्य। सबसे केन्द्र के खाने में यह शून्य लिया जा सकता है। इस केन्द्र के खाने के चारों ओर ८ खानों में ४ गिनतियाँ + और − संकेतों के साथ ऐसी लीं जिनका योग प्रत्येक पंक्ति में शून्य रहे। शेष गिनतियों को बेचेट ने इस वर्ग के चारों ओर १६ खानों में क्रमबद्ध कर दिया। इस प्रकार उसे निम्न वर्ग मिला (चित्र ३०)। इस वर्ग के प्रत्येक खाने में १३ जोड़ कर जादू का वर्ग (चित्र ३१) बना लिया गया।

चित्र ३० के केन्द्र में (बीचोबीच में) जो ९ खानों का वर्ग है यह भी जादू का वर्ग है (चित्र ३२) जिसकी प्रत्येक पंक्ति के अंकों का योग ३९ है।

−९	१२	५	−२	−६
१	७	−११	४	−१
−८	−३	०	३	८
१०	−४	११	−७	−१०
६	−१२	−५	२	९

चित्र ३०

४	२५	१८	११	७
१४	२०	२	१७	१२
५	१०	१३	१६	२१
२३	९	२४	६	३
१९	१	८	१५	२२

चित्र ३१

२०	२	१७
१०	१	१६
९	२४	६

चित्र ३२

जादू के समवर्ग

इनका बनाना साधारणतः कठिन है। सभी समवर्ग जादू के वर्ग नहीं बन सकते जैसे $२^२$ वाला वर्ग (१ से ४ तक की गिनती ४ खानों में)। $४^२$ वर्ग निम्न प्रकार बनाया जा सकता है। पहले १, २, ३, ४ अंक इस प्रकार लिखिए जैसे चित्र ३३ में दिए हैं, और फिर ०, १, २, ३ अंक जैसे चित्र ३४ में। चित्र ३४ के अंकों को ४ से गुणा करके तत्स्थानीय चित्र ३३ के अंक जोड़िए और इस प्रकार चित्र ३५ वाला जादू का वर्ग तैयार हो जायगा—

१	३	२	४
४	२	३	१
४	२	३	१
१	३	२	४

चित्र ३३

०	३	३	०
२	१	१	२
१	२	२	१
३	०	०	३

चित्र ३४

१	१५	१४	४
१२	६	७	९
८	१०	११	५
१५	३	२	१६

चित्र ३५

ऐसे समवर्ग बनाना जिसके मूल का आधा कोई विषम संख्या है, बड़ा कठिन है।

ऐसे वर्ग जिनके मूल का आधा ४ का कोई गुणित (Multiple) है इस प्रकार बनाया जा सकता है।

(हम इस विधि को $४^२$ वर्ग के उदाहरण से स्पष्ट करेंगे)— $४^२$ वर्ग में १ से १६ तक के क्रमशः १६ अंक हैं। इनके स्थान में निम्न १६ विषम अंक ऋण और धन संकेत वाले लो ± १, ±३, ±५, ±७, ±९ ± ११, ±१३, ±१५

क

$त_{१}$	$त_{२}$	$क_{१}$	$क_{२}$
$त_{३}$	$त_{४}$	$क_{३}$	$क_{४}$
$-क_{१}$	$-क_{२}$	$-त_{१}$	$-त_{२}$
$-क_{३}$	$-क_{४}$	$-त_{३}$	$-त_{४}$

चित्र ३६

ख

१	−३	११	−९
−५	७	−१५	१३
−११	९	−१	३
१५	−१३	५	−७

चित्र ३७

ग

९	७	१४	४
६	१२	१	१५
३	१३	८	१०
१६	२	११	५

$$ग = \frac{ख + १७}{२}$$

चित्र ३८

संख्याओं का क्रम इस प्रकार के वर्गों में इस प्रकार रक्खा जाता है कि $त_{१} + त_{२} + क_{१} + क_{२} = ०$; $त_{३} + त_{४} + क_{३} + क_{४} = ०$; $त_{१} + त_{३} - क_{१} - क_{३} = ०$ और $त_{२} + त_{४} - क_{२} - क_{४} = ०$। इस प्रकार चित्र ३६ जब बन जाय, तो उसके प्रत्येक अंक में १७ जोड़ कर आधा करने पर जादू का वर्ग (चित्र ३७) बनाया जा सकता है।

इसी प्रकार $८^२$ जादू का वर्ग निम्न प्रकार बनेगा—

−१	३	५	−७	−३३	३५	३७	−३९
९	−११	−१३	१५	४१	−४३	−४५	४७
१७	−१९	−२१	२३	४९	−५१	−५३	५५
−२५	२७	२९	−३१	−५७	५९	६१	−६३
३३	−३५	−३७	३९	१	−३	−५	७
−४१	४३	४५	−४७	−९	११	१३	−१५
−४९	५१	५३	−५५	−१७	१९	२१	−२३
५७	−५९	−६१	६३	२५	−२७	२९	३१

चित्र ३९

३२	३४	३५	२९	१६	५०	५१	१३
३७	२७	२६	४०	५३	११	१०	५६
४१	२३	२२	४४	५७	७	६	६०
२०	४६	४७	१७	४	६२	६३	१
४९	१५	१४	५२	३३	३१	३०	३६
१२	५४	५५	९	२८	३८	३९	२५
८	५८	५९	५	२४	४२	४३	२१
६१	३	२	६४	४५	१९	१८	४८

चित्र ४०

सम्पूर्ण वर्ग को ४ छोटे-छोटे वर्गों से बना समझिए। पहले वर्ग के १६ खानों में क्रमशः ४ पंक्तियों में १ से लेकर ३१ तक की विषम संख्यायें क्रम से निम्न प्रकार लिखिए—(इनमें दोनों कर्णों वाली संख्याओं में ऋण चिह्न लगाइए)　— १　३　५ — ७

९ — ११ — १३ १५

१७ - १९ — २१ २३

-२५ २७ २९ — ३१

अब पूरे वर्ग के दूसरे चतुर्थांश में ३३ से ६३ तक वाली विषम संख्यायें १६ खानों में क्रम से लिखिए, और इसकी कर्णगत संख्याओं में भी ऋण चिह्न लगाइए—

— ३३　३५　३७　— ३९

४१　— ४३　— ४५　४७

४९　— ५१　— ५३　५५

— ५७　५९　६१　— ६३

अब तीसरे चतुर्थांश में फिर १ से ३१ की संख्यायें लिखिए पर अब की जो संख्या प्रथम चतुर्थांश में ऋण थी वह धन हो जाय और जो धन थी वह ऋण हो जाय, ऐसा कर दीजिए। अब अन्तिम चौथे चतुर्थांश में ३३ से ६३ तक की १६ विषम संख्यायें भी क्रम से लिख दीजिए। दूसरे चतुर्थांश की ऋण संख्याओं को धन और धन को ऋण बना दीजिये। इस प्रकार से चित्र ३९ का वर्ग बन गया। अब प्रत्येक संख्या में $८^२+१=६५$ जोड़ कर २ से भाग देकर चित्र संख्या ४० वाला जादू का वर्ग बना डालिए। इस वर्ग की प्रत्येक पंक्ति, प्रत्येक स्तम्भ और प्रत्येक कर्ण की संख्याओं का योग २६० है।

जादू के वर्ग किसी भी संख्या से आरम्भ किए जा सकते हैं।

अब तक हमने जितने सम या विषम वर्ग बनाए हैं, उनकी संख्यायें १ से आरम्भ होती हैं, जैसे $३^२$ का वर्ग १ से ९ तक की संख्या से बनता है, $४^२$ का वर्ग १ से १६ तक की संख्या से, $५^२$ का वर्ग १ से २५ तक की संख्या से, पर ऐसा किया जाना आवश्यक नहीं है। वर्ग बनाने का कार्य किसी भी संख्या से आरम्भ किया जा सकता है।

मान लीजिए कि $३^२$ का वर्ग ५ से आरम्भ करके क्रमशः १३ तक की संख्याओं से बनाना है तो—

१३

१२	५	१०
७	९	११
८	१३	६

१२
७

चित्र ४१

८+४	१+४	६+४
३+४	५+४	७+४
४+४	९+४	२+४

चित्र ४२

८+य	१+य	६+य
३+य	५+य	७+य
४+य	९+य	२+य

चित्र ४३

इस प्रकार जादू के वर्ग में प्रत्येक पंक्ति का योग १५ के स्थान में $१५+४\times३=२७$ होगा जैसा कि चित्र ४२ से स्पष्ट है। चित्र ४३ से स्पष्ट है कि यह गिनती कहीं से भी आरंभ की जा सकती है। ऐसी ही बात $४^२$, $५^२$, $८^२$ आदि के वर्ग में भी समझी जा सकती है, और पंक्तियों की संख्याओं का योग क्या होगा यह आसानी से निकाला जा सकता है। गणना शून्य से भी आरंभ कर सकते हैं। जैसे $४^२$ के वर्ग में—(प्रत्येक पंक्ति की संख्याओं का योग ३० होगा)।

८	६	१३	३
५	११	०	१४
२	१२	७	९
१५	१	१०	४

चित्र ४४

केवल विषम संख्याओं को क्रम में लेकर भी जादू के सम और विषम वर्ग बन सकते है।—

मान लीजिए कि $३^२$ वाला वर्ग क्रमशः निम्न विषम संख्याओं से बनाना है—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७। इन संख्याओं को उसी प्रकार से वर्ग में लिखिए जैसे कि साधारण गिनतियों में लिखते थे—

१५	१	११
५	९	१३
७	१७	३

चित्र ४५

इस वर्ग की प्रत्येक पंक्ति की संख्याओं का योग २७ है। इसी प्रकार के $४^२$, $५^२$, $७^२$ आदि के वर्ग भी बनाए जा सकते हैं।

विषम संख्याओं से वर्गों का बनना ठीक ही है क्योंकि—१+३+५+७+······

$$=[(१+०)+(२+१+)+(४+१)+(६+१)+\cdots\cdots+(१६+१)]$$

$$=१\times९+[०+२+४+६+\ldots\ldots+१६]$$

$$=९+२[०+१+२+३+\cdots\cdots+८]$$

०, १, २, ३······ये क्रमशः अंक हैं जिनसे जादू के वर्ग बन ही सकते हैं। इस जादू के वर्ग में प्रत्येक पंक्ति

$$\text{का योग}=\frac{९}{३}+२\times\frac{८\times९}{२\times३}=२७$$

सम संख्याओं को भी एक क्रम से लिखकर जादू के वर्ग बनाए जा सकते हैं, जैसे २, ४, ६,······, ५० तक लिख कर $५^२$ जादू का वर्ग—

	३६	५०		१८	
३४	४८	२	१६	३०	३४
४६	१०	१४	२८	३२	४६
८	१२	२६	४०	४४	८
२०	२४	३८	४२	६	२०
२०	३६	५०	४	१८	

चित्र ४६

इस वर्ग की प्रत्येक पंक्ति का योग १३० है। वस्तुतः यह वर्ग चित्र ७ में दिए वर्ग का दुगुना है क्योंकि —

$$२+४+६+\cdots\cdots+५०$$

$$=२[१+२+३+\cdots\cdots५]$$

गणितीय शब्द मालायें

डा० ब्रजमोहन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

36. Centroid — केन्द्रक
    Circum-centre — परिकेन्द्र
    Ex-centre — बहिष्केन्द्र
    In-centre — अन्तःकेन्द्र
    Ortho-centre — लाम्बिक केन्द्र
37. Characteristic — (१) लक्षण (२) पूर्णांश
    Criterion — निकष (र), पहचान
    Test — परीक्षण
38. Circumscribed Circle — परिगत वृत्त
    Described Circle — उल्लेखित वृत्त
    Escribed Circle — बाह्यवृत्त, बाह्यलिखित वृत्त
    Inscribed Circle — अन्तर्लिखित वृत्त
    Nine-Point Circle — नवबिन्दु वृत्त
39. Cistern — कुण्ड
    Reservoir — आशय, जलाशय
40. Clockwise — दक्षिणावर्त
    Anti-clockwise — वामावर्त
    Counter-clockwise — वामावर्त
41. Column — स्तम्भ
    Row — पंक्ति
42. Complement — पूरक, समपूरक
    Complementary — पूरक, समपूरक
    Supplement — पूरक, ऋजुपूरक
    Supplemental — ऋजुपूरक
    Supplementary — पूरक ऋजुपूरक
43. Complex — (१) संकर (२) संकल
    Hypothetical — औपकाल्पनिक
    Imaginary — काल्पनिक
    Real — वास्तविक
44. Concave — नतोदर
    Convex — उन्नतोदर
45. Conclusion — निष्कर्ष
    Consequence — परिणाम
    Inference — अनुमान
    Result — फल
46. Cone — शंकु
    Cylinder — बेलन, रम्भ (र)
    Sphere — गोला
    Spheroid — उपगोल.
47. Conical Projection — शंक्वीय विक्षेप
    Cylindrical Projection — बेलनीय विक्षेप
    Orthogonal Projection — समकोणीय विक्षेप
48. Conjugate — अनुबद्ध
    Related — सम्बद्ध
49. Conjugate Axis — अनुबद्ध अक्ष
    Transverse Axis — अनुप्रस्थ अक्ष
50. Connected — अन्वित
    Disconnected — अनन्वित
51. Consistent — संगत
    Corresponding — संवादी

52. Constant अचल
Invariable अविचल
Parameter प्राचल
Variable चल
53. Continual निरन्तर
Continuous सतत
54. Contra-variant प्रतिचल
Co-variant सहचल
Invariant निश्चल
55. Convergence संसृति
Divergence अपसृति
56. Convergency संसृति
Divergency अपसृति
57. Convergent संसृत
Divergent अपसृत
58. Converse विलोम
Inverse उत्क्रम
Reciprocal व्युत्क्रम
Reverse विपर्यय
59. Coplanar समतली, समतलस्थ
Non-coplanar असमतली
Skew विषमतली
Trotuous कुटिल
Uniplanar एकतली
60. Corollary उपफल, उपसाध्य, उपप्रमेय, उपनिर्मेय
Lemma पूर्व प्रमेय
61. Corrected Integral शोधित अनुकल
Uncorrected Integral अशोधित अनुकल
62. Count गणन, गिनना
Enumerate प्रगणन (र)
Calculate परिगणन, परिकलन (र)
Compute संगणन (र)
Estimate आगणन (र)
63. Data न्यास
Hypothesis उपकल्पना
64. Deduction निगमन
Induction उद्गमन
65. Definite Integral निश्चित अनुकल
Indefinite Integral अनिश्चित अनुकल
66. Definition व्याख्या, परिभाषा
Nomenclature नामावली
Technical language परिभाषा
Terminology शब्दावली
67. Demonstration निदर्शन (र)
Representation प्रदर्शन
Proof उपपति
68. Denominator हर
Numerator अंश
69. Dense सुघन, घना
Compact गठित
70. Dependent परतन्त्र
Independent स्वतंत्र
71. Depression अवनति
Elevation उन्नति
72. Descriptive property वर्णनात्मक गुण
Metric property मापात्मक गुण
73. Determinant सारणिक
Array सरणी
Matrix श्रेणिक
74. Determinate निर्णीत
Indeterminate अनिर्णीत
Undetermined अनिर्धारित
75. Differential Calculus चलन कलन

Integral Calculus चलराशि कलन
76. Differentiation अवकलन
Integration अनुकलन
77. Direct (१) अनुक्रम, (२) समक्ष
Indirect (१) अनुप्रस्थ (२) परोक्ष
78. Direct Common Tangent अनुक्रम उभयस्पर्शी
Transverse Common Tangent अनुप्रस्थ उभयस्पर्शी
79. Directly proportional अनुक्रमानुपाती
Inversely proportional व्युत्क्रमानुपाती
80. Direct variation अनुक्रम विचरण
Inverse variation व्युत्क्रम विचरण
81. Displacement विस्थापन
Replacement प्रतिस्थापन
Substitution आदेशन, स्थानापतन
82. Domain प्रान्त
Region प्रदेश
83. Down नीचे
Up ऊपर
84. Downward अधोगामी, अधोमुखी
Upward ऊर्ध्वगामी, ऊर्ध्वमुखी
85. Downwards नीचे की ओर
Upwards ऊपर की ओर
86. Dynamics गति विज्ञान, प्रावैगिकी (र)
Kinematics गतिगणित
Kinetics गतिशास्त्र
Mechanics यन्त्र विज्ञान, यान्त्रिकी (र)
Statics स्थिति विज्ञान, स्थैतिकी (र)
87. Easy सरल
Difficult कठिन
88. Either (१) किसी एक, कोई एक (२) या तो,
Or अथवा, या
89. Epicycloid प्राग्चक्रज
Hypocycloid पराचक्रज
90. Epitrochoid प्राग्वक्रज
Hypotrochoid परावक्रज
91. Equation समीकरण
Identity एकात्म्य
92. Error भूल
Inaccuracy अशुद्धि
Mistake त्रुटि
93. Even सम
Odd विषम
94. Evolute केन्द्रज
Involute प्रतिकेन्द्रज
95. Evolution (१) घात मूल क्रिया (२) विकास
Involution (१) घात क्रिया (२) समुत्क्रमण

दूरदर्शक का इतिहास

श्री कृष्ण लाल

तेरहवीं शताब्दी में रोगर बैकन (Roger Bacon) (मृत्यु सन् १२९२) और सोलहवीं शताब्दी में डिग्गेस (Digges) बैपटिस्टा पोर्टा (Baptista Porta) और ऐएटोनियों डिडोमिनीज (Antonio de Dominis) के प्रकाश सम्बन्धी विचित्र प्रयोगों के कारण लोगों का ध्यान दूरदर्शक बनाने की ओर गया। सम्भवतः इन लोगों ने 'पटच्छित-चित्रक' (Camera Obscura) द्वारा अपने प्रयोग किये थे। जिसमें एक लेन्स द्वारा किसी वस्तु का उल्टा प्रतिबिम्ब दीवाल या पर्दे पर देखा जाता है।

दूरदर्शक दो प्रकार के होते हैं। एक तालयुक्त दूरदर्शक, दूसरा दर्पण युक्त दूरदर्शक।

संसार का प्रथम तालयुक्त दूरदर्शक हालैण्ड में सन् १६०८ में हेनरी लीपर्शे (Henry Lippershey) द्वारा बना; लेकिन दूरदर्शक बनाने का श्रेय गैलीलियो को है। न जाने क्यों? सन् १६०९ में जब गैलीलियो वेनिस गया था, तब उसने दूरदर्शक की खोज की सम्बन्ध में सुना था। वहाँ इससे अधिक पता उसे न लग सका; लेकिन जब वह घर आया तब उसने अधिक परिश्रम के पश्चात् दूरदर्शक बनाया। गैलीलियो ने जितने भी दूरदर्शक बनाये थे उनमें उपदृश्य लेन्स (Object glass) उन्नतोदर लेन्स (Convex-lens) के और अभिवर्द्धक लेन्स (Eye-lens) नतोदर लेन्स (Concave-lens) के बने थे। अब भी इस प्रकार के साधारण दूरदर्शक बनते हैं जिनको 'गैलीलियन दूरदर्शक' कहते हैं। इस दूरदर्शक में निम्नलिखित दोष थे :—

१—इनका वास्तविक नाभि (Focus) वहाँ नहीं होता जहाँ स्वस्तिका सूत्र (Cross wire) रक्खा जाता है।

२—इसमें दृष्टि-क्षेत्र (Field of view) बहुत छोटा होता है।

३—इस प्रकार के दूरदर्शक रंग-दोष युक्त थे।

यद्यपि इन दोषों को दूर करने के लिये सन् १६११ में केपलर (Kepler) ने यह राय दी कि अभिवर्द्धक लेन्स (Eye-lens) उन्नतोदर लेन्स (Convex-lens) का बनाया जाय और स्वेआइनर (Scheiner) ने सन् १६ ७ में एक दूरदर्शक ऐसा बनाया भी, तथापि वास्तव में हायगेन्स (Huygens) ने इन दोषों को कम किया। रंग-दोष दूर करने के लिये सत्रहवीं शताब्दी में दूरदर्शक अधिक लम्बे बनाये जाने लगे थे। यहाँ तक कि उनकी लम्बाई ३०० फीट तक पहुँच चुकी थी। हायगेन्स ने यौगिक अभिवर्द्धक लेन्स की खोज की, जिस कारण उसका नाम चारों ओर फैल गया। उसने अभिवर्द्धक लेन्स में २ उन्नतोदर लेन्स गोला-पेरण (Spherical aberration) दूर करने के लिये लगाया।

लेकिन न्यूटन के वर्ण-विश्लेषण (Dispersion) और सौर वर्ण पट (Solar spectrum) पर प्रयोग करने के पश्चात् ही दूरदर्शक के रंग-दोष का कारण ज्ञात हो सका। गोला पेरण (रंग-दोष) (Spherical aberration) को दूर करने के लिये १६६३ में एबर्डीन और एडिनबर्ग के जेम्स ग्रिगोरी (James Gregory) ने अपनी पुस्तक 'आप्टिका प्रोमोटा' (Optica promota) में परवलीय आकार (Parabolic Form) का 'रिफ्लेक्टिङ्ग स्पेक्युलयम' (Reflecting Speculum) दूरदर्शक में लगाने की राय दी; लेकिन १६६३ के करीब न्यूटन में संसार का सर्वप्रथम दर्पण-युक्त दूरदर्शक (Reflecting Telescope) बनाया। यह दूरदर्शक न्यूटन ने रंग-दोष दूर करने के विचार से बनाया था; लेकिन रंग-दोष पूर्ण रूप से दूर न हो सका यद्यपि उसका कारण न्यूटन ने खोज लिया था।

समय किसी की प्रतीक्षा किये बिना अपनी द्रुत

गति से बीतता गया और इस प्रकार के दूरदर्शक का प्रयोग भी बढ़ता गया। १७२३ में हैडले Hadley) के द्वारा पाउण्ड (Pound) और ब्रैडले (Bradley) ने एक दूरदर्शक इस प्रकार का बनाया और रायल सोसाइटी को दान में दे दिया। हाक्स बी, (Hawks bee) ब्रैडले और मार्लीनाक्स (Moly Neaux) ने इस प्रकार के कई दूरदर्शक बनाये; लेकिन एडिन बर्ग के जेम्स शोर्टा (James Shorta) ने १७३२ में मृत्युपर्यन्त १७६८ तक इस प्रकार के गिगोरियन परावर्त्तक दूरदर्शक अधिक संख्या में बनाया जो बहुत ही अच्छे थे।

वर्णापेरण (Chromatic aberration) जो न्यूटन के दुःख का कारण था तब तक बना रहा, जब तक कि जान डोलाण्ड (John Dollond) (१७०६-१७६१) ने अवर्णक लेन्स (Achromatic lens) न बनाया था। यह लेन्स दो लेन्सों से बनाया गया था जिनमें एक क्राउन शीशे और दूसरा फ्लिण्ट शीशे का बना था। इससे रंगन्दोष दूर हो गया। कहा जाता है कि यूलर (Eular ने इस तथ्य की थ्योरी पहले तैयार की थी; लेकिन इसे वह बना न सका था। जान डोलाण्ड यद्यपि अच्छे और बड़े आकार का दूरदर्शक बनाकर ख्याति पाने के लिये व्याकुल थे; तथापि एक समस्या यह थी कि बड़े आकार का फ्लिण्ट शीशे का लेन्स बनाने में अत्यधिक कठिनाई होती थी, इस कारण वे अपनी लालसा पूर्ण करने में असफल रहे और इस प्रकार दोष रहित तालयुक्त दूरदर्शक Achromatic Telescope) का पहला आविष्कारक और निर्माण कर्त्ता चेस्टर मूर हाल (Chester Moor Hall) माना जाता है, जिसने इसे व्यापार का रूप नहीं दिया। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में स्विटजरलैण्ड के निवासी 'ग्यूनैण्ड' ने बड़ी सफलता पूर्वक फ्लिण्ट शीशे का लेन्स बनाया जिसके सतह पर किसी प्रकार की खरोच की लकीर न थी। (Free from Stria) म्यूनिच के प्रसिद्ध वैज्ञानिक फ्राउन होफर (Frauen Hofer) ने इसके बाद अत्यधिक परिश्रम के पश्चात ९-९ इंच व्यास का तथा १३१ फीट फोकल लेन्स का एक दूरदर्शक बनाया। इसके बाद एक दूरदर्शक और १२ इंच व्यास का और १८ फीट फोकल लेन्स का बनाया जो म्यूनिच के लामोण्ट बेधशाला के लिये बना था।

उन्नीसवीं शताब्दी में दर्पणयुक्त भीमकाय दूरदर्शक बनाये गये। हरशेल ने ९ फुट का एक दर्पण युक्त दूरदर्शक बनाया था जिससे उसने ४ नये नक्षत्रों का पता लगाया था, उसका दूरदर्शक अधिक सुन्दर था। रास के नवाब का वह दूरदर्शक कुछ समय के लिये संसार का सबसे बड़ा दर्पण युक्त दूरदर्शक था, जिसके दर्पण का व्यास ६ फीट और फोकल लेन्स ५४ फीट है जो सन १८४५ में बना था।

बड़े-बड़े दूरदर्शक यदि ऊँचे पहाड़ों की वेध-शालाओं में न रक्खे जायँ तो वायु-मण्डल की अस्वच्छता के कारण उनसे समुचित लाभ नहीं उठाया जा सकता। यही कारण है कि संसार की बड़ी-बड़ी वेधशालायें ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पर बनी हैं।"

उन्नीसवीं शताब्दी में यद्यपि तालयुक्त दूरदर्शक कम बने; तथापि जो बने वे ख्यातिप्राप्त हैं।" शिकागो शहर के यरकिज वेधशाला का ४० इंच का दूरदर्शक जगत्प्रसिद्ध हैं, इसके पश्चात ४८ इंच व्यास के दूसरे तालयुक्त दूरदर्शक का दर्शन आप मेलबोर्न शहर के ग्रु लेब बेधशाला में कर सकते हैं।" यद्यपि इस शताब्दी में ताल युक्त दूरदर्शकों का निर्माण कुछ रुक सा गया था; तथापि जब बरमिंघम के चान्स, पेरिस के मैनटोइस और अमरीका के जगत्प्रसिद्ध एलवन क्लार्क इत्यादि लोगों ने ताल युक्त दूरदर्शक बनाना प्रारम्भ किया तब तालयुक्त दूरदर्शक की भी उन्नति हुई। एलवन क्लार्क ने कई तालयुक्त दूरदर्शक बनाये थे। जो जगत्प्रसिद्ध हैं। जिनके कारण आज एलवक क्लार्क का नाम अमर है।

इंग्लैण्ड के कुक ने २५ इंच का एक तालयुक्त दूरदर्शक बनाया जो आज भी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में काम कर रहा है। इसके बाद एलवन क्लार्क ने वाशिङ्गटन का २६ इंच का तालयुक्त दूरदर्शक बनाया। इनसे बढ़ने के लिये ग्रुब (Grubb) ने वियेना के लिये २७ इंच का तालयुक्त दूरदर्शक बनाया। इनके पश्चात गौटिअर (Gautier) ने २९-५ इंच व्यास का तालयुक्त दूरदर्शक और एलवन क्लार्क ने ३० इंच व्यास का तालयुक्त दूरदर्शक रूस की पुलकोवा वेधशाला के लिये बनाया। इसके पश्चात लिक महाशय की आज्ञानुसर एलवन क्लार्क ने दुनियाँ का

सबसे बड़ा तालयुक्त दूरदर्शक कैलीफोर्निया की लिक वेधशाला के लिये बनाया जिसका व्यास ३६ इंच है; लेकिन सबसे बड़ा होने का श्रेय कुछ ही वर्षों तक इसे रहा उसके बाद शिकागो शहर के यरकिज वेधशाला के लिये ४० इंच व्यास का तालयुक्त दूरदर्शक एलबन क्लार्क ने अब तक के लिये संसार का सबसे बड़ा तालयुक्त दूरदर्शक बनाया।

ग्रिनविच वैधशाला के दूरदर्शक का व्यास २८ इंच है जो तालयुक्त है और उसके साथ एक कैमरा भी लगा है। ग्रुव ने २६ इंच के फोटोग्रैफिक तालयुक्त दूरदर्शक के साथ एक ३० इंच के व्यास का दर्पण युक्त दूरदर्शक लगाकर एक दूरदर्शक बनाया था। इसके पश्चात एक तालयुक्त दूरदर्शक हम उत्तमाशा अन्तरीप (Cape of Good Hope) में और पाते हैं जो फ्रैङ्क मैकलीन (Frank Maclean) महाशय का २४ इंच व्यास का दूरदर्शक है जिसमें वर्णपटीय कार्य (Spectroscopic Work) के लिये उपदृश्य लेन्स के साथ एक त्रिपार्श्व (Prism) भी लगा है।

यद्यपि दर्पण युक्त दूरदर्शक से ध्यान हटाकर लोगों ने तालयुक्त दूरदर्शक बनाना प्रारम्भ कर दिया था; तथापि जब लोगों ने देखा कि ४० इंच से अधिक व्यास का ताल युक्त दूरदर्शक बनना सम्भवतः असम्भव है तब लोगों ने दर्पणयुक्त दूरदर्शक पुनः बनाना प्रारम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ १९१८ में कनाडा में ७२ इञ्च व्यास का दर्पणयुक्त दूरदर्शक बना। इसके पश्चात माउण्ट विलसन पर १०० इञ्च व्यास का दर्पणयुक्त दूरदर्शक बना और आज संसार का सबसे बड़ा दर्पणयुक्त दूरदर्शक भी आप अमरीका में देखेंगे जिसका व्यास २०० इञ्च का है।

(पृष्ठ १४९ का शेष अंक)

te degree) के नीचे अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं पर गवेषणा की जा रही है। इस दिशा में अभी तक बहुत काम नहीं हुआ। परन्तु जितना भी काम हुआ है, उससे बहुत ही नवीन एवं मनोरंजक बातों का ज्ञान हुआ है। इतने अल्प ताप पर धातुओं के साधारण गुणों में ऐसे परिवर्तन होते देखे जाते हैं, जिन्होने वैज्ञानिक जगत में आश्चर्य ही नहीं उत्पन्न कर दिया, परन्तु साथ ही जिज्ञासा को परम सीमा पर पहुँचा दिया है। जो धातु सामान्य ताप पर विद्युत एवं उष्णता के साधारण संचालक हैं वे ही अल्प ताप पर अति संचालक (Super conducting) हो जाते हैं। उनकी चुम्बकीय अवस्थाओं में भी भारी उलट पुलट हो जाती है। इतना ही क्यों तरल पदार्थ अति तरल बन जाते हैं अर्थात् उनका सान्द्रता गुणक (Viscoity Coefficient) बहुत ही कम हो जाता है। हिलीयम तरल का भी २. १८०° परम ताप के नीचे का अध्ययन बहुत ही रोचक है। इस क्षेत्र में अनुसंधान इतना क्रान्तिकारी एवं कौतूहलपूर्ण होते हुए भी वह इतना सरल तो नहीं है, जितना कि ज्ञात होता है. क्योंकि अल्पतापीय अवस्थाओं को प्राप्त करना और उनको बनाये रखना विशेष उलझन भरा होने के कारण एक विकट समस्या है।

विज्ञान के इस महान केन्द्र में अनुसंधान एवं अध्ययन इन्हीं तीन विभागों तक सीमित नहीं रहकर अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं को समझने में भिन्न भिन्न देशों एवं राष्ट्रों से आये हुए अनेक युवक वैज्ञानिक निरंतर प्रयत्नशील हैं। एक्स किरणों द्वारा द्रव्यों में अणुओं एवं परमाणुओं की व्यवस्था के अध्ययन में तथा मौसम विज्ञान के उपयोगी क्षेत्र में भी ज्ञान की वृद्धि करने में बड़े-बड़े अनुभवी वैज्ञानिकों की संरक्षता में एक से एक बढ़ कर मौलिक आविष्कार किये जा रहे हैं।

विज्ञान का यह विशाल-भवन अध्ययन का एक महान केन्द्र है, जिसकी प्रसिद्धि विश्वव्यापक है। इस मंदिर में उपलब्ध समस्त साधनों को जुटा कर समूची शक्ति एवं पूर्ण संयम और साधना से काम करने वाले वैज्ञानिकों के निःस्वार्थ सेवा स्वरूप दीप शिखा की पुनीत एवं प्रबल ज्योति से सम्पूर्ण वैज्ञानिक जगत प्रकाशित होगा, ऐसी पूर्ण आशा है।

केवन्डीस प्रयोगशाला में विज्ञान की प्रगति*

[श्री दुलह सिंह कोठारी, M. Sc, उदयपुर]

केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी इंग्लैंड की केवन्डीस प्रयोगशाला की ख्याति विश्वव्यापक है। वर्षों से भौतिक-विज्ञान संबंधी बहुत ही महत्वपूर्ण अन्वेषण का यह एक महान अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र रहा है। इसी प्रयोगशाला के बड़े बड़े प्रतिभाशाली एवं तेजस्वी वैज्ञानिक अपनी कठोर साधना और संयम से विज्ञान की गूढ़तम गुत्थियों को सुलझाने में विशेष रूप से सार्थक सिद्ध हुए हैं। उन्होंने समस्त विज्ञान जगत् में व्यापक घोर तिमिर को नष्ट कर नवीन-प्रकाश का संचार किया।

इस प्रयोगशाला से विज्ञान के साधारण विद्यार्थी भी पूर्णतया परिचित हैं। इसके भवनों का उद्‌घाटन सन् १८७४ में हुआ था। जेम्सक्लर्क मेक्सवेल, लार्ड रैले एवं जे० जे० थामसन जैसे प्रसिद्ध वैज्ञानिक इसके प्रथम आचार्यों में से थे। यह वही प्रयोगशाला है जिसमें सि० टी० आर० विल्सन ने क्लाउड चेम्बर नामक परम उपयोगी यंत्र का निर्माण किया था। यह यंत्र अपने ढंग का एक बहुत अनोखा आविष्कार है, जिसकी समानता करने वाला-जहां तक परमाणु विज्ञान (Atomic Physics) का संबंध है, कदाचित् दूसरा उपकरण नहीं है। क्लाउड चेम्बर विद्युतकणों के हवा एवं किसी गैस में मार्गों (tracks) के अध्ययन करने तथा केमरे द्वारा उनके चित्र चित्रण करने का एक अपूर्व सरल तथा सुगम साधन है। इसकी क्रिया निस्संदेह बहुत ही साधारण सिद्धान्त पर अवलम्बित है। आधुनिक समय में भी यह यंत्र अंतरीक्ष किरणों (Cosmic Rays) एवं नियंत्रित तथा कृत्रिम परिस्थितियों में नाभिकीय क्रियाओं के (Nuclear reactions) अध्ययन में बहुत ही हितकर सिद्ध हो रहा है। सच तो यह है कि परमाणु जगत् में इसकी उपयोगिता ज्योतिष विज्ञान में दूरवीक्षण यंत्र की एवं प्राणी तथा वनस्पति विज्ञान में अनुवीक्षण यंत्र की महत्ता से भी कहीं अधिक है।

यह वही प्रयोगशाला है जिसमें एफ० डबल्यु-आस्टन ने संहति स्पेक्ट्रम मापी (Mass spectrography) यंत्र का विकास किया। यद्यपि इसके आविष्कार का श्रेय तो अवश्य ही थामसन को है। इस यन्त्र द्वारा किसी भी तत्व के समस्थानिक परमाणुओं का ज्ञान सुगमता के साथ प्राप्त कर सकते हैं। समस्थानिक परमाणु किसी एक ही तत्व के वे परमाणु हैं जो भौतिक तथा रसायनिक दृष्टि से पूर्णरूपेण समान होते हैं फिर भी जिनका भार भिन्न-भिन्न होता है। समस्थानिक परमाणु के नाभियों में प्रोटॉन की संख्या एक ही होते हुए भी न्यूट्रान (Neutron) की संख्या भिन्न-भिन्न होती है। इस कारण से उनका परमाणु-भार भी अलग-अलग होता है। उदाहरणार्थ उद्‌जन गैस तीन समस्थानिक अवस्थाओं में पाया जाता है. जिनका भार क्रमशः १, २ तथा ३ है। अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि आवर्तसारिणी (Periodic Table) के लगभग सभी तत्वों के समस्थानिक परमाणु हैं, यद्यपि उनकी संख्या एवं उनका अनुपात भिन्न-भिन्न तत्वों के साथ भिन्न होता है। यूरेनियम तत्व के भी तीन समस्थानिक परमाणु हैं। परमाणु शक्ति की दृष्टि से २३५ भार वाले परमाणु बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। निस्संदेह समस्थानिक परमाणुओं को पृथक करना एक बहुत ही कठिन कार्य है जो अनेक प्रकार की टेकनिकल अड़चनों से मुक्त नहीं है। हमको यह ज्ञात होना चाहिये कि परमाणु बम्ब के बनाने में जो सबसे जटिल समस्या वैज्ञानिकों ने अनुभव की, वह बहुत करके यूरेनियम के समस्थानिक परमाणुओं (भार २३५) को उनके साधारण परमाणुओं (भार २३८) से पृथक करना था। क्योंकि यूरेनियम परमाणु २३५ बहुत ही -

* Physics Today, में प्रकाशित लेख के आधार पर।

अल्पमात्रा में साधारण परमाणुओं से मिश्रित रहते हैं, यह कार्य विशेष रूप से कठिन सिद्ध हुआ। इसमें तो तनिक भी शंका नहीं कि सिद्धान्त की दृष्टि से यह आविष्कार वैज्ञानिक क्षेत्र में बहुत महत्व रखता है। परमाणुओं की नाभकीय रचनाओं (Nuclear Composition) को स्थिर करने में समस्थानिक परमाणुओं का ज्ञान अधिक सहायक हुआ है। व्यावहारिक दृष्टि से भी कृत्रिम विघटनशील समस्थानिक परमाणु (Artifitial Radisoactive Isotopes) परम उपयोगी एवं कल्याणकारी सिद्ध हुए हैं। क्योंकि आज-कल इन परमाणुओं से भयंकर रोगों का उपचार ही नहीं किया जाता है वरन् हमारे शारीरिक एवं समस्त वनस्पति जगत सम्बन्धी अनेक क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं के अध्ययन करने में भी यह बहुत ही क्रान्तिकारी सिद्ध हो रहे हैं।

इसी प्रयोगशाला में स्वर्गीय लार्ड रदर फोर्ड ने रेडियम तत्व के परमाणु के विस्फोट से विसर्जित एल्फा कण (Alpha Rays) की चोट से नाइट्रोजन गैस के परमाणुओं को ओषजन गैस के परमाणुओं में परिवर्तित कर चिरकालीन कीमियागरों (Alchemists) के सुनहले स्वप्नों को प्रत्यक्ष कर दिखाया। अपने समय का यह आविष्कार सबसे महान था, जो कि आधुनिक भौतिक विज्ञान का मूल आधार है। सरजॉन काके क्रॉफ्ट Coececroft एवं उनके साथी ई. टी. एस. वाल्टन ने सर्वप्रथम उपायों द्वारा तरणीय (accelerated) विद्युतकणों की मार से परमाणु नाभिकों का विघटन (disintegration) किया। आजकल तो ऐसे-ऐसे विशालकाय यंत्रों का जिनको वैज्ञानिक परिभाषा में साइक्लोट्रन (Cyclotrone) कहते हैं, निर्माण किया जा चुका है, जिनके द्वारा विद्युत् कणों की वेधी तीव्र एवं शक्तिशाली किरणें प्राप्त की जा सकती हैं। इन किरणों के संघात से परमाणुओं का विच्छेद बहुत ही वेग से पर्याप्त मात्रा में किया जा सकता है। इस प्रकार परमाणु नाभिकीय रचना के अध्ययन करने में यह बहुत उपयोगी सिद्ध हो रही है।

इस प्रसिद्ध प्रयोग-शाला में इन दिनों में भी बहुत ही महत्वपूर्ण अनुसंधान तथा गवेषणा के कार्य बड़े-बड़े वैज्ञानिकों की संरक्षता में हो रहे हैं। इस प्रयोगशाला के मुख्य तीन विभाग हैं:—

(१) नाभिकीय गवेषणा विभाग—इस विभाग में एक छोटा सा "साइक्लोट्रन", दो फिलिप्स ऋजुकारी यंत्र (Rectifiers) तथा एक वान. डी. गराफ नामक यंत्र हैं। इनके अतिरिक्त एक रेखीय त्वरण यंत्र का भी निर्माण किया जा रहा है। अनुमान है कि इस नवीन यंत्र से विद्युत् ३०० meu कणों को ३० करोड़ इलेक्ट्रान वोल्ट तक की शक्ति प्रदान की जा सकेगी। प्रयोगशाला का यह विभाग परमाणु के अध्ययन करने के अन्य कई प्रकार के परम उपयोगी एवं आधुनिक साधनों से सुसज्जित हैं। यहां के वैज्ञानिक इस समस्या को समझने में अध्ययनशील हैं कि वह कौन सी शक्ति है जिसके कारण नाभिक के भिन्न-भिन्न धनात्मक कण अर्थात प्रोटोन्स, परमाणु के केन्द्र पर केन्द्रित है। स्थिर विद्युत (Electrostatics) के नियमानुसार (Coulombs Law) प्रोटोन्स एक ही प्रकार के आवेशित (Charged) कण होने के कारण परस्पर में एक दूसरे को प्रतिकर्षण करना चाहिये। फिर नाभिक में स्थित प्रोटोन्स तो अत्यधिक निकट होने से भीष्म प्रतिकर्षण अनुभव करते हैं। इसी प्रतिकर्षण के होते हुए भी नाभिकीय कणों का उद्घटन नहीं हो जाता, वरन वह तो एक ही सूत्र में बंधे रहते हैं। इसका अभिप्राय स्पष्ट रूप से यही है कि नाभिकीय कणों का संग्रहीत रूप में बांधे रखने वाली कोई न कोई अन्य शक्ति अवश्य होनी चाहिये। इस शक्ति के स्वरूप को ठीक-ठीक रूप से समझना ही परमाणु विज्ञान संबंधी समस्याओं में बहुत ही विषम एवं उलझन भरी समस्या है। इस समस्या को सुलझाने में आज संसार के वैज्ञानिक परिश्रमशील हैं। केवन्डीस प्रयोग-शाला में विशेष रूप से इसके परमाणु के नाभिकाओं का अध्ययन किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर अन्य कई महत्वपूर्ण परमाणु नाभिकीय समस्याओं पर गवेषणा हो रही है, जैसे गामा किरणों द्वारा उद्जन के समस्थानिक डिटिरान (Deutron) के तथा अन्य परमाणुओं के नाभिकों का विभाजन, अस्थायी नाभिकों की बंधन-उर्ज्जा (Building energy) का अध्ययन, इत्यादि।

(२) रेडियो-विभाग—यह प्रयोगशाला का द्वितीय अंग है। इस विभाग में आधुनिक एवं सुग्राही उपकरणों द्वारा आइनोस्फीयर (Ionosphere) के विषयक ज्ञान में विकास किया जा रहा है। आइनोस्फीयर पृथ्वी के धरातल से कोई ७० मील में लेकर २०० मील के ऊँचाई के मध्य स्थित हवा के स्तर को कहते हैं। इस ऊँचाई पर सूर्य रश्मियों द्वारा वायु कणों का निरंतर धनात्मक एवं ऋणात्मक विभागों में विभाजन होता रहता है। इन विभागों को आइन्स (Ions) कहते हैं। आइनोस्फीयर, इस प्रकार के आयन्स की बनी रहती है। सूर्य की स्थिति एवं ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ इस स्तर के आयत करणीय अवस्थाओं में भी परिवर्तन होता रहता है। ऊपर आकाश की ओर जाने वाले लघु रेडियो तरंगों को पुनः पृथ्वी की ओर परिवर्तित करने में यह स्फीयर एक दर्पण का काम करती है। सच तो यह है कि बिना आइनोस्फीयर के सुदूरवर्ती देशों में रेडियो द्वारा सूचना भेजना असंभव सा होगा। रेडियो संचरण पर आइनोस्फीयर की अवस्थाओं में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव होना अनिवार्य ही है। और इस दृष्टि से भी इसका पदार्थ ज्ञान मालूम करना परमावश्यक है। अभी तक जो कुछ भी इस विषय में जानकारी हम प्राप्त कर चुके हैं, वह अपूर्ण एवं बहुत थोड़ी है। आशा है कि नवीन साधनों से हमको इसके रहस्यों का पता लगाने में पर्याप्त सफलता मिलेगी।

रेडियो ज्योतिष (Radio Astronomy) जैसे बिलकुल ही नवीन विज्ञान के क्षेत्र में भी इस प्रयोगशाला में बहुत ही संलग्नता एवं उत्साह के साथ उत्तम कार्य हो रहा है। पिछले कुछ वर्षों में एवं विशेषकर गतमहायुद्ध के समय ऐसे यन्त्रों का आविष्कार किया गया है जिनमें लघु रेडियो तरंगों का उपयोग किया गया था। इस प्रकार के यन्त्र विशेषतः दो प्रकार के होते हैं। एक तो वह जो लघु रेडियो तरंगों को आकाश में संचरण करता है। ये तरंगें बादल, ओस, कुहरे को भेदने की शक्ति रखती हैं। अतः मेघों के आवरणों में छिपी हुई किसी भी वस्तु पर जब ये तरंगे फिरती हैं तो वह उसमें परिवर्तित होकर पुनः पृथ्वी की ओर लौटती हैं। ये तरंगे संग्राही यन्त्र में प्रवेशकर वस्तुस्थिति, आकृति, इत्यादि अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त कराने में साधक होती हैं। इन यन्त्रों को रडर (Radar) कहते हैं। 'रडर' का उपयोग गत महायुद्ध में बादलों के आवरणों में छिपे हुए वायुयानों का पता लगाने में बहुत किया गया।

दूसरे रडर से बहुत समानता रखते हुए ऐसे यंत्रों का जिनको रेडियो-दूरवीक्षण यंत्र कहते हैं, आविष्कार किया गया है, जिनके प्रयोग से अंतर तारीय जगत में बिखरे पड़े सुदूरवर्ती तारों एवं ज्योतिर्पिण्डों से संचालित की हुई लघु तरंग द्वारा, उन्हीं पिंडों का ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार के ज्योतिषी-अध्ययन को रेडियो-ज्योतिष कहते हैं। रेडियो-ज्योतिष का विकास होने से हम अनेक ऐसे सुदूरवर्ती पिण्डों का भी पता लगा सकेंगे, जिनको देखने में हमारे महान से महान दूरवीक्षण यंत्र भी सर्वथा ही असमर्थ हैं। इसका कारण स्पष्ट है। दूरवीक्षण यंत्र से जिन तरंगों द्वारा हम सृष्टि का निरीक्षण करते हैं, उनकी तरंग-दैर्ध्य (Wave length), लघु रेडियो तरंगों की अपेक्षा में बहुत ही सूक्ष्म होने के फल-स्वरूप, उनका वायु के अथवा अन्य कणों से अप किरण विशेष परिणाम में होता है। अतः ब्रह्माण्ड के गर्भ में बहुत दूरी पर स्थित, पिंडों से रश्मियें पृथ्वी तक पहुँचती पहुँचती इतनी क्षीण हो जाती है कि उनमें दूरवीक्षण यंत्र तथा नेत्रों को प्रभावित करने की सामर्थ्य नहीं रहती। द्वितीय, ये तरंगें, लघु रेडियो तरंगों की भाँति बादल एवं कोहरे को पार नहीं कर सकतीं। इसलिये दूरवीक्षण यंत्रों से हम बादलों के आवरणों में विलीन पिंडों को भी नहीं देख सकते। परन्तु जहाँ तक लघु रेडियो-तरंगों का सम्बन्ध है, इन तरंगों का अप किरण भी बहुत कम अनुपात में होता है। साथ ही मेघों से आच्छादित वायुमंडल को वेधन करने की शक्ति होने के कारण, रेडियो दूरवीक्षण यंत्रों का प्रयोग ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो रहा है। केम्ब्रिज के वैज्ञानिक इन नवीन यंत्रों को विशेष सुग्राही तथा विश्लेषणीय बनाने में प्रयत्नशील हैं। भविष्य में इन अनुसंधानों से ज्योतिष संबंधी अनेक रहस्यमयी गुत्थियों को सुलझाने में बहुत सहायता मिलेगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

प्रयोगशाला का तृतीय विभाग अल्प तापीय अन्वेषण से संबन्धित है। इस क्षेत्र में ४.२ परम ताप (Absolu-

[शेष पृष्ठ १४६ पर]

रसायन और बिजली (१)

इटली के दो वैज्ञानिकों का वह विवाद देखने-सुनने ही योग्य था जिनमें एक कहता कि बिजली मृत मेढक की पेशियों से उत्पन्न होती है। किन्तु दूसरा कहता कि बिजली उत्पन्न होने का कारण मेढक के मृत अंग का परिणाम नहीं है; प्रत्युत दो धातुओं की ही माया है। मेढक के मृत शरीर से बिजली उत्पन्न होने का पक्ष लेने वाला गालवनी नाम का चिकित्सा-शास्त्री था, परन्तु दो विभिन्न धातुओं का ही संयोग बिजली उत्पन्न करने का प्रतिपादन करने वाला वोल्टा नाम का वैज्ञानिक था। इन दोनों पक्षों में बड़ा ही गम्भीर विवाद चल सका था। विज्ञान जगत में ऐसा होता है कि पहले कोई मिथ्या धारणा बना कर लोग उसे सत्य सिद्ध करने की चिन्ता में पड़ते हैं किन्तु प्रायः उन्हें सफलता से विमुख होना पड़ता है। परन्तु कुछ ऐसे कठोर मनस्वी और विचारक भी होते हैं जो किसी नवीन विचारधारा का आभास पा जाते हैं और उसे अपने हृदय में इतना गहरा बैठा लेते हैं कि विरोधों का प्रहार उन्हें विचलित न कर दे। अपने ध्रुव निश्चय पर अडिग ही बने पड़े रहते हैं। अन्त में उनके विचारों या धारणाओं की सत्यता प्रकट होकर ही रहती है। गालवनी की धारणा कच्चे आधार पर तथा मिथ्या थी, परन्तु वोल्टा का निष्कर्ष सत्य किन्तु कुछ तिमिराच्छन्न था, अतएव उस सत्य को अनावृत करने के लिए कुछ प्रयोगों और चिन्तन की आवश्यकता पड़ी। उसे सम्पन्न कर वोल्टा ने नग्न सत्य विज्ञानजगत के सम्मुख रक्खा। लिवगी या अलायजियो गालवनी (१७३७-१७९८) बोलोग्ना में शरीर विज्ञान का आचार्य था। उसने मेढक के मृत शरीर की पेशियों को उत्तेजना प्रकट करते देखा। बात यह हुई थी कि उसकी स्त्री ने मेज पर मृत मेढक की चीर-फाड़ करते समय नसों में कुछ गति होते देखा था। उसके चाकू पर कदाचित् समीप में रक्खे विद्युत-उत्पादक यन्त्र द्वारा विद्युत का प्रभाव पड़ने से यह क्रिया हुई थी, इस कारण जान्तव विद्युत समझ कर इस ओर गालवनी का ध्यान गया था। समीप कोई विद्युत-उत्पादक विद्युत यन्त्र न होने पर भी गालवनी ने प्रयोग कर देखा कि मृत मेढक की नसों से दो धातुओं का स्पर्श होने से बिजली की धारा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रसिद्ध प्रयोग द्वारा उसने मेढक के शरीर के संसर्ग से विद्युत उत्पन्न होने का प्रदर्शन कर यह मन्तव्य निश्चित करना चाहा कि जन्तु के मृत शरीर में भी ऐसी बिजली होती है। भ्रम से वह धातुओं के स्थान पर जन्तु की पेशियों को ही बिजली के उत्पन्न करने का स्रोत मानता था।

काउंट एलेस्सेड्रो वोल्टा (१७४५-१८२७) इटली में पाविया विश्वविद्यालय का विज्ञानाध्यापक था। उसने बिजली की धारा उत्पन्न होने के स्पष्ट आधारों को ज्ञात किया और बताया कि किसी भी दो विभिन्न धातु की पट्टियाँ नमक, तेजाब या अमोनिया के घोल या नम आवरण के सम्पर्क में रक्खी जायँ जिनमें से एक धातु-पट्टी पर दूसरी की अपेक्षा अधिक रासायनिक क्रिया हो तो बिजली की धारा उत्पन्न की जा सकती है। यह एक सरल सिद्धान्त ही ज्ञात होता था परन्तु इसका परिणाम बड़ा ही महत्वपूर्ण निकल सकता था।

बिजली की धारा उत्पन्न करने का एक साधारण प्रयोग किया जा सकता है। चाँदी की अठन्नी या कोई सिक्का लें। साथ ही एक पैसा या ताँबे का कोई सिक्का लें। दोनों धातुओं के सिक्के बराबर आकार के हों तो अधिक अच्छा हो। इनको अच्छी तरह स्वच्छ कर लें। फिर एक नीबू लें और उसमें इन दोनों सिक्कों को समीप-समीप किन्तु एक दूसरे से सर्वथा पृथक् रखते ही गाड़ दें। केवल कुछ अंश ही छिलके के ऊपर निकला पड़ा रहने दें। इन दोनों सिक्कों में चाँदी की अपेक्षा ताँबे पर नीबू के रस की अधिक प्रतिक्रिया होगी। अब यदि अपनी जीभ मुँह से बाहर निकाल नीबू में गड़े दोनों सिक्कों को एक साथ ही स्पर्श करें तो आपको जीभ में बिजली की हलकी धारा प्रवाहित अनुभव

होगी। छोटे-मोटे यंत्र पर इस विद्युत धारा का प्रभाव अनुभव करना सम्भव हो सकता है। उसके लिए जीभ की जगह तारों द्वारा सम्बन्ध स्थापित करना पड़ सकता है।

वोल्टा ने ऐसी ही युक्ति के अनुरूप एक बाटरी बनाई एक ताँबा तथा एक जस्ते का गोल चपटा खंड या चकत्ती लेकर उनके बीच नमक के घोल में सिंचित स्याहीसोख रखा। तार द्वारा इन दोनों धातु की चकत्तियों का संयोग कराने से विद्युत धारा उत्पन्न होती। ताँबे की अपेक्षा जस्ते पर नमक के घोल या ऐसे रासायनिक द्रवों की प्रतिक्रिया अधिक होती है। उसी से बिजली की धारा उत्पन्न हो पाती है। इसी के धातु-दंडों के प्रबन्ध से भारी-भारी बाटरिएँ भी बनाई जा सकतीं। एक-एक जोड़ी चकत्तियों की अनेक तहें बनाकर बीच-बीच में रासायनिक क्रिया उत्पादक घोल या घोल में सिंचित वस्त्र या स्याहीसोख रख कर उन्हें प्रतिक्रिया के लिए उत्प्रेरित किया जा सकता था। ऐसी व्यवस्था को वोल्टा की पाइल या वोल्टापट्टिका नाम दिया जाता। एक-एक वस्त्र में दो धातु या विभिन्न धातुओं के लम्बे खंड ही रख उन पात्रों में अम्लमिश्रित जल या लवण का घोल रख कर भी विद्युत धारा उत्पन्न करने का वैसा ही काम निकलता।

इस तरह गालवनी और वोल्टा को रासायनिक विधियों से दो विभिन्न धातुओं के खंडों या चकत्तियों से विद्युत धारा संचार की विधि ज्ञात करने से हम इनका नाम विज्ञान जगत, और विशेषतया विद्युत विज्ञान की कथा में अमर ही पाते हैं। परिणाम-स्वरूप विद्युत उत्पादन तथा प्रसार के उपकरणों में इन दोनों व्यक्तियों के नाम से कुछ वस्तुएँ पुकारी जाती देखकर हम इनकी स्मृति बनाये रखने की व्यवस्था पाते हैं।

रसायन-विज्ञान की कुशलता ने विद्युत धारा रूप में जैसी प्रबल शक्ति उत्पन्न करने की क्षमता उत्पन्न की, कदाचित् उसी ऋण से उऋण होने के लिए विद्युत-धारा-बल को हम रसायन विज्ञान की प्रगति में भारी सहयोग प्रदान करते पाते हैं। तत्वों की खोज के सम्बन्ध में भी विद्युत धारा ने उल्लेखनीय सहायता प्रदान की अतएव हमें बहुत से तत्वों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सकना संभव हो सका जो अज्ञात ही पड़े रहते आ रहे थे।

प्रश्न यह उठ सकता है कि बिजली की धारा क्या वस्तु है। वैज्ञानिक बतलाते हैं कि तत्वों के कण अर्थात् परमाणु की रचना में बाह्य तथा आभ्यंतरिक दो प्रकार के अवयव होते हैं। बाह्य अवयव अपेक्षाकृत अधिक क्षुद्र और लघ्वाकार होते हैं क्षोभों या ताप से उनका पृथक् हो सकना सहज होता है। उनका किसी पदार्थ में अतिरेक कराया जा सकता है और किसी में अभाव। इन बाह्यांगी परमाणविक अवयवों को ऋणाणु या विद्युताण (एलेक्ट्रन) नाम दिया गया है। उन्हें ऋणात्मक विद्युत् के आवेश युक्त भी माना जाता है। बाटरी में जब अम्लीय जल, लवण घोल या इसी प्रकार के कोई भी ऐसे द्रव या अर्ध-द्रव के माध्यम उपयोग किये जायँ तो धातु-खंडों पर क्षोभ उत्पन्न कर सकेंगे अर्थात् उनके विद्युताणु स्थानच्युत किये जा सकें तो हम दो प्रकार के धातुओं को चकत्ती या दंडों में से एक पर अधिक रासायनिक प्रक्रिया होने से विद्युताणुओं का अतिरेक होता पाएँगे। ऐसे दंड का ऋण ध्रुव या ऋणोद (कैथोड) नाम दिया जाता है। दूसरे धातु-दंड पर विद्युताणु के अभाव या न्यूनता का ही प्रभाव देखा जावेगा। इसे धन ध्रुव या धनोद (एनोड) नाम दिया जाता है। अतः हम समझ सकते हैं कि किसी ताँबे, लोहे या अल्यूमीनियम आदि के विद्युत धारा वाहक तार से सम्बन्ध कराया जाय तो ऋण ध्रुव की ओर विद्युताणु मंडलों का प्रवाह होगा। उनके गतिमान होने के वेग से ही बिजली की धारा उत्पन्न होती है।

बिजली की बाटरी में हम जब ताँबे तथा जस्ते के दण्ड रखकर विद्युत धारा की व्यवस्था करें या अम्लीय जल या लवण घोल की द्रव मात्रा में इनके दण्ड रखें या इन द्रवों से सिंचित किसी आर्द्र आवरण को ही बीच में रखकर ऊपर-नीचे इन धातुओं की चकत्तियाँ रक्खें तो जस्ते पर हम रासायनिक प्रक्रिया अधिक होती पाएँगे अर्थात् रासायनिक द्रव क्षोभ उत्पन्न कर उन पर विद्युताणुओं का अतिरेक कर देंगे। उधर ताँबा अभावग्रस्त रहेगा। अतएव जस्ते की ओर से ताँबे की ओर इन विद्युत दूतों अर्थात् विद्युताणुओं का प्रवाह तीव्र गति से होकर विद्युत धारा का दर्शन कराएगा। बिजली के प्रवाह या बाटरी की क्रिया की यही वैज्ञानिक व्याख्या है। विद्युत की

साधारण उत्पत्ति तो पहले कुछ पदार्थों के संघर्षण से ही करने का ज्ञान प्राप्त हुआ था। परन्तु गालवनी तथा वोल्टा के प्रयत्नों से एक अनवरत धारा रूप में विद्युत की धारा बहा सकने में सफलता मिल सकी। इस शक्ति के हाथ में आने से इसका महत्वपूर्ण प्रयोग तत्वों की खोज में कर विज्ञान की विशेष प्रगति की गई। उसकी कथा विचित्र ही कही जा सकती है।

इंगलैंड में एक दिन एक युवक डा० बोरलेस नाम के एक व्यक्ति के प्रासाद द्वार पर निरर्थक समय काट रहा था। इस डाक्टर के औषधालय में यह युवक शिक्षार्थी था। उन दिनों विश्व-विद्यालयों की इतना अधिक चलन न होने से विज्ञान तथा शिल्प की शिक्षा का सीधा मार्ग उस कला के निपुण या व्यवसायियों का शिष्यत्व करना था। युवक को इसी अभिलाषा से डा० बोरलेस का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ा था और काम सीख रहा था। बाहर फाटक पर इसी युवक के बेकार खड़े रहने पर किसी भद्र पुरुष से साक्षात्कार होने का अवसर प्राप्त हुआ। भद्र पुरुष युवक से बातचीत कर उसकी विचक्षणता तथा योग्यता से अधिक प्रभावित हुआ और उसने उसके प्रति सहानुभूति प्रकट कर अपने पुस्तकालय का अध्यक्ष तथा मित्र बनाया। आगन्तुक भद्र पुरुष डैवीज गिल्बर्ट नाम का व्यक्ति था जो बाद में रायल सोसाइटी का सभापति बना तथा युवक हम्फ्री डैवी था जिसको हम रसायन विज्ञान की शोध में विद्युत का प्रयोग कर उल्लेखनीय परिणाम प्राप्त करने का श्रेय अर्जित करते पाते हैं।

हम्फ्री डैवी (१७७८-१८२९) का नाम कोयले की खदान में विस्फोटनशील भयानक गैसों से अप्रभावित रह सकने वाले "सुरक्षित लैम्प" आविष्कार करने में है, परन्तु विद्युत धारा के प्रयोगों द्वारा धातुओं के अज्ञात वर्ग तथा तत्वों की शोध उसकी अत्यन्त ही महत्वपूर्ण सफलता मानी जा सकती है। यथार्थतः हम्फ्री डैवी की प्रतिभा चतुर्मुखी होकर उसे विज्ञान जगत् में इतना प्रमुख स्थान दे सकी कि उसका नाम शोधों के अनेक प्रसंगों में लेने के लिए विवश होना पड़ता है।

हम्फ्री डैवी का परिवार पेजेंस नामक स्थान की एक छोटी जागीर का स्वामी था। डैवी पाँच भाइयों में सबसे ज्येष्ठ था। जब उसके पिता की मृत्यु हो गई तो उसने डा० बोरलेस के यहाँ कार्य सीखना प्रारंभ किया। हम्फ्री डैवी की बुद्धि बड़ी ही कुशाग्र थी तथा वह उत्कट पुस्तक-प्रेमी था। कथा सुनाकर सहपाठियों का प्रिय बनने का उसमें विचित्र गुण था। इससे उसे भावी जीवन में लाभ उठाने का भी अवसर प्राप्त हुआ। बाह्य वेशभूषा तथा रहन-सहन में वह अल्हड़ ही जान पड़ता परन्तु इसके विरुद्ध अभ्यंतर तीव्र बुद्धि तथा कल्पनाप्रवर प्रतिभा विद्यमान थी। वह एक अच्छी कवित्व-शक्तियुक्त भी था अतएव यदि वह वैज्ञानिक न बनता तो उसे एक अच्छे कवि रूप में ही प्रसिद्ध होते देखा जाता, फिर भी अवकाश प्राप्त होते ही कुछ कविताएँ वह लिख ही लेता था।

हम्फ्री डैवी को विज्ञान की ओर अनुरक्त करने वाला उसका एक मित्र डंकिन नाम का व्यक्ति था। उसने ही कुछ मामूली यन्त्र प्रयोग के लिए दिये। अपने परिवार के एक संरक्षक ट्रांकिन के भवन में एक छोटी कोठरी में डैवी ने अपनी नन्हीं प्रयोगशाला बनायी। वह कोठरी का द्वार बन्द कर अहर्निशि प्रयोग में ही लीन रहा करता। किसी को भी भीतर बाधा पहुँचाने के लिए न आने देता जब-तब भयानक धड़ाके भी सुनने को मिलते। इसलिए उसके साथी उसको केवल अपने प्रयोगों की धुन रखने वाला जन्तु बताते।

हम्फ्री डैवी ने लेवोशिए तथा अन्य वैज्ञानिकों के वैज्ञानिक ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् अपना विशेष ध्यान रसायन विज्ञान की ओर प्रवृत्त किया। उसके सम्मुख एक नया संसार ही प्रस्तुत जान पड़ने लगा। धीरे धीरे चिकित्सा की ओर से उसका ध्यान हटकर रसायन विज्ञान की ओर ही संलग्न होने लगा। ऐसी प्रवृत्ति हृदय में उत्पन्न होने पर ही उसका साक्षात्कार डैवीज गिल्बर्ट से हो सका था। यह उसके जीवन की बड़ी सुन्दर घड़ी थी जो उसे महान् सफलता का मार्ग खोज सकी।

बातचीत में हम्फ्री डैवी की योग्यता तथा होनहारपन देखकर डैवीज गिल्बर्ट उसकी ओर आकृष्ट हो सका। गिल्बर्ट एक प्रभावशाली व्यक्ति था। उसके अनेक प्रभावशाली मित्र थे। उनमें डा० बेड्डोज से हम्फ्री डैवी का परिचय उसने करा दिया। वह एक चिकित्सक था

किन्तु ब्रिस्टल में उसकी स्थापित एक वायव्यों सम्बन्धी अनुसंधानशाला थी जिसमें वायव्यों का रोगनाशक गुण अनुसंधानित किया जाता। उसे अपनी इस अनुसंधानशाला के लिए एक योग्य सहायक की आवश्यकता थी। हम्फ्री डैवी को ताप तथा प्रकाश विज्ञान का अनुभव था। डा० बेडोज ने उसकी प्रतिभा तथा ज्ञान से संतोष प्रकट कर सहायक नियुक्त किया।

इस अनुसंधानशाला की प्रसिद्धि तथा सुन्दर उपकरणों की सम्पन्नता से डैवी को कार्य करने का बड़ा ही सुन्दर अवसर मिला। प्रसिद्ध पुरुषों, विज्ञान-प्रिय व्यक्तियों से सम्पर्क करने का भी उसे सुअवसर मिलने लगा। एक हानिकारक वायव्य की शुद्ध रूप में खोज कर उसने उसकी यथेष्ट मात्रा परीक्षार्थ स्वयं सूँघ कर मूर्च्छा सी अवस्था प्राप्त की, फिर भी प्रयोग करने से वह हतोत्साह न हो सका।

डैवी ने अपने वैज्ञानिक अनुसंधानों का वर्णन जब पहले पहल प्रकाशित किया तो उसकी ओर काउंट रमफोर्ड नाम के प्रसिद्ध वैज्ञानिक का ध्यान आकृष्ट हो सका। इसने १७९९ ई० में लन्दन में प्रसिद्ध संस्था रायल इंस्टिट्यूशन नाम की स्थापित की थी। इस नवस्थापित संस्था का प्रथम प्राध्यापक डा० गार्नेट नाम का व्यक्ति था जिसने १८०१ ई० में त्यागपत्र दे दिया, अतएव उस पद के लिए हम्फ्री डैवी को आमंत्रित किया गया।

सन् १९०२ में विज्ञान-जगत के लिए एक शुभ घड़ी उपस्थित हुई जब हम्फ्री डैवी को रायल इंस्टिट्यूशन में रसायन विज्ञान का सहायक प्राध्यापक, रसायनिक प्रयोगशाला का संचालक तथा संस्था की पत्रिका का सहायक संचालक नियुक्त किया गया। उसका पारिश्रमिक १०० पौंड वार्षिक होने के साथ निवास, कोयला तथा मोमबत्ती के निःशुल्क प्रदान किये जाने की व्यवस्था थी। शीत जलवायु के देश के लिए पत्थर कोयला से भवन गरमाने, भोजन पकाने और प्रकाश के लिए मोमबत्ती की भी सुलभता दैनिक जीवन के लिए अत्यावश्यक उपकरण ही थे। अतएव वेतन के साथ उनका भी उल्लेख हमें पढ़ने को मिलता है।

इस नियुक्ति के एक वर्ष पश्चात् ही हम्फ्री डैवी रायल सोसाइटी का सदस्य भी निर्वाचित कर लिया गया तथा चार वर्षों बाद ही वह इस सोसाइटी का मंत्री नियुक्त हुआ। इन स्थितियों में डैवी को खड़े होने के लिए पृष्ठ भूमि प्राप्त हुई। उसकी आन्तरिक प्रतिभा तथा कार्यकुशलता अपना प्रस्फुटन कर सकती थीं। वाह्य रूप से अल्हड़पन तथा भद्दी वेश-भूषा के होते हुए भी उसे एक प्राध्यापक रूप से चमक उठने में विलंब नहीं लगा। श्रोता के नेत्रों को आकृष्ट और मंत्रमुग्ध कर रखने में उसे कौशल-सा प्राप्त था। वह लन्दन में ऐसे समय आया था जब प्रयोगात्मक विज्ञान की लोकप्रियता बढ़ रही थी। वह अपने भाषणों में जो प्रयोग प्रदर्शित करता उनको बड़ी बुद्धिमानी से तैयार करता। इसलिए कुछ ही समय में वे सर्वप्रिय हो चले। समुन्नत समाज का भद्र महिलाएँ उसका भाषण सुनने के लिए टूट पड़तीं। लन्दन के समाज में युवक डैवी की उत्सुकतापूर्वक सर्वत्र पूछ होती। यह डैवी के ही सौभाग्य का विषय नहीं, प्रत्युत विज्ञान की प्रगति का स्वर्ण अवसर था। रायल इंस्टिट्यूशन में रहते हुए ही डैवी को माइकेल फेरेडे से साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त हुआ था, जिसकी आंतरिक प्रतिभा तथा कुशाग्रता को उसने ठीक रूप में ही भाँपा और इसी कारण उसे दयनीय अवस्था में एक नगण्य व्यक्ति देखते हुए भी डैवी ने अपनी प्रयोगशाला में स्थान किया। वही फैरेडे विद्युत उत्पन्न करने के प्रबल साधन—डायनमो की दुर्धर्ष शक्ति का आविष्कार कर एक विश्वविख्यात वैज्ञानिक बन सका तथा विज्ञान जगत में महान् युगान्तर उपस्थित करने वाला व्यक्ति सिद्ध हुआ।

रायल सोसाइटी के सभापति सर जासेफ बैंक की मृत्यु पर १८२० ई० में हम्फ्री डैवी सभापति निर्वाचित हुआ। यह उसके लिए जीवन का एक चिर अभिलषित सम्मान हो सकता था। स्वास्थ्य गिरने के कारण उसे स्वदेश छोड़कर १८२७ ई० में साल्जबर्ग के लिए जलवायु परिवर्तन के लिए जाना पड़ा। रोम में रहते हुए उस पर पक्षाघात का प्रहार इतना अधिक हुआ कि उसका अंतकाल ही आ पहुँचा।

डैवी को जीवन में सर्वोच्च सम्मान प्राप्त करने का अवसर मिल सका। १८१६ ई० में वह बैरन बनाया गया। विदेशों में भी विज्ञान जगत में उसकी यशवृद्धि यथेष्ट हुई। उसके कार्यों के कारण उसका नाम आज भी चिरस्मृत है।

डैवी ने त्याग का भी आदर्श उपस्थित किया। उसने

अपने वसीयतनामे में लिख दिया था कि उसे यदि कोई सन्तान न हो तो उसे कोयला की खदानों के स्वामी द्वारा जो बहुमूल्य पत्रक भेंट स्वरूप मिला था, वह बेच दिया जाय तथा उसके मूल्य से प्राप्त निधि से प्रतिवर्ष एक पदक उस व्यक्ति को प्रदान किया जाय जो योरप या अंग्रेजों के प्रभुत्वान्तर्गत अमेरिका में कहीं भी रसायन विज्ञान सम्बन्धी सबसे महत्वपूर्ण अनुसंधान करे। लन्दन में हम्फ्री डैवी के रायल इंस्टिट्यूशन में पहले-पहल नियुक्त होने से जो चहल-पहल शीघ्र मच सकी, उसका उल्लेख मिलता है। लन्दन के बैठे-ठाले लोगों को मनोविनोद के लिए एक नया क्षेत्र ही बनता दिखाई पड़ा। वे रसायन विषयक भाषणों को सुनने के लिए वहाँ जाना एक मनोविनोद की बात समझते। उन दिनों फ्रांस तथा इंगलैंड के मध्य युद्ध छिड़ा हुआ था। तत्कालीन जगत की ऐश्वर्य-स्थली पेरिस नगरी उनकी पहुँच के बाहर थी। बेचारे क्या करें। उल्लास-प्रिय रमणियाँ तथा वयप्राप्त पुरुष अपनी बैठकों और विनोद-भवनों की सतत एकरस व्यवस्था से ऊब से उठते और रायल इंस्टिट्यूशन के भाषणों का टिकट क्रय करने दौड़े पड़ते।

लन्दन का रायल इंस्टिट्यूशन कोई राज-सम्मानित या सहायता-प्राप्त संस्था नहीं। उसको तो कुछ मनचले उदार विज्ञान-प्रेमी ही अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों से प्राप्त चन्दे के बल पर ही चलाते। राजा से तो एक दमड़ी भी नहीं प्राप्त होती परन्तु यों ही कुछ आशीर्वाद सा प्राप्त कर उसे नाम मात्र का एक संरक्षक बनाकर संस्था चलती। यही संस्था हम्फ्री डैवी का कार्य-क्षेत्र बनी।

डैवी के दो-एक अत्यन्त मनोरंजक वैज्ञानिक भाषणों और प्रयोगों के होते ही उसकी प्रसिद्धि सारे नगर में हो चली थी। सब ओर लोगों में यही चर्चा सुनाई पड़ती कि इस संस्था में डैवी नाम का कोई विचित्र नया वैज्ञानिक उपस्थित हुआ है जो मनोहर प्रयोग और भाषण प्रस्तुत कर दिखाता है। लोगों का ताँता लग जाता। लंदन नगर में भद्र जनवर्ग के मनोरंजन के लिए पहले पहल रसायन विज्ञान को अवसर दिलाने का श्रेय डैवी की क्षमता और उद्भट विज्ञान प्रेम को ही था। जब दर्शक अल्बेमार्ले पंथ पर स्थित इस संस्था में भाषण सुनने पहुँचते तो उन्हें सामने एक बड़ी मेज दिखाई पड़ती, जिस पर अनेक प्रकार के वैज्ञानिक उपकरण रक्खे रहते। इन्हीं में वोल्टा द्वारा आविष्कृत विद्युत धारा उत्पादक बाटरी या पट्टिका माला देखी जाती। निर्धारित समय पर इंस्टिट्यूशन का द्वार खुलता। नया प्राध्यापक प्रवेश करता। रमणियाँ तुरंत दृष्टिवर्धक ताल अपने नेत्रों पर साधतीं। पुरुष अपनी गर्दन ऊँची करते जिससे इस नये वक्ता का ठीक दर्शन कर लें। उनको एक छब्बीस वर्ष का लंबोतरा युवक दिखाई पड़ता। उसकी अपेक्षाकृत छोटी खोपड़ी तथा घने बालों युक्त चेहरा मंच पर दिखाई पड़ता। उसकी आँखों से गहरी विचक्षणता का दर्शन करना सहज होता दर्शक उसे मंच पर देख कानाफूँसी कर परस्पर पूछते कि उसकी आयु क्या होगी।

यह एक ग्रामीण काष्ठ शिल्पी का ही पुत्र प्रोफेसर हम्फ्री डैवी था जिसे कभी ग्रामवासी गाँव की गलियों में घूमते देख चुके थे। वह कभी मछली मारने के अभियान पर भी ग्राम में ही जाता दिखाई पड़ा होता। अब वही यहाँ लन्दन नगरी की सुसंस्कृत जन-मंडली के सम्मुख प्रकृति के गूढ़ मर्मों पर व्याख्यान देने के लिए खड़ा मिलता। वह समय ऐसा था जब वैज्ञानिक या चिकित्सक का स्वयंभू हो जाना युग की परिपाटी कही जा सकती थी। डा० बेड्डोज भी ऐसा ही स्वयंभू चिकित्सक था, अर्थात् उसने किसी विज्ञान विद्यापीठ (महा विद्यालय) में कोई नियमित वैज्ञानिक शिक्षा नहीं प्राप्त की, बल्कि वह किसी जगह बैठ गया और किसी चिकित्सक का शिष्यत्व स्वीकार कर रोगियों की चिकित्सा का अनुभव करने लगा। उसका गुरू कैसे औषधि देकर रोगियों का रोग मुक्त करता है, इसका ही अवलोकन कर और औषधियों के बनने की विधि देखते ही देखते एक दिन वह समझ सका होगा कि अब अधिक देखने की आवश्यकता नहीं और स्वयं भी वही व्यवसाय अनुकरण पद्धति पर किया जा सकता है। तब से वह स्वयं डाक्टर बन गया। ठीक इसी तरह के शिष्यत्व द्वारा ही हम्फ्री डैवी ने भी शिक्षा प्राप्त की थी और स्वयंभू चिकित्सक तो नहीं, परन्तु रसायनवेत्ता बन गया था। ऐसे ही स्वयंभू वैज्ञानिक रसायनवेत्ता के गंभीर किन्तु मनोहर भाषणों को जनता ने हृदयग्राही अनुभव किया, विश्व के विद्वानों तथा वैज्ञानिकों

ने उन्हीं भाषणों तथा प्रयोगों को अत्यंत सारगर्भित घोषित किया। यह डैवी की अद्भुत प्रतिभा का प्रमाण था।

डैवी की अंतरात्मा ही भाषण रूपों में मानों उछल कर बाहर उपस्थित होती थी। वह भाषणों के समय व्यग्र सा होकर कभी एक उपकरण छूता, तो कभी दूसरा सँभालता। बिजली की धारा के सम्मुख वह विचित्र रासायनिक प्रक्रियाएँ प्रदर्शित कर दिखाता। उसकी सजीव पद्धति गंभीर और दुर्गम विषयों को सुगम और बोधगम्य बना देती। वह एक उत्साह और धारा-प्रवाहपूर्वक भाषण करता। कभी-कभी तो ऐसा मालूम पड़ता मानो वह वैज्ञानिक न हो, बल्कि उसका कवि रूप ही फूट पड़ता हो। इतनी स्फूर्ति, इतनी सदयता एवं इतने विश्वासपूर्वक कदाचित् ही कभी किसी धार्मिक या राजनीतिक वक्ता ने वक्तृता दी हो जैसे डैवी को अपने प्रयोगों के विवेचन में भाषण करते पाया जाता।

डैवी के ये भाषण सदा सफल होते। सभा भवन खचाखच भर जाता। श्रोता रह-रह कर हर्षनाद कर उठते। महिलाएँ पुष्पों की माला भेजतीं तथा उपकृतिद्योतक पत्र प्रेषित करतीं। उच्चतम समाज में वह आमंत्रित किया जाता। प्रयोगों द्वारा वस्त्रों पर लगे धब्बों को रगड़ कर ऊपर से कोई परिधान धारण कर वह इस आमंत्रण में भाग लेने दौड़ जाता। यह विचक्षण विज्ञान-शोधक, यह निष्णात व्यक्ति, यह विज्ञान का कवि इस प्रकार अपना बहुत-सा समय आमोद-प्रमोद में लगाकर बहुत मूल्यवान समय व्यर्थ नष्ट करता, किन्तु उसकी प्रतिभा तथा कार्य-शक्ति इसकी सारी पूर्ति कर लेती। जब वह कार्य-संलग्न रहता तो उसमें इतना लीन हो जाता कि जो कुछ अवशिष्ट समय होता उसी में बहुत कुछ कर ले जाता।

एक बार इंस्टिट्यूशन के कर्णधारों ने डैवी से प्रार्थना की कि वह चर्मकारों की सहायता करने के लिए चमड़ा कमाने के सम्बन्ध में कुछ शोध करे। उसने कभी चमड़े के धंधे का ज्ञान नहीं प्राप्त किया था। परन्तु इस निमंत्रण पर उसने इस धंधे की उधेड़बुन में पड़कर सहायता प्रदान की थोड़े ही समय में, अत्यंत व्यस्त रहकर, उसने चर्म व्यवसाय का सब कुछ अनुभव कर लिया और यह ज्ञात किया कि एक विशेष वृक्ष की छाल से कच्चा चमड़ा कमाने में विशेष फलता प्राप्त हो सकता है।

इसी तरह एक बार हम्फ्री डैवी को केवल रसायनवेत्ता होने के नाते खनिजों की उधेड़बुन में व्यस्त होना पड़ा। इंस्टिट्यूशन की प्रयोगशाला में विभिन्न खनिजों का भंडार था। उन सब की व्यवस्था के लिए उसे विभिन्न खनिजों का विश्लेषण करना पड़ा। एक बार कृषि सम्बन्धी रसायन के लिए भी उसे आमंत्रित किया गया। अतएव कृषि सम्बन्धी रसायन की विशेष धुन में पड़ गया। अनेक जागीरदारों की जागीरों तथा अन्य स्थानों पर जाकर उसे मिट्टी का अध्ययन करने का अवसर मिला। उसने खाद की समस्या का भी अध्ययन किया तथा उपज की जानकारी भी प्राप्त की।

विभिन्न विषयों की ओर हम्फ्री डैवी का ध्यान विशेष आमंत्रणों तथा निर्देशों के कारण ही जाता था। परन्तु उसका मुख्य विषय विद्युत धारा से रसायन विज्ञान का अध्ययन था। इसको विद्युत रसायन नाम से पुकारा जाता है।

विद्युत धारा द्वारा जल के अवयवों को पृथक् करने में वैज्ञानिकों को सफलता प्राप्त हो सकी है। उस विश्लेषण क्रिया का प्रयोग सरल है। किसी पात्र में जल रख लिया जाय तथा उसमें कुछ अम्ल मिला दिया जाय। शुद्ध जल में बिजली की धारा सहज रूप में प्रवाहित नहीं हो सकती पर तनिक अम्लयुक्त होने पर जल में बिजली की धारा सहज प्रवाहित हो सकती है। इसलिए उस जल में बिजली की धारा पहुँचाई जाय तो तार के दोनों सिरों के मध्य उस जल में वह बहने लगेगी। इस क्रिया में एक तार के सिरे पर बुलबुले उठते दिखाई पड़ेंगे। परन्तु दूसरे तार का सिरा विकृत होने लगेगा। यह बिजली की धारा का प्रभाव होगा। यदि उस छोर पर प्लेटिनम नाम की दृढ़ धातु की टोपी मढ़ दी जाय तो छोर पर विकृति रुक जायगी और उस पर भी बुलबुले उठने लगेंगे। इन दोनों छोरों के भी बुलबुले पृथक रूप में संचित किये जायँ तो ज्ञात होगा कि एक ओषजन (आक्सीजन) वायु है और दूसरी उदजन (हाइड्रोजन) वायु। धीरे-धीरे सारा पानी लुप्त होकर इन दोनों वायव्यों के रूप में प्रकट हो सकता है। यह बिजली की सहायता से विश्लेषण क्रिया है।

ऐसी ही विद्युत-विश्लेषण विधि से हम्फ्री डैवी ने सोडा और पोटाश का विश्लेषण कर इन्हें यौगिक वस्तु सिद्ध किया

और इनसे सोडियम तथा पोटैशियम नाम के नवीन रूप के विचित्र धातुओं को प्राप्त किया जो अपने विचित्र गुण रखते हुए भी धातु माने जाते हैं तथा तत्वों की सूची में नाम पाते हैं। सोडियम एक विचित्र धातु है। वह इतना कोमल होता है कि आप उसे चाकू से काट सकते हैं किन्तु सबसे विचित्र बात यह है कि जहाँ कहीं यह किसी आर्द्र (नम) तल पर रक्खा जाय कि प्रज्वलित हो उठता है। अतएव ऐसी वस्तु हाथ से छूना या जीभ से चखना भयानक हो सकता है। पोटैशियम भी इतना कोमल होता है कि चाकू से कट जाय और नम तल पर रखने से जल उठे।

इन विचित्र धातुओं की चर्चा के साथ हम नमक का नाम लें तो वह असंगत बात ही समझी जा सकती है, परन्तु नमक का बिजली द्वारा विश्लेषण करने पर हम उसको दो तत्वों से निर्मित पा सकते हैं जिनमें एक वही धातु है जिसका नाम सोडियम रक्खा गया है। इसके साथ क्लोरिन नाम का दूसरा तत्व मिला होता है। उसकी खोज भी हम्फ्री डैवी ने ही की थी। क्लोरिन पृथक रूप में एक विषैला वायव्य है किन्तु एक ओर विषैले रूप की गैस और दूसरी ओर जल उठने वाला धातु भिन्न रूप और गुण रखते हैं परन्तु इनका संयोग नमक का यौगिक रूप देता है, जिसका गुण इन दोनों अवयव रूप के तत्वों से सर्वथा भिन्न होता है।

[शेषांश अगले अंक में]

हम्फ्री डैवी ने इसी प्रकार अनेक अन्य तत्वों की खोज की जिनके नाम लिये जा सकते हैं। आयडिन, बेरियम, स्ट्रोंटियम, लिथियम तथा मैगनीसियम आदि उल्लेखनीय हैं। अपनी विद्युत-विश्लेषण विधि का प्रयोग कर डैवी ने लेवोशिए के उस सिद्धान्त का पुष्टिकरण किया कि धातुओं के भस्म अपने निर्मायक अवयव विभक्त कर धातु तथा ओषजन रूप में प्रकट होते हैं। अतएव धातुओं के तत्व होने का स्पष्ट ज्ञान हो सकने में रहा सहा सन्देह भी जाता रहा तथा धातु-भस्म उन धातुओं के ओषजन से संयुक्त रूप (धातु-ओषिद) या यौगिक पदार्थ सिद्ध हुए।

इन रहस्यपूर्ण खोजों का ही परिणाम था कि जिस समय इंगलैंड और फ्रांस युद्ध घोषणा किये हुए थे, उन दिनों भी नेपोलियन ने हम्फ्री डैवी को फ्रांस से होकर यात्रा करने की अनुमति प्रदान की। यह एक वैज्ञानिक को राजनीति के संघर्षों में भी विदेश में आदर प्राप्त करने की अपूर्व घटना थी। हम विज्ञान के प्रति राजनीतिज्ञ की श्रद्धा भावना के लिए आज भी कृतज्ञता का अनुभव कर सकते हैं।

—जगपति चतुर्वेदी

विज्ञान समाचार—(पृष्ठ १५७ का शेष अंश)

सुरक्षित करने, पैक करने, गर्म करने और शीतागार में रखने सम्बन्धी विधियाँ तथा नये-नये खाद्य पदार्थ तैयार करने की समस्याएँ शामिल हैं।

वस्त्रों सम्बन्धी अनुसंधानशाला में ऐसी नवीनतम मशीनें हैं जो कल पुर्जों की घिसावट तथा सूत के लचीलेपन और उस पर नमी के प्रभाव की परीक्षा कर लेती हैं और परिणाम को स्वयं ही रिकार्ड कर देती हैं।

संस्थान का अपना एक संग्रहालय है, जिसमें उद्योगों तथा विज्ञान सम्बन्धी वस्तुओं का अच्छा संग्रह है। इसका सब से अधिक लोकप्रिय संग्रह मिट्टी से बनी हुई वस्तुओं का है। इस संग्रह में विभिन्न देशों और विभिन्न युगों की तथा कांच की बनी हुई वस्तुएं हैं। 'डाई इंटर पेपर म्यूजियम' में हाथ से बनाये जाने वाले कागज के विभिन्न नमूनों तथा कागज बनाने के लिये संसार के विभिन्न भागों में इस्तेमाल की जाने वाली सभी प्रकार की मशीनों का संग्रह है।

संस्थान के पुस्तकालय में विज्ञान सम्बन्धी विषयों की पुस्तकों का विशाल संग्रह है। इन पुस्तकों की संख्या लगभग ४ लाख ५० हजार है। इसके अलावा पुस्तकालय २,५०० पत्रिकायें और लगभग २,००० विशेष रिपोर्ट और वार्षिक रिपोर्ट मंगाता है। इन पुस्तकों और पत्रिकाओं से छात्र प्रामाणिक पुस्तकों और अनुसन्धान सामग्री का लाभ ले सकते हैं।

युद्धोतर कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से संस्थान ने १९४४ में अपने उप-स्नातकीय पाठ्यक्रम में आवश्यक फेर-बदल कर दिया था। पाठ्यक्रम में टैकनिकल प्रशिक्षण लेने के साथ साथ समाज-विज्ञान तथा अन्य विषयों के अध्ययन पर भी पर्याप्त जोर दिया जाता है।

विज्ञान समाचार

मैसेच्यूसेट्स की टैक्नोलौजिकल इन्स्टिट्यूट में ६०० विषयों के अध्ययन की व्यवस्था

१८६१ की बसन्त ऋतु में एक दिन विलियम कार्टन रोजर्स ने अपनी डायरी में लिखा था।

आज स्कूल खोल दिया है। अभी १५ विद्यार्थी दाखिल हुए हैं। क्या यह एक स्मरणीय दिवस न होगा ?

रोजर्स की यह प्रसन्नता अकारण न थी। इस स्कूल की स्थापना के लिये उसे दस वर्ष तक निरन्तर परिश्रम और प्रयत्न करना पड़ा था। आज यहीं स्कूल 'मैसेच्यूसेट्स स्कूल औव् टैक्नोलौजी' के नाम से विज्ञान सम्बन्धी उच्च अध्ययन और अनुसन्धान का प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन गया है। आजकल इस संस्थान (इन्स्टिट्यूट) में ६० राष्ट्रों के विद्यार्थी विज्ञान का उच्च अध्ययन कर रहे हैं। संस्थान के १० प्रतिशत विद्यार्थी विदेशी हैं।

इस संस्थान के प्रोफेसरों की संख्या १, १७१ तथा विद्यार्थियों की संख्या ५, ८७४ है विद्यार्थियों को ६०० से अधिक विषयों का अध्ययन कराया जाता है।

१६४८ से संस्थान ने विदेशी छात्रों की सुविधा के लिये ग्रीष्मकालीन सत्र की व्यवस्था कर दी है। इस सत्र में २४ विदेशों के ८० उपाधिधारी इंजीनियरों को निःशुल्क प्रशिक्षण तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं।

अग्रणी

अपने ८८ वर्ष के जीवन में 'मैसेच्यूसेट्स स्कूल औव् टैक्नोलौजी' ने विज्ञान सम्बन्धी विषयों की शिक्षा देने के लिये कई नये पाठ्यक्रम चालू किये हैं जिन्होंने अन्य शिक्षण संस्थाओं का मार्ग-दर्शन किया है। कैमिकल इंजीनियरिंग के पेशे को प्रारम्भ करने का अधिकांश श्रेय इस संस्थान को ही है। अमेरिका का यही विश्व विद्यालय था, जिसमें सबसे पहले व्यावहारिक विज्ञान, उड्डयन और विद्युत सम्बन्धी इंजीनियरिंग, भवन-निर्माण इंजीनियरिंग और मापविद्या की शिक्षा देने की व्यवस्था की गई। यही पहला टैक्निकल स्कूल था जिसने इंजीनियरों के प्रशिक्षण क्रम में अर्थशास्त्र को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

यह संस्थान कैम्ब्रिज में ऐतिहासिक चार्ल्स नदी के किनारे पर १०० एकड़ भूमि में स्थित है। अमेरिका की प्रसिद्ध हार्वर्ड यूनिवर्सिटी भी इसी कैम्ब्रिज नगर में है। इस स्थान से नदी के ऊपर की ओर कुछ मील की दूरी पर ही अमेरिका का प्रसिद्ध शहर बोस्टन है, जहाँ बहुत से औद्योगिक कल-कारखाने हैं। उसके कारण छात्रों को व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त करने में सुविधा हो जाती है।

संस्थान द्वारा वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से बहुत सी अनुसन्धान-योजनायें चलाई जाती हैं। इनमें से एक डी० सी० करेन्ट उत्पन्न करने वाला विशाल विद्युत् उत्पादक यन्त्र भी है संसार में इतना शक्तिशाली विद्युत् उत्पादक यन्त्र आजकल नहीं बना है। इस मशीन का उपयोग घातक बीमारियों का इलाज करने तथा चिकित्सा-क्षेत्र में अनुसन्धान करने के लिये किया जाता है।

चिकित्सा-क्षेत्र में अनुसन्धान

चिकित्सा-क्षेत्र में अनुसन्धान करने वाले संस्थान के वैज्ञानिकों ने एक ऐसा तरीका खोज निकाला है जिसके द्वारा रेडियम के विष का निवारण किया जा सकता है। शक्तिशाली विद्युत उत्पादक यन्त्रों ने अणु-भेदन सम्बन्धी सूक्ष्म अध्ययन में महत्वपूर्ण सहायता पहुँचाई है। इनकी सहायता से संस्थान ने अणु-विखंडन के क्षेत्र में भी वैज्ञानिकों का मार्ग-दर्शन किया है।

संस्थान विदेशी छात्रों की सुविधा के लिये दो अनुसन्धान-योजनायें भी चला रहा है। इनके अन्तर्गत खाद्य पदार्थों तथा कपड़ों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण अनुसन्धान किया जा रहा है। खाद्य-पदार्थों से सम्बन्धित टैक्नोलौजी में काफी प्रगति की जा चुकी है। इसमें खाद्य-पदार्थों को

[शेष पृष्ट १५६ पर]

गन्दगी शोधन और उपयोग

श्री नन्दलाल जैन, एम० एस-सी०

मनुष्य की आदिम अवस्था में सफाई का उतना महत्व नहीं था, जितना आज है। उस समय प्रकृति स्वयं ही अपनी वायुगत व्यापन और सूर्यरश्मियों एवं अन्य प्रक्रियाओं द्वारा सफाई का काम किया करती थी। परन्तु मानव जाति की वृद्धि और जीवन की पेचीदगी की वृद्धि के साथ गन्दगी की मात्रा बढ़ती गई और वह आधुनिक युग में इतनी अधिक हो गई है, कि प्रकृति अपनी धीमी रफ्तार से उसे दूर नहीं कर पाती। यदि वह वर्षा या तूफानों आदि के माध्यम से इस ओर चेष्टा भी करे तो, उनके आवश्यकतानुकूल समय-समय पर न होने से लाभ नहीं हो पाता। प्रत्युत इतने समय तक गन्दगी पड़ी रहने पर अस्वास्थ्यकर प्रभाव देखे जाते हैं जो मनुष्य के जीवन का स्थायित्व कम कर देते हैं। ऐसी अवस्था में मानव ने बुद्धिबल द्वारा विष्णु-पाद से, सफाई और सेवा के लिये शूद्रों का उद्भव किया प्रकृति ने कुछ चतुष्पद भी सफाई के दूत बनाकर पृथ्वी पर अवरित किये। इतने पर भी गन्दगी दूर न की जा सकी, उपयोग के अभाव में, संग्रहमात्र ही, हो सका इससे और भी हानि देख मानव ने वैज्ञानिक पद्धति अपनाई और विभिन्न व उपयुक्त विधियां प्रस्तुत कीं जिनसे आज यह पूर्णतः सम्भव है कि गन्दगी कहीं रहे ही नहीं। वर्तमान विज्ञान ने गन्दगी दूर करने की ही विधि नहीं खोजी है, उसके अवयवों के उचित उपयोगों का भी अनुसंधान किया है।

साधारणतः गन्दगी दो प्रकार की पाई जाती है। (१) ठोस, जिसमें नगरपालिकाओं का सभी प्रकार का कूड़ा-करकट, घरेलू व रसोई घरों के व्यर्थ पदार्थ, सड़कों के झाड़ने से प्राप्य विभिन्न पदार्थ इत्यादि सम्मिलित हैं; (२) द्रव, जिसमें सड़कों की या अन्य प्रकार की, नालियों और पाखानों आदि की सफाई से प्राप्त की जाने वाली व्यर्थ की वस्तुयें सम्मिलित हैं। इनमें मुख्यतः मिश्रित गन्दगी रहती है, जिसमें ठोस और द्रव दोनों रहते हैं। परन्तु ठोस की मात्रा नगण्य-सी (२—३%) रहती है। दोनों प्रकार की गन्दगियों में हानिकारक कीटाणुओं के जन्म, पालन और प्रसार की क्षमता होती है, साथ ही ये कीटाणु इसी में से अपना खाद्य प्राप्त करने के लिये उसके अवयवों को आवश्यकतानुरूप विच्छेदित करते हैं, जिससे दुर्गन्धि भी उत्पन्न होती है, जो नासिका को अभीष्ट नहीं है, ऐसा सभी लोग अनुभव करते होंगे। विदेशों में अनुमान लगाया गया है कि एक व्यक्ति प्रति दिन, औसतन, एक पांउड से दो पांउड तक गन्दगी वाले पदार्थों का किसी न किसी रूप में उत्पन्न करता है। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि बम्बई कलकत्ता सरीखे घनी आबादी वाले नगरों में एक हजार से चार हजार टन तक प्रतिदिन ऐसे पदार्थ उत्पन्न होते हैं। वर्ष भर में इनका परिमाण एक करोड़ से दो करोड़ टन तक होगा। यदि इनमें औसतन २—३% ठोस पदार्थ माने जावें, तो इनसे दो-तीन लाख टन उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सकती है किसी भी गन्दगी की उपयोगिता का अनुमान दो कारणों से लगाया जाता है, एक तो उसमें विद्यमान ठोस पदार्थों के परिमाण से : दूसरे उसमें विद्यमान पदार्थों से उपचित करने के लिये आवश्यक ओषजन की मात्रा से (B. O. D.)।

इस गन्दगी को व्यर्थ मानने एवं इसकी उपेक्षा के कारण होने वाले उपयोगी पदार्थों की एवं अन्य हानियों का लेखा-जोखा लगाना कठिन है। प्रारम्भ में ठोस गन्दगी को द्रव गन्दगी से पृथक् ही व्यवहृत किया जाता था। नगर पालिकाओं ने यह कार्य अपने हाथ में लिया, और इन पदार्थों की रचना का ज्ञान कराया। यह देखा गया है इनकी प्रतिशत अवयव रचना में स्थान-स्थान पर अन्तर होता है, कभी कभी तो इतना अन्तर होता है कि आश्चर्य होता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, भौगोलिक, स्थान-विशेष व विभिन्न प्रवृत्तियाँ इत्यादि। अतएव इस सम्बन्ध में किसी एक विधि का सर्वत्र प्रयोग नहीं हो सकता

है, परन्तु सामान्यतया आगे प्रस्तुत एकाधिक विधियों का उपयोग होता है, जो लाभकारी होता है।

घरेलू और सड़कों के ठोस कूड़े करकट की ओर नजर डालने पर हमें उसकी रचना का आभास मिल जाता है। उसमें धातुओं के कण, हड्डियाँ, फटे-पुराने कपड़े, कागज, कांच के टुकड़े, रबड और चमड़े की छीलन, विभिन्न कार्बनिक और अकार्बनिक, नत्रजनीय, एवं फास्फोरस व पोटेशयुक्त पदार्थ पाये जाते जाय यदि घरेलू गन्दगी और सड़क की गन्दगी को अलग-अलग एकत्रित किया जाय, तो उपयोगी पदार्थों को प्राप्त करने में अधिक सुविधा होगी। इन सब वस्तुओं को हाथ या मशीनों [चूषण-और चुम्बक पृथक्कारक] की सहायता से छाँटकर पृथक् पृथक् किया जा सकता है, पर यह विधि आर्थिक दृष्टि से लाभकारी तब हो सकती, जब अवशिष्ट सभी पदार्थों का भी उपयोग निकाला जा सके, क्योंकि इन मिले-जुले पदार्थों में लगभग १० प्रतिशत पृथक करने योग्य ऐसी वस्तुयें हैं, शेष नब्बे प्रतिशत का पृथकरण संभव नहीं हो सका है। परन्तु उनका उपयोग ज्ञात हो सका है।

अवशिष्ट या पूर्ण वस्तुओं (गन्दगी) को तीन प्रकार से उपयोग में लिया जा सकता है। कृषि के लिये खाद के रूप में, क्योंकि इनमें नत्रजन-फास्फरस-पोटेश की उचित मात्रा के साथ मिट्टी में जल शोषण और अवशोषण की पर्याप्त क्षमता है। इस प्रकार से जर्मनी में किये गये प्रयोगों से वहाँ सन्तोषजनक परिणाम मिले हैं। परन्तु अनुसंधानों द्वारा यह पता चला है कि यह खाद का पूर्ण स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। इन पदार्थों को पहले छांटकर व बाद में सुखाकर या अन्य आवश्यक वस्तुयें मिलाकर 'कम्पोस्ट' विधि से खाद बनाकर पृथ्वी में मिलाया जाता है। कभी-कभी छांटने के बाद ८-१२ घन्टे के भाप या वसाघोलक पदार्थ के प्रयोग से विद्यमान वसायें प्राप्त की जा सकती हैं, पर यह एक घृणोत्पादक कार्य है। वसा निकालने के बाद ये पदार्थ खाद के गुणों में कुछ कमजोर पड़ जाते है। उद्योगों में भी, इन्हें जलाकर भाप बनाने, वस्तुओं को गर्म करने एवं जलने के बाद बची वस्तुओं में आवश्यक वस्तुयें मिलाकर सिमेंट या रास्तों की मरम्मत के काम आने वाले पदार्थों के निर्माण में उपयोग किया जा सकता है। [इनके जलने से जो धुवाँ निकलता है, उसमें विद्यमान पदार्थ खाद या रोधक कृत्रिम पत्थर (बैकलाइट विधि से) बनाने के काम आते है।] विटुमिनससंबंधकों की सहायता से ईंटें बन कर निम्न तापक्रम पर जलाने से एक प्रकार का गैस भी इनसे प्राप्त होता है, जो लकड़ी के गैस के समान घरेलू कार्यों में जलाने का काम दे सकता है। भारत में भी ग्रामीण ठोस गन्दगी को एकत्रित कर उससे जलाने के काम में प्रयुक्त गैस के निर्माण एवं अवशिष्ट के खाद के रूप में उपयोग करने की एक विधि अभी हाल में भी बंगाल में श्री रामकृष्ण मिशन के कला-निकेतन में पूरी की गई है, जिसको प्रायोगिक रूप भी दिया जा रहा है। एवं इसके शिक्षण को भारत सरकार ने भी मान्य बनाया है। इस प्रयोग के सफल होने पर भारतीय किसान को बड़ा लाभ होगा। वह सुखी और समृद्ध बनेगा उसके ईंधन और खाद की— दोनों की— समस्या एक साथ होगी। इस विधि की विशेषता यह है एक ग्रामोद्योग, छोटे पैमाने पर काम करने वाली विधि का होगा।

द्रव रूप में प्राप्त गन्दगी में, लगभग ९८-९९ प्रतिशत पानी और १-२ प्रतिशत ठोस पदार्थ रहते हैं जिनमें कार्बनिक, नत्रजनीय, खनिज, पोटाश, फास्फोरस एवं चूना और क्लोरीन-युक्त पदार्थ होते हैं। इससे बड़ी बदबू निकलती है। मानव समाज के लिये हानिकारक फुंगस और बैक्टीरिया आदि कीटाणुओं का तो यह भाण्डार ही है। प्रारंभ में इस द्रव को पास पड़ोस के नदी-नाले में बहा दिया जाता है। (भारत में तो आज भी अधिकांश यही होता है), जिनमें विद्यमान जीव जन्तु इसमें प्राप्य भक्ष्य-पदार्थों का विच्छेदन कर देते थे, और शोधन कार्य प्राकृतिक होता था। परन्तु इस द्रव की मात्रा वृद्धि से नदी-नालों में वह सामर्थ्य न रहा, फलतः पानी खराब हुआ और मछलियों का जीवन भी खतरे में पड़ने लगा। अतएव इस समस्या की ओर ध्यान गया। नदियों में होने वाले शोधन की प्रक्रिया में होने वाली शोषण, गैसीभवन और विच्छेदन की भौतिक रासायनिक प्रक्रियाओं के साथ जीव-जन्तुओं और कीटाणुओं की विच्छेदन क्रिया का अनुसंधान हुआ, और बड़े बड़े तालाबों (कृत्रिम में विचार कर या छानकर आंशिक शोधन होने लगा। परन्तु जब इससे भी लाभ न हुआ, तब पूर्णतः कृत्रिम शोधन-विधियों और उपयोगों की खोज की गई।

आजकल साधारणतः तीन विधियों का उपयोग होता है। निथारने या छानने के लिये छेददार पट्टों वाले कोठों, ग्रिट-कोठों आदि के रूप में यांत्रिक साधनों का, गन्दे पदार्थों को उपचित करने के लिये जीव-रसायनिक विधियों का और अन्त में हानिकारक कीटाणुओं को नष्ट करने के लिये क्लोरिन आदि रासायनिक पदार्थों का। कभी-कभी पदार्थों को ठोस तहों के रूप में प्राप्त करने के लिये स्कंधक द्रव्यों (फिटकरी, फेरिकसल्फेट या क्लोराइड आदि) का उपयोग होता है। इन सबसे सर्वोत्तम विधि जीव-रासायनिक विधि हैं यह ठोस और घुली हुई भी गन्दगी दूर करती है। इस विधि में उपचायक कीटाणु-युक्त पदार्थ (Activated Sludge) या तो बड़े-बड़े गुर्जों में रखे हुए छेददार प्लेटों पर रखा जाता है; उस पर से छना हुआ या बिना छना हुआ द्रव डाला जाता है अब नीचे से हवा के द्वारा उपचायक में सक्रियता उत्पन्न कर द्रव के अनावश्यक पदार्थों के विच्छेदन के लिये उभाड़ उत्पन्न किया जाता है। पूरा गुर्जा पार करते द्रव शुद्ध हो जाता है। अथवा द्रव भरे गुर्जों में ही कीटाणु युक्त स्लज आवश्यक परिमाण में हवा के वेग से प्रवाहित किया जाता है। कुछ समय में सभी हानिकारक वस्तुयें नष्ट हो जाती हैं और बचा हुआ द्रव पानी में बहा दिया जाता है।

इन विधियों के अतिरिक्त इस गन्दे द्रव के अवयवों के आधार पर इसका मिट्टी के उपजाऊ बनाने और सिंचाई के काम में उपयोग किया जा सकता है। खाद के लिये इसमें न०-फा०-पो० का १: २: १, अच्छा अनुपात पाया जाता है जहाँ सूखे प्रदेश नहीं हैं, वहाँ सिंचाई की आवश्यकता नहीं है। फलतः द्रव को निथार कर स्लज का उपयोग होता है पानी को बहा दिया जाता है। इस स्लज को गर्म करके आधा पानी उड़ा देते हैं और मिट्टी में मिलाते हैं। कभी-कभी स्लज में फफूंदन Fermentation) करते हैं उससे एक ज्वलनशील गैस मिलती है, जो घरेलू कार्यों में, मशीनें चलाने में या कार्बन-ब्लेक बनाने के काम आ सकती है, बचे हुए पदार्थ को मिट्टी में मिला देते हैं।

भारत में शहरी द्रव-गन्दगी का यह प्रयोग अवश्य ही विचेय है, इससे सिंचाई की काफी समस्या हल हो सकती है। यद्यपि इसके लिये पम्प और पाइपों का प्रारंभिक व्यय होगा, पर वह तो अधिक उपज से कुछ ही समय में पूरा हो जावेगा।

यदि इस द्रव में इसके परिमाण से पाँच या दस गुना पानी और मिलाया जावे, तो मछली पालन में इसका उपयोग हो सकता है। ऐसे तालाबों में मछली ही नहीं, बत्तख और अन्य जल जन्तु भी अच्छी तरह बढ़ते है, उनकी नस्ल में भी सुधार होता है। इस प्रकार छने हुए या निथारे हुए द्रव को नदी नालों में न बहाकर भूमि को उर्वर बनाने में प्रयुक्त किया जा सकता है।

ऐसे शहरी द्रवों को साफ करने में कुछ विशेषता होती है, जहाँ ज्यादा होटल हों, साबुन, तेल मांस, कपड़े, ऊन और चमड़े वगैरह के कारखाने हों, इन द्रवों में वसायें होती है। इन्हें पृथक् एकत्रित कर विकासकों द्वारा इनके वसायें पृथक् की जाती हैं जिनका उपयोग साबुन आदि में होता है। शक्कर, स्टार्च के कारखानों व दुग्धशालाओं के द्रवों से भी अलबुमीन, श्वेतसार व अन्य पदार्थ पृथक् करने की आर्थिक विधि का अनुसंधान हो रहा है।

उपर्युक्त विधियों द्वारा प्रत्येक प्रकार की गन्दगी को साफ ही नहीं उपयोगी भी बनाया जा सकता है। भारवर्ष में वर्तमान में न तो उचित रूप से यह साफ ही की जाता है और न उसका उचित उपयोग ही होता है। कहीं-कहीं नगर-पालिकायें खाद के रूप में, सुखाकर इसका उपयोगा करती है, पर उसका लाभ, जैसा ऊपर बताया गया है, नगण्य हैं। 'कम्पोस्टिंग' इसके लिये उपयुक्त है द्रव गन्दगी के उपयोग की एक योजना उत्तर प्रदेश की एक नगरपालिका की दृष्टि में है; देखना है, वह मूर्तरूप कब धारण करती है ? अस्तु, जो भी हो, हमें प्रत्येक सुलभ उपायों से गन्दगी साफ करना चाहिये और उसके उपयोगी अंशों को अधिकतम मात्रा में प्राप्त कर उपयोग करना चाहिये। इसी से भारत का ग्रामीण स्वरूप और समुन्नत हो सकेगा

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—*विज्ञान प्रवेशिका, भाग १*—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक—ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी; ।=)

२—*चुम्बक*—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी; मू० ।।।=)

३—*मनोरंजन रसायन*—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी; २)

४—*सूर्य सिद्धान्त*—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८)। इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—*वैज्ञानिक परिमाण*—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहालकरण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—*समीकरण मीमांसा*—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १।।) द्वितीय भाग ।।=)

७—*निर्णायक* (*डिटमिनैंट्स*—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपालकृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी; ।।।)

८—*बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित*—इंटरमीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १।)

९—*वर्षा और वनस्पति*—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१०—*सुवर्णकारी*—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

११—*विज्ञान का रजत जयन्ती अंक*—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१२—*व्यङ्ग-चित्रण*—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम ए०; १७५ पृ०, सैकड़ों चित्र, सजिल्द २)

१३—*मिट्टी के बरतन*—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले० प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ, ११चित्र, सजिल्द २) (अप्राप्य)

१४—*वायुमंडल*—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०—डाक्टर के० बी० माथुर, सजिल्द, २)

१५—*लकड़ी पर पालिश*—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का ब्योरेवार वर्णन। ले०-डा० गोरखप्रसाद और श्री रामरतन भटनागर, एम० ए०, २१८ पृष्ठ, ३ चित्र, सजिल्द; २) (अप्राप्य)

१६—*कलम पेवंद*—लेखक श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; २० चित्र; मालियों मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी, सजिल्द; २)

१७—*जिल्दसाजी*—इससे सभी जिल्दसाजी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम ए० सजिल्द, २)

१८—*तैरना*—तैरना सीखने की रीति अच्छी तरह समझाई गई है। ले०—डा० गोरखप्रसाद, मूल्य १)

१९—*सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग*—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़ों पौधों की अचरज-भरी दुनिया सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन-कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६) (अप्राप्य)

२०—*वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ*—ले०—डा० संतप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ।।।)

२१—*खाद्य और स्वास्थ्य*—ले०—डा०—ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ।।)

२२—*फोटोग्राफी*—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, सजिल्द मूल्य ४)

२३—*फल संरक्षण*—फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा, जैम, जेली, शरबत, अचार, चटनी, सिरका, आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २।।)

२४—*शिशु पालन*—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई। गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि का वैज्ञानिक विवेचन। मूल्य ४)

२५—*मधुमक्खी पालन*—द्वितीय संस्करण। ले० - पंडित दयाराम जुगड़ान; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों या जन-साधारण को इस पुस्तक का अधिकाँश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा मधुमक्खियों की रहन सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, सजिल्द; ३)

२६—*घरेलू डाक्टर*—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी०, घोष, एम० बी० बी० एस, डी० टी० एम० प्रोफेसर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच० डी०, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। ५० चित्र, सजिल्द, ४)

२७—*उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर*—संपादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। मूल्य ३॥)

२८—*फसल के शत्रु*—लेखक श्री शंकर राव जोशी फसलों को नष्ट करने वाले रोगों, कीड़ों, आदि से रक्षा के सुगम उपाय। मू० ३॥)

२९—*साँपों की दुनिया*—ले० श्री रामेश वेदी, साँपों के भेद पहचान आदि का विशद वर्णन। मू० ४)

३०—*पोर्सलीन उद्योग*—ले० प्रो० हीरेन्द नाथ बोस, पोर्सलीन की वस्तुएँ, पात्र आदि बनाने का वर्णन। मू० ॥)

३१—*राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ*—भारत की राष्ट्रीय वैज्ञानिक अनुसधानशालाओं का सचित्र परिचय। मू० २)

३२—*गर्भस्थ शिशु की कहानी*—ले० मारग्रेट शी गिल्बर्ट (अनु० प्रो० नरेन्द्र) मा की कोख में शिशु शरीर की रचना का सरल वर्णन मू० २॥)

हमारे यहाँ नीचे लिखी पुस्तकें भी मिलती हैं:-

१—*साबुन-विज्ञान*—विद्यार्थियों और व्यवसाइयों के लिये एक सरल और सुबोध पुस्तक, जिनमें साबुन तैयार करने की विभिन्न विधियाँ और नाना प्रकार के साबुन तैयार करने की रीतियां हैं, विवरण के साथ-साथ सैकड़ों के साथ-साथ अनुभूत और प्रमाणित नुसखे भी दिये गये हैं। लेखक श्री श्याम नारायण कपूर बी० एस-सी, ए० एच० बी० टी० आई०, फेलो, आयल टेक्नोलोजिस्ट एसोसिएशन मूल्य ६)

२—*भारतीय वैज्ञानिक*—१२ भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियां—ले०—श्री श्यामनारायण कपूर, सचित्र ६० पृष्ठ सजिल्द; मूल्य ३)

३—*वैक्युमब्रेक*—ले०—श्री ओंकारनाथ शर्मा। यह पुस्तक रेलवे में काम करने वाले फिटरों इंजन-ड्राईवरों, फोरमैनों और कैरेज एग्जामिनरों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। १६० पृष्ठ ३ चित्र जिनमें कई रंगीन हैं, २)

४—*यांत्रिक चित्रकारी*—ले० ओंकारनाथ शर्मा, मूल्य २॥)

५—*विज्ञान के महारथी*—लेखक- श्री जगपति चतुर्वेदी। संसार भर के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के जीवन व खोजपूर्ण कार्यों का विस्तृत वर्णन है। मूल्य २)

६ *पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ*—ले० श्री जगपति चतुर्वेदी। जितने प्रमुख भौगोलिक अन्वेषण हुए हैं उन सबका रोचक वर्णन है। मूल्य १॥)

७—*विज्ञान जगत की झाँकी*—ले० प्रो० नारायण सिंह परिहार। सामान्य ज्ञान तथा विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी पुस्तक है। मूल्य ~)

८—*खोज के पथ पर*—ले० श्री शुकदेव दुबे—जान को हथेली पर रखकर दुर्गम स्थानों एवं पर्वतों के खोज करने वालों का रोमांचकारी वर्णन। मूल्य ॥)

पता—विज्ञान परिषद, प्रयाग

सापों की दुनियाँ

लेखक—श्री रमेश वेदी आयुर्वेदालंकार

"साँपों की दुनियाँ" श्री रामेश वेदी द्वारा रचित सर्पविज्ञान सम्बन्धी एक मौलिक रचना है। साँपों का रहन-सहन, भोजन आदतें, आकस्मिक आक्रमण से बचाव सर्प-विष के प्रकार, उसका मनुष्य एवं अन्य प्राणियों पर प्रभाव, सर्पविष चिकित्सा आदि विषयों पर लेखक ने अभी तक किये गये प्रयोगों एवं अनुसंधानों का सरल भाषा में सारांश दिया है।

भारतवर्ष में बहुतायत से पाये जाने वाले विषहीन एवं विषैले सापों का विस्तृत एवं सचित्र वर्णन भी दिया है तथा प्रत्येक जाति के सांप की शरीर-रचना, उसकी आदतें, रहन-सहन, भोजन, मनोविज्ञान इत्यादि का सुन्दर चित्र खींचा है। लेखक की भाषा रोचक है, और शैली सुन्दर। हमारे पूर्वजों का सर्प सम्बन्धी ज्ञान, प्राचीन संस्कृत साहित्य में विभिन्न जाति के सर्पों का उल्लेख, सर्पों का वर्गीकरण विषैले एवं निर्विष साँपों की पहिचान, साँपों के विष-दन्त एवं विष ग्रंथियों की रचना, सर्प-विष का मनुष्य और दूसरे प्राणियों पर प्रभाव, सर्प-विष चिकित्सा और साँपों की आर्थिक उपयोगिता इत्यादि पर लेखक ने विस्तृत प्रकाश डाला है।

"साँपों की दुनियाँ" सापों से सम्बन्धित वैज्ञानिक अनुसन्धान, अवैज्ञानिक किम्वदन्तियाँ एवं अन्ध विश्वास, प्राचीन, साहित्य में साँपों का उल्लेख एवं तत्सम्बन्धी ज्ञान का निचोड़ है। मूल्य ४)

फसल के शत्रु

लेखक—श्री० शंकरराव जोशी

बहुत से कीट मानव-समाज का अहित करते हैं, कुछ कीट इन कीटों का ही संहार कर डालते हैं तथा कुछ कीट अन्य रूप से मनुष्य का हित करते हैं। सिद्धहस्त और अनुभवी लेखक ने इस पुस्तक में उन कीटों का वर्णन किया है जो फसलों को विशेष हानि पहुँचाते हैं। वैज्ञानिक कृषि तथा व्यापारिक प्रतियोगिता के इस युग में इन जंतुओं के करतब का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य ही है। फसलें बो लेना और प्रति एकड़ पैदावार बढ़ा लेना मात्र ही कृषि व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर लेना नहीं माना जा सकता। खेत में खड़ी फसलों और बगीचे के पौधों की शत्रु से रक्षा करना तथा गोदाम में रक्खी गई पैदावार को कीड़ों और रोगों से बचा लेना भी आवश्यक है।

इस पुस्तक में फसलों, लकड़ी, कोठरी में भरे नाज, साग, तरकारी आदि सभी वस्तुओं की इन शत्रुओं से सुलभ साधनों द्वारा प्रभावोत्पादक रूप से रक्षा पा लेने की विधियाँ तथा उन शत्रु रूपी कीटों तथा रोगों की पूरी पहचान भी दी गई है। डबल फुल्सकेप सोलहपेजी आकार के लगभग ३५० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ३॥)

पता—विज्ञान परिषद्, बैंक रोड, इलाहाबाद

Reg. NO. 372

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उपसभापति एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मंत्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश-शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशन में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि को बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक - डा० हीरालाल निगम

सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज प्रयाग प्रकाशक—विज्ञान परिषद् बैंक रोड, इलाहाबाद

विज्ञान
सितम्बर १९५३
कन्या २०१०
भाग ७७
संख्या ६
वार्षिक मूल्य
चार रुपए
प्रति अंक
छः आने

Approved by the Directors of Education, Uttar Pradesh and Madhya Pradesh for use in Schools, Colleges and Libraries

विज्ञान के नियम

१—वार्षिक मूल्य ४) तथा प्रति अंक का ।=) है।

२—प्रतिमास प्रथम सप्ताह में विज्ञान प्रकाशित होता है।

३—ग्राहक किसी भी मास से बनते हैं।

४—वार्षिक मूल्य सदा दो एक मास पूर्व अग्रिम भेजने से ।।) वी. पी. व्यय की बचत हो सकती है।

५—नमूने की प्रति माँगने पर या विना मांगे भी ज्ञात पतों पर मुफ्त भेजी जाती है।

लेखकों से निवेदन

१—लेख किसी भी विषय के वैज्ञानिक पक्ष पर होना चाहिए।

२—लेख मनोरंजक और सुबोध होना चाहिए।

३—कागज पर एक ओर ही सुपाठ्य लिखना चाहिए।

४—चित्र सदा काली स्याही से बने होने चाहिए। हल्के या अन्यरंग में बने चित्रों का ब्लाक नहीं बन सकता।

५—लेख भेजने के दो मास पश्चात् भी न छपने पर स्मरण-पत्र अवश्य भेजें।

विषय-सूची

वार्षिक मूल्य ४) चार रुपया एक प्रति का ।=) छः आना।

विज्ञान

विज्ञानं ब्रह्मेति व्याजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५

भाग ७७ | कन्या २०१०, सितम्बर १९५३ | संख्या ६

शीतल प्रकाश

सत्य नारायण प्रसाद, डी० फिल, लेक्चरर, जन्तु शास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

विद्युत, प्रकाश तथा अग्नि के आविष्कार तथा विकास का मानव को गर्व होना प्राकृतिक है। यह आधुनिक जीवन के आराम का मुख्य साधन बन गए हैं। गोकि ऐसे बहुत से व्यक्ति अब भी मिलते हैं जो बढ़ते हुए यंत्र-वज्जीवन (mechanical life) की जटिलता को नापसन्द करते हैं फिर भी शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिले जो इन तथ्यों का लुप्त होना पसन्द करे। परन्तु विद्युत, प्रकाश तथा गर्मी प्राणी-संसार के लिए कोई नई वस्तुएं नहीं हैं। बहुत से जीव जन्तु धधकती भट्टियों की भांति गर्म रहते हैं, प्रकाशोत्पादन करते हैं और बिजली पैदा करते हैं परन्तु इनके ढंग चूल्हे, बिजली की बत्ती तथा डायनमो (dynamo) से भिन्न हैं।

स्तनपायी जीव व चिड़ियां अपना तापक्रम पर्यावरण के तापक्रम से ऊंचा रखते हैं और सदा ही लगभग एक डिग्री पर। इनके अन्दर अनन्त अग्नि होती है और तापक्रम का प्रबन्ध करने की शक्ति भी होती है जो इन्हें शीत से निर्भय कर देती है। जुगनू और उसी ढंग के अनेक जीव युग-युगान्तर से प्रकाश पैदा करते हैं। इसी प्रकार विद्युत-मछलियां हैं जो इतनी बिजली पैदा करती हैं जिससे बिजली की घंटी को बजाया जा सकता है अथवा साधारण बिजली की बत्ती को जलाया जा सकता है।

प्राणियों द्वारा उत्पादित प्रकाश को हम प्राणि-प्रकाश (bioluminescence) अथवा "शीतल प्रकाश" कहते हैं। साधारण बिजली का प्रकाश उष्णता के साथ चमकता है इसलिए उसे उष्ण-प्रकाश (incandescence) कहते हैं। प्राणि-प्रकाश बड़ा ही गूढ़ पर मनोरंजक विषय है जो पशु रचना शास्त्रज्ञ (morphologist), देह व्यापार-शास्त्रज्ञ (physiologist) आदि सब का बराबर ध्यान आकृष्ट करता है। जिन लोगों ने अगण्य जुगनुओं की चमक से सुसज्जित पेड़ व चौंधते हुए खेत देखे हैं, जिन्होंने गुजरते हुए जहाज़ से क्षुब्ध समुद्र की सतह से उठती ही लौ को देखा है वे प्रकृति के इस प्रदर्शन पर आश्चर्य किए बिना नहीं रह सकते। ऐसे बिरले ही कल्पना-हीन व्यक्ति मिलेंगे जो यह न जानना चाहें कि जन्तु प्रकाश क्योंकर पैदा होता है अथवा यह कि क्या प्रकृति द्वारा आयोजित प्रकाश पैदा करने के ढंग पर क्या हम भी

"शीतल प्रकाश" पैदा करने का ढंग आविष्कृत कर सकते हैं ?

ऊपर समुद्र की सतह के प्रकाश का उल्लेख किया गया है इसका सही कारण १८१० में मैक कार्टनी नामक व्यक्ति ने पता लगाया था। उसी वर्ष अपना परचा उन्होंने रायल सोसाइटी आफ लन्दन के सम्मुख उपस्थित किया था। इस परचे में इन्होंने कुछ पुराने विवरणों का उल्लेख किया है जिनके अनुसार इनके पहले इस प्रकाश के विषय में लोगों के भिन्न-भिन्न मत थे। कुछ लोगों का विचार था कि यह प्रकाश मृत पदार्थों की सड़ाइट से उत्पन्न होने लगता है; कुछ लोगों का विचार था लहरों के लगातार उतार चढ़ाव की रगड़ से विद्युत पैदा हो जाती है जो प्रकाश उत्पन्न करती है; अन्य लोगों का विचार था कि समुद्र में फास्फोरस नामक तत्व पाया जाता है और चूंकि इसका अंधेरे में चमकना एक गुण है इसलिए प्रकाश का कारण यही तत्त्व था और कुछ लोगों का विचार था कि दिन में समुद्र प्रकाश धारण कर लेता है और अन्धेरे में उसे वापस देता है। परन्तु मैक कार्टनी का निश्चय था कि यह प्रकाश समुद्र में रहने वाले प्राणियों के कारण होता है और यह मत सत्य है।

समुद्र का हर प्रकार का प्रकाश किसी न किसी प्राणी के कारण होता है। यह प्राणी प्रायः अन्वीक्ष्य होते हैं परन्तु बहुत से बड़े हैं जिन्हें अन्वीक्षण यंत्र की सहायता बिना देख सकते हैं। बहुत कम ऐसे व्यक्ति हैं जो प्रकाशोत्पादक प्राणियों की संख्या का अनुमान लगा सकते हैं। यदि हम जानवरों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों की संख्या की परीक्षा करें तो पता चलेगा कि कम से कम ४० ऐसे गण (orders) हैं जिनमें एक या अधिक प्रकाशोत्पादक प्रजाति (genus) हैं। वनस्पति की भी दो श्रेणियां है जो प्रकाश पैदा करती हैं। एक है कवक (fungi) और दूसरा शाकाणु (bacteria) जंगलों में लकड़ी की चमक कवक के कारण होती है और रैफ्रीजिरेटर में रक्खे गोश्त अथवा मछली की चमक शाकाणु के कारण होती है। अन्य मृत पदार्थों का प्रकाश भी शाकाणु के कारण होता है। प्रकाशोत्पादक शाकाणु चारों ओर पाए जाते हैं और उपयुक्त वातावरण में यह प्रयोगशाला में भी बढ़ाए जा सकते हैं।

जानवरों में स्पंज (Sponges), जैलीफिश (Jelly fish), कूम्ब्रजेलीज़ (Comb jellies), हाइड्राइड्स (Hydroids), सी पैन (Sea pens), डायनोफ्लैजिलेट्स (Dinoflagellates) तथा रेडियोलैरिया (Radiolaria) समुद्री वर्म (Marine worms), केंचुए (Earthworms); सैन्टीपीड्स (Centipedes ; ब्रिटिल स्टार्स (Brittle stars), बहुत से मोलस्क (Molluscs), बहुत भांति के श्रम्प Shrimps) तथा केकड़े (Crabs); कई भांति के कटल फिश (Cuttlefish) और स्क्विड (Squids) तथा मछलियां आदि प्रकाश पैदा करते हैं। प्रकाशोत्पादक जातियों (Species) की संख्या सहस्रों में गिनी जा सकती है।

कुछ स्क्विड (Watasenia) में Tentacles के सिरे पर प्रकाशोत्पादक अंग होते हैं और स्क्विड ज्यों-ज्यों आगे तैरता है अपने टैन्टेकिल्स को इधर-उधर घुमाता है और जुगनू की भाँति (गो कि उससे तेज) प्रकाश पैदा करता है। यह जापान के किनारों पर पाया जाता है। वहाँ के निवासी इसे "होटारुइका" या "Firefly Squid" कहते हैं।

हैट्रोट्यूथिस (Heteroteuthis) नामक एक दूसरा स्क्विड है जो इटली के किनारों पर समुद्र की तली में पाया जाता है। यह प्रकाशोत्पादक उत्सर्ग (Secretion) पैदा करता है जो बाहर निकलता ही जल के संपर्क में आकर चमकने लगता है। यह उत्सर्ग एक ग्रंथि (Gland) में बनता है जो समुद्र की सतह के पास रहने वाले स्क्विड में भूरे (Sepia) रंग की स्याही पैदा करते हैं। किसी-किसी स्क्विड में यह उत्सर्ग बिल्कुल काला होता है और किसी में पारदर्शी पर इस (Heteroteuthis) में यह प्रकाशोत्पादक होती है। समुद्र की अगाध गहराई में एक साधारण कटलफिश को चमकती व लहलहाती 'आग' के बीच कल्पना करने मात्र से आश्चर्य मालूम होता है। इस विलक्षण शक्ति से प्राणों को क्या लाभ ? कदाचित अपने शत्रु को अनन्त अन्धकार में प्रकाश की चकाचौंध से विचलित करके

उससे निकलना ही इनका कारण है। परन्तु यह अनुमान ही अनुमान है मालूम नहीं कि वास्तविकता क्या है।

बहुत सी मछलियाँ स्वयं अपना प्रकाश पैदा करती हैं। सहस्रों फैदन की गहराई में पाई जाने वाली बहुत सी मछलियाँ जिसके शरीर पर प्रकाशोत्पादक अंग हैं। यह अंग गोलार्ध की भाँति बिन्दु होते हैं जो शरीर के अगल-बगल पंक्तियों में सुसज्जित रहते हैं। किसी-किसी मछली में यह बत्तियाँ शरीर के निचले भाग में होती हैं। एक मछली (Aethroprora effalgens) के सर पर रेल के इंजिन की फ्लैश लाइट की भांति बत्ती होती है। वास्तव में यह एक प्रकाशोत्पादक पिंड की भांति होता है। इस लिए जिस ओर यह बढ़ती है अपने प्रकाश से अपनी पहुँच की सूचना देती चलती है। इस प्रधान प्रकाश-पिंड के अतिरिक्त इस मछली के शरीर पर दूसरी बत्तियां भी होती हैं।

जहां तक बनावट का सम्बन्ध है यह बत्तियां बड़ी ही रोचक हैं इसलिए कि यह बिल्कुल लालटेन की भांति हैं प्रोफेसर अलरिक डाहल्ग्रैन (१८९४) ने इन बत्तियों की बनावट को बड़ी सावधानी से अध्ययन किया है। इन्हीं से हमें प्रकाशोत्पादक जन्तुओं की औतकी (Histology) का विवरण प्राप्त हुआ है। यह बत्तियां बनावट में आंख से मिलती हैं। इनमें एक वीक्ष (lens) होता है। अन्तर यह है कि आंख में वीक्ष का कार्य है प्रकाश को बाहर से लेकर मूर्तिपट (reitna) पर केन्द्रीभूत करना और इन बत्तियों का वीक्ष प्रकाश को बाहर फेंकता है। और जटिल बनावट वाली बत्तियों में अन्दर कोषों की एक परत होती है जिसके कोष चमकदार सफेद वस्तु से भरे होते हैं। यह परत प्रतिक्षेपक (reflector) का कार्य करती है। इस प्रकार पैदा हुआ प्रकाश जब इस परत पर पहुँता है तो वह परावर्तित हो जाता है और फिर वीक्ष द्वारा बाहर निकलता है। किसी किसी जानवरों में बत्ती के चारों ओर अपारदर्शक आवरण होता है। यदि बत्ती के अन्दर पैदा हुआ प्रकाश अगल-बगल से फूट निकले तो वह बत्ती के चारों ओर उपस्थित ऊति (tissue) को हानि करे इसलिए इस आवरण का प्रबन्ध किया गया है।

कुछ जानवरों में रंगीन आवरण होते हैं। फलस्वरूप केवल एक ही रंग की किरणें उनसे हो कर निकल पाती हैं इसलिए इनमें विशेष रंग का प्रकाश पैदा होता है। अगाध गहराई में पाए जाने वाले जानवरों (जैसे कटलफिश) में इनका वर्णन किया गया है। एक जाति में तीन प्रकार के प्रकाश पैदा करने वाले अंग होते हैं—एक नीला, एक बैंगनी और एक लाल। दक्षिणी अमरीका में एक कीड़ा (insect) ऐसा पाया जाता है जिसके सर पर सफेद प्रकाश होता है और दुम की ओर लाल। इसलिये इसे वहां के लोग ओटोमोबाइल बग (automobile bug) कहते हैं।

डच ईस्ट इन्डीज के बान्दा सागर में दो मछलियां पाई जातीं हैं जिनके प्रकाशोत्पादक अंग ऐसे बने हैं जिनमें प्रकाशोत्पादक शाकाणु रहते हैं। आंख से तनिक नीचे यह एक प्याले की भांति बड़ा अंग पाया जाता है। इसके रहने वाले शाकाणु भी एक विशेष जाति के होते हैं। साधारण प्रयोगशाला में इन्हें नहीं उगाया जा सकता न तो यह इस मछली के बाहर जीवित ही रह सकते हैं। यह सहजीवी (Symbiolic) चमकते हुए शाकाणु हैं यह मछली को अपने प्रकाश का लाभ देते हैं और उसके बदले में मछली इन्हें रहने का स्थान व भोजन देती है। रक्त की नालियों की एक जटिल संहति यहां भोजन व प्रकाशोत्पादन के लिए उपयुक्त ओक्सीजन पहुँचाती है। शाकाणु की यह विशेषता है कि जब तक वह जीवित रहते हैं चमकते रहते हैं। दूसरी मछलियों की बत्तियाँ जब उत्तेजित होती हैं जलती हैं। इनका उद्दीपन मछलियों की इच्छानुसार होता है इसलिए यह अपनी इच्छानुसार बत्तियाँ जलाती बुझाती रहती हैं। चूँकि यह सहजीवी शाकाणु द्वारा प्रकाश पाने वाली मछली में सम्भव नहीं है उसने अपने लिए निराले ढंग का आविष्कार किया है। उसके शाकाणु को आश्रय देने वाले सम्बन्धित अंग से आंख के पलक जैसे चमड़े के परत बन जाते हैं। इन परतों के कोशों में काले रंग के कण होते हैं। बन्द होने पर यह शाकाणुओं को पूरी तौर से ढक देते हैं ताकि प्रकाश बाहर न निकल सके बिल्कुल उसी प्रकार जैसे आंख के पलक बन्द होते ही आंख बन्द हो जाती है। इसका बन्द करना और खोलना मछली की इच्छा पर आधारित है। इस प्रकार यह मछली जिसे "प्रकाश-पलकें" (Photoblepharon या "light

eyelid") कहते हैं अपनी इच्छानुसार बत्ती जलाती बुझाती समुद्र में घूमती है। बान्दा सागर के मछुए इस मछली को पकड़ इसकी "बत्तियां" निकाल लेते हैं उनके आवरण निकाल देते हैं और फिर उनका प्रयोग मछलियों को चारा (bait) देने में करते हैं। कम से कम एक रात यह बाहर निकाले जाने पर चमकता रहता है और अपनी चमक से दूसरी मछलियों को आकर्षित करके फँसाने में सफल होता है।

मछलियों से ऊपर की श्रेणियों के जन्तुओं में प्रकाश पैदा करने की शक्ति नहीं होती अलबत्ता पुराने साहित्य में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे कुछ उलझाव हो सकता है। न्यूटन हार्वे (१९२६) ने लिखा है कि क्यूबा में प्रकाशोत्पादक भौंरे (luminous beetles) एकत्र कर रहे थे। अचानक उन्होंने एक मेंढक देखा जिसके शरीर से प्रकाश निकल रहा था। वह चकित हुए और प्रसन्न भी—प्रकाशोत्पादक अंगों वाला मेंढक एक अनोखी खोज होगी। परन्तु जब उन्होंने उसकी पूरी परीक्षा की तो पता चला कि मेंढक ने आवश्यकता से अधिक जुगनू पर भोजन किया और उनका प्रकाश अन्दर से निकल रहा था।

स्वयं मनुष्य के विषय में यहां-वहां उल्लेख मिलते हैं जिनमें प्रकाशोत्पादक घावों का वर्णन है। यह उस समय का जिक्र है जब एन्टी सैप्टिक (antisceptic) दवाइयाँ नहीं ईजाद हुई थीं और घाव ठीक तरह से साफ नहीं होते थे इसलिए उनमें प्रकाशोत्पादक शाकाणु आ बसते थे। फलस्वरूप रात में घाव चमकते थे। परन्तु इससे मनुष्य को लाभ होता था इसलिए कि प्रकाशोत्पादक घाव साधारण घावों से शीघ्र अच्छे होते थे कदाचित इसलिए कि प्रकाशोत्पादक शाकाणु हानिकारक शाकाणु को घाव से बाहर निकाल देते थे। एक ऐसे मनुष्य का भी वर्णन मिलता है जिसका पसीना चमकदार था और कई ऐसे मनुष्यों के उल्लेख हैं जिनका पेशाब बाहर आते ही चमकने लगता। यदि यह उल्लेख सचमुच सही हैं (अब तक और ऐसे उदाहरण नहीं मिले) तो हो सकता है कि इनका प्रकाश भी या तो शाकाणु के कारण होता था जो प्रकाशोत्पादक थे या इनके पसीने अथवा पेशाब के साथ ऐसे रसायन निकलते थे जो हवा के संपर्क में आते ही ओक्सीडाइज (oxidize) होते थे और इस क्रिया के अन्तर्गत वे चमकते थे। प्रांगारिक रसायन शास्त्र (Organic chemistry) में ऐसी क्रिया के कई उदाहरण प्राप्त हैं।

विकासवाद के विद्यार्थी के सन्मुख प्रकाशमान प्राणी बड़ा ही रोचक विषय उपस्थित करते हैं; परन्तु इस विषय पर अधिक खोज नहीं हो सकी है। लगभग सभी सबसे पहले इस प्रकाश का लाभ जानना चाहते हैं; परन्तु अब तक हम इस योग्य नहीं हुए कि हर प्रकाश का कारण बतला सकें। कुछ प्राणियों में अलबत्ता सही कारण बतलाया जा सका है। उदाहरण के लिए शाकाणु के प्रकाश को लीजिए। यह थोड़ा-सा प्राणी जिसका व्यास एक इंच के पच्चीस हजारवें भाग के बराबर है, जिनमें चेतना संहति वर्टी है, उनको प्रकाश से क्या लाभ। या ऐसे छोटे प्राणी को प्रकाश से क्या लाभ जो समुद्र की सतह पर रहता है और जिसे हवा यहाँ से वहाँ उड़ा ले जाती है।

ऐसे प्राणियों में प्रकाश केवल आकस्मिक है कदाचित यह प्रांगारिक रसायन (Organic chemical) क्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। यह एक आकस्मिक प्रतिक्रिया है। दूसरी ओर वह भयंकर व विराट मछलियाँ तथा स्किड हैं जो अगाध समुद्र में रहते हैं। यह वह जीव हैं, जिनमें वह विशेष प्रकाशोत्पादक अंग होते हैं, जिनका ऊपर वर्णन है। इनमें प्रकाश इसलिए है कि समुद्र के घटाटोप अन्धकार में यह मछलियाँ अपने प्रकाश की सहायता से अपने चारों ओर की वस्तुएँ देख सकें। पर कुछ मछलियाँ (Collettia rafinesquei) ऐसी हैं, जिनके प्रकाश की बत्तियाँ केवल निचले भाग में हैं। इनका प्रकाश, ऐसा प्रतीत होता है, दूसरी मछलियों अथवा जानवरों के लाभ के लिए है जो इसके चारों ओर रहते हैं; या शायद प्रकाश की सहायता से केवल खाने योग्य जानवरों को पास ले आना ही इनका कार्य है।

कुछ ऐसे जीव हैं जो सदा अंधेरे में नहीं रहते और बहुत से ऐसे प्रकाशमान जीव हैं जो यहाँ वहाँ नहीं घूमते जैसी सीपैन (Sea pens) यह लगभग सभी प्रकाशमान होते हैं और ५० फीट की गहराई में कीचड़ अथवा बालू

में रहते हैं, इनके निवासस्थान के पास काफी प्रकाश होता है। चूंकि यह चलते-फिरते नहीं इसलिए यह कहा जाता है कि यह अपने प्रकाश शत्रु को सावधान करने के लिए प्रयोग करते हैं। यदि इनको खाने वाली मछली पास आगई और सीपैन को क्षुब्ध किया प्रकाश एकाएक चमकता है। यह मछली को सावधान करता है और उसे डरा कर भगा देता है परन्तु यह केवल अनुमान ही अनुमान है। मेरा विचार है कि किसी ने ऐसी घटना घटते देखी तक नहीं। यह भी विचार किया गया कि जन्तु प्रकाश का प्रयोग आकर्षण के लिए किया जाता है। यह एक स्थान में रहने वाले जीव अपने प्रकाश से खाद्य जीवों को आकर्षित करते हैं।

कुछ ऐसे भी जीव हैं, जिनमें प्रकाश सैक्स (Sex) आकर्षण के लिए प्रयोग होता है। जुगनू इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। जुगनू की हर जाति का अपना निराला ढंग चमकने का होता है। वह चमक-चमक कर अपने 'साथी' को अपने पास बुला सकते हैं। इनमें भी अपनी जाति को पहचानने के निराले ढंग हैं। दो बार चमकने के बीच के अन्तर तथा चमकते रहने का समय अथवा चमक की दौरान आदि की सहायता से यह जाति पहचानते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जन्तु प्रकाश कैसे पैदा होता है? क्या फौस्फोरस (Phosphorus) इसका मुख्य कारण है? इसके उत्तर में सीधे कहा जा सकता है 'नहीं'। इसलिए कि फास्फोरस जीवित कोशों में रहने के लिए अधिक विषैला है। गो कि यह सत्य है कि प्राणि प्रकाश की चमक फास्फोरस की चमक से मिलती-जुलती है। जन्तु प्रकाश आक्सीडेशन (Oxidation) का फल है। यदि हम प्रकाशमान जन्तु के पास से आक्सीजन अलग कर दें तो प्रकाश खत्म हो जायगा और यदि फिर आक्सीजन पहुँचा दें तो प्रकाश फिर हो जायगा। यह एक बड़े पुराने व रोचक प्रयोग द्वारा पता चला था। यथार्थ रूप से यह सबसे पहला प्रयोग था जो प्रकाशमान प्राणियों पर रौबर्ट बुआइल (Robert Boyle) ने १६६७ में किया था।

Boyle उस समय अपने हवा के पंप से कुछ प्रयोग कर रहे थे। पंप के अन्दर "उन्होंने चमकती लकड़ी" अथवा प्रकाशोत्पादक लकड़ी रख दी। उन्होंने देखा कि जब वह पंप से हवा बाहर निकाल देते थे प्रकाश विलीन हो जाता था और जब वह हवा फिर से अन्दर डाल देते थे प्रकाश फिर आजाता था। वह यह नहीं जानते थे कि प्रकाश के विलीन होने का कारण आक्सीजन का बिल्कुल निकल जाना था और आक्सीजन के वापस आते ही फिर प्रकाश आजाता था फिर भी इस आविष्कार का श्रेय उन्हीं को देना उचित है।

प्रकाशोत्पादन के विषय में दूसरा रसायनिक तथ्य भी पुराना है। इटली निवासी वैज्ञानिक स्पालन्जानी (Spallanzani) ने १७९४ में यह सिद्ध किया था कि इसके लिए जल की उपस्थिति आवश्यक है। किसी भी प्रकाशोत्पादक जीव को जल से बाहर निकाल कर उसे सुखा दिया जाय तो प्रकाश गुल हो जायगा और यदि इसे फिर गीला कर दिया जाय तो प्रकाश फिर से उत्पन्न हो जायगा। इस प्रकार आक्सीजन वाले प्रयोग की भाँति यह प्रयोग भी सिद्ध करता है कि प्रकाशोत्पादन के लिए दूसरी आवश्यक वस्तु है पानी।

यह प्रयोग यह भी सिद्ध करता है कि प्रकाशोत्पादन जीवित कोशा का कार्य उसी भाँति नहीं है, जिस भाँति एक माँसपेशी का व्यापार सिकुड़ना है अथवा जैसे चेता-तन्तु (Nerve fibre) का कार्य है चेता-प्रेरणा (Nerve impulse) पहुँचाना। एक मांस पेशी को यदि सुखा लिया जाय और फिर उसे जल में रखा जाय तो वह देखने में पहले की भांति अजवत्ता हो जायगी पर उसमें सिकुड़ने की शक्ति पहले जैसी नहीं आ पाएगी। इसी प्रकार सूखने पर चेता-तन्तु भी चेतन-प्रेरणा पहुँचाने की शक्ति खो देगा। इन ऊतियों (Tissues) में कोशाओं का जीवित व्यापार विलीन हो जाता है; परन्तु प्रकाशोत्पादन में सूखने पर कोई तबदीली नहीं होती, इससे पता चलता है कि प्रकाश पैदा करना जीवित व्यापार (Living function) नहीं बल्कि केवल साधारण रसायनिक प्रतिक्रिया है।

चूंकि जल और वायु (आक्सीजन) प्रकाशोत्पादन के लिए आवश्यक है, सम्भव यह है कि जन्तु कोशा द्वारा कोई ऐसी वस्तु बनाई जाती है प्रकाश पैदा करने के लिए आक्सीडाइज होती है। और यह वस्तु व्यावहारिक भाषा में

फोटोजन (Photogen) कहलाती है और विशिष्ट भाषा में इस ल्यूसीफैरिन (Luciferin) कहते हैं।

वास्तव में प्रकाश उत्पन्न करने के लिए जल और आक्सीजन के अतिरिक्त एक नहीं दो वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यह जन्तु प्रकाश के विषय में तीसरा आविष्कार है जिसका श्रेय एक फ्रांसीसी वैज्ञानिक डुबौय (Dubois) को है। इन्होंने १८८७ में यह खोज की थी। उन्होंने प्रकाशोत्पादक वस्तु के निचोड़ का रसायनिक विभाजन करके पता चलाया उसमें दो वस्तुएँ हैं एक ल्यूसीफैरिन है जो आक्सीडाइज होकर प्रकाश पैदा करती है और दूसरी वस्तु एक आवेजक (catalyst) या enzyme) होती है जो ल्यूसीफैरिन का आक्सीडेशन सरलता और शीघ्रता पूर्वक कराता है। इस विकर को ल्यूसीफरेज़ (lusifrase) कहते हैं। इनको आसानी से पृथक किया जा सकता है इसलिए कि ल्यूसीफरेज गर्म होने पर नष्ट हो जाता है; ल्यूसीफैरिन नष्ट नहीं होती। पानी में इनका घोल बनाकर इन्हें निकाला जा सकता है और फिर रसायनों की सहायता से इनका निस्सादन किया जा सकता है। इनको बाहर शुद्ध रूप में निकाला जा सकता है और उससे प्रयोग किए जा सकते हैं। गो कि इसे पृथक किया जा चुका है इसकी विशिष्ट बनावट का अब तक पता नहीं चला। इसको प्रोटीन के साथ साथ रख सकते हैं। पैप्टोन जैसे साधारण प्रोटीन की भांति यह भी ल्यूसीफरैज. एल्ब्यूमिन्स (albumins) से संबन्धित है।

अब प्रश्न यह होता है कि जब ल्यूसीफैरिन आक्सीडाइज होता है तो क्या होता है? क्या कारबन डाई आक्साइड उसी प्रकार बनती है जैसी हर अन्य पदार्थों के जलने पर बनती है? क्या प्रकाशोत्पादन को उसी स्तर पर रख सकते हैं या नहीं? प्रयोगों से पता चला है कि प्राणियों के प्रकाशोत्पादन की क्रिया के समय कार्बन डाई आक्साइड पैदा नहीं होती। इसकी क्रिया बड़ी साधारण है। उसी प्रकार जैसी रक्त के अन्दर शोण वर्तुल (haemoglobin) की होती है। आक्सीजन के संपर्क में आते ही शोण वर्तुल आक्सीडाइज होकर एक शिथिल रसायनिक संयोग बनाती है जिसे जार-शोण-वर्तुल (oxyhaemoglobin) कहते हैं। ऊतियों में पहुँचकर इसका विभाजन हो जाता है और आक्सीजन तथा शोण-वर्तुल पृथक हो जाते हैं।

ल्यूसीफैरिन भी लगभग इसी प्रकार आक्सीडाइज होती और आक्सी-ल्यूसी फैरिन (oxy-lusiferin) बनाती है। यह फिर आक्सीजन और ल्यूसीफैरिन में विभाजित हो जाता है। यह क्रिया इतनी साधारण नहीं जितनी मालूम होती है। उदाहरण के लिए जुगनू को लीजिए जब वह चौंधती है तब वह ल्यूसीफैरिन को आक्सी-ल्यूसीफैरिन बना देती है। और जब वह अंधेरे में आराम करती है आक्सी ल्यूसीफैरिन विभाजित हो जाता है और जुगनू फिर चमकने के लिए तैयार हो जाती है। हर प्रतिक्रिया में केवल ल्यूसीफैरिन का एक भाग ही कार्य करता है वही फिर विभाजित होता है। पूरी प्रतिक्रिया परिवर्तनीय है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यह ऐसा जानवर है जिसके लैम्प का तेल जल जाता है और जल चुकने के बाद तेल फिर से बन जाता है और फिर जलने के लिए तैयार हो जाता है। आक्सीडेशन और रिडक्शन की क्रियाएँ एक के बाद एक होती रहती हैं। भौतिक तथा रसायनिक दोनों दृष्टियों से यह प्रकाश काफी मितव्ययी है।

क्या हम कभी प्राणि-प्रकाश उत्पन्न कर सकेंगे? अवश्य कर सकते हैं यदि हम प्रकाशोत्पादक प्रोटीन बना सकें। ऐसी आशा की जाती है कि शीघ्र ही हम उसे बनाने में सफल होंगे। यदि यह प्रोटीन बन जायँ तो लैम्प का निर्माण और भी साधारण है। एक भाग में आक्सीडेशन हो और दूसरे में रिडक्शन।

जन्तु-प्रकाश स्पष्ट रूप से पहेली और देखने में भी साधारण प्रकाश से भिन्न मालूम होता है। परन्तु ऐसा है नहीं। स्पष्ट प्रकाश दोनों का एक सा है केवल उत्पादन के ढंग फर्क हैं। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है इसको हम इन दोनों को भिन्न-भिन्न नाम देकर व्यक्त करते हैं। जन्तु प्रकाश को "शीतल प्रकाश" (Luminescence) कहते हैं और साधारण प्रकाश को "उष्ण प्रकाश" (incandescence) हर पदार्थ प्रकाश पैदा करता है। जब उसका तापक्रम एक विशेष अंश से ऊपर बढ़ता है। कम ताप क्रम पर पहला प्रकाश जो निकलता है लाल होता है, फिर तापक्रम और बढ़ने पर प्रकाश पीला हो जाता है और फिर और तापक्रम

(शेष पृ० १८७ पर)

रसायन और बिजली (२)

वोल्टा और गालवनी की सूझों के परिणामस्वरूप बिजली की धारा उत्पन्न करने की पट्टिकामाला (पाइल) या बाटरी भारी शक्ति की धारा उत्पन्न करने के लिए बहुसंख्यक रूप में शृङ्खलाबद्ध की जा सकती थी। डैवी ने ब्रिस्टल की प्रयोगशाला में कार्य करते हुए वोल्टा पट्टिका-माला का भली-भाँति अनुभव प्राप्त कर लिया था। किन्तु रायल इंस्टिट्यूशन की प्रयोगशाला में अधिक सुविधाओं के प्राप्त होने से उसने एक से एक बढ़कर बाटरी बनाना प्रारम्भ किया। प्रयत्न से बहुत ही प्रबल विद्युत धारा उत्पन्न करने वाली बाटरियों की भारी संख्या में शृङ्खला बन सकी। उनको परस्पर सम्बद्ध रखकर विद्युत धारा उत्पन्न होने का प्रयोग वह रासायनिक विश्लेषण के लिए करता।

बिजली की धारा बहने के लिए पूरा मार्ग चक्र अपेक्षित होता है जिससे एक ओर के विद्युताणुओं का अतिरेक अपनी बाढ़ को एक चक्कर रूप में भ्रमित रखकर निरंतर आगे की ओर अभावग्रस्त स्थलों की ओर बढ़ाता रहे। यदि बिजली का तार बीच में काट दिया जाय तो यह चक्र कट जाता है। उस दशा में विद्युत धारा का बहना बन्द हो जाता है।

वैज्ञानिकों ने यह प्रयोग कर देखा था कि यदि साधारण जल में होकर बिजली की धारा बहने दी जाय तो बाटरी की एक पट्टिका या दंड पर तो अम्ल (एसिड) उत्पन्न होता है तथा दूसरी पट्टिका या दंड पर दाहक क्षार (कास्टिक अल्कली) उत्पन्न होता है। विद्युत धारा केवल जल के अवयवों को ही ओषजन और उदजन रूप में पृथक् नहीं कर देती, बल्कि जल में कुछ ऐसे मलीन पदार्थ भी उत्पन्न कर देती है जो पहले कभी दिखाई नहीं पड़ा होता।

एक तथ्य और भी देखा गया। धातुओं के परिवर्तित रूप का यौगिक धातु-लवण होता है। धातु-लवण के घोल से विद्युत धारा द्वारा मूल धातु पृथक् प्राप्त कर लेना सम्भव है। उदाहरणार्थ तूतिया के रवे पानी में घोले गये और इस घोल के मध्य बिजली की धारा बहा दी गई, इस क्रिया के कारण एक विद्युतदंड (प्लेट) पर शुद्ध ताँबा की एक परत जम गई। यह बिजली द्वारा कलई चढ़ाने का नमूना था। इसी भाँति सोना, चाँदी तथा अन्य धातुओं की कलई या पानी चढ़ाना सम्भव सिद्ध हुआ। इन धातुओं के लवण का घोल बनाकर उसमें विद्युत धारा बहाने से शुद्ध धातु को पृथक् प्राप्त किया जा सकता। इस प्रकार बाटरी भौतिक शास्त्रियों के मस्तिष्क की बात होकर भी रसायन विज्ञान में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई।

कास्टिक पोटैश और कास्टिक सोडा प्रयोगशालाओं में रसायनवेत्ताओं द्वारा अत्यधिक प्रयुक्त रहते आए हैं। इनसे सैकड़ों रासायनिक प्रतिक्रियाएँ कराई जाती हैं। दैनिक जीवन और निर्माणशालाओं में भी इनकी प्रतिक्रिया के उपयोग होते हैं। इन क्षारों से उन पदार्थों के भी घोल तैयार हो सकते हैं जो साधारण रूप में अघुलनशील होते हैं। इनकी सहायता से तीव्र से तीव्र अम्ल तथा कटु वायव्य अपने दहन तथा विषैले गुणों का परित्याग कर सकते हैं।

दाहक क्षार (कास्टिक अल्कली) देखने में श्वेत और पत्थरनुमा होते हैं, किन्तु यदि एक टुकड़ा हाथ में लेकर जोर से मुट्ठी दबावें तो जलने का अनुभव होगा। यदि देर तक उन्हें हाथ में दबा रक्खा जाय तो बड़ा कष्ट अनुभव होगा और हड्डी तक अंग जल उठेगा इसीलिए वे कास्टिक या दाहक नाम से पुकारे जाते हैं।

इन दाहक क्षारों में जल चूसने की प्रवृत्ति होती है। यदि यों ही खुला रख दिया जाय तो कास्टिक सोडा या कास्टिक पोटैश के ऊपरी तल पर नमी छा जायगी। थोड़े समय में वह नर्म हो जायेंगे और अन्त में वे आकारहीन द्रव रूप धारण कर लेंगे। क्षार को वायु से जलवाष्प चूसकर हम द्रव रूप धारण करते पाते हैं। यह आर्द्रता ग्रहण कर जल से मिलकर घोल बना लेता है।

रसायनवेत्ता दाहक क्षारों की परीक्षा लिटमस और

अम्लों के साथ प्रतिक्रिया देखकर करते हैं। नीले लिटमस में एक कागज भिगोकर अम्ल में डुबोया जाय तो वह तुरन्त लाल हो जाता है। यदि यह लाल कागज क्षार में डुबोया जाय तो वह नीला रंग धारण कर लेता है। दाहक क्षार तथा अम्ल परस्पर शत्रु होते हैं और साथ नहीं रह सकते। उनमें तुरन्त भयंकर प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। वे बुदबुदा कर तप्त हो उठते हैं और एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालने का संघर्ष करते हैं। इनमें एक पूर्ण समाप्त हो जाता है। तभी स्थिति में शान्ति आती है।

इस क्रिया को वैज्ञानिक यह कहकर प्रकट करता है कि क्षार और अम्ल एक दूसरे का शिथिलीकरण करते हैं। यदि वे संयुक्त हो जाते हैं तो उनका परिणाम शिथिल-लवण होता है जो न तो क्षार होता है और न अम्ल। उदाहरणार्थ खाने का लवण कास्टिक सोडा और लवणाम्ल (हाइड्रोक्लोरिक) का संयोग होता है।

हम्फ्री डैवी के सम्मुख इन क्षारों का प्रश्न आया। वह कास्टिक सोडा तथा कास्टिक पोटैश की स्थिति जानने का उत्सुक था। देखने या प्रयोग में ये कदाचित् अपना असली रूप नहीं प्रकट करते थे। डैवी इनके स्वरूप की ठीक परख करना चाहता था।

लेवोशिए ने जिन तत्वों को ज्ञातकर अपनी सूची में नाम दिया था उनमें कास्टिक सोडा और कास्टिक पोटैश भी थे। परन्तु लेवोशिए ने अपनी सूची के कितने ही पदार्थों को प्रमाण के अभाव में तत्व मान लिया था और स्पष्ट रूप से यह शंका प्रकट की थी कि यदि उपयुक्त प्रमाण मिल सके तो उनमें से कितने ही पदार्थ यौगिक ही सिद्ध हो सकते हैं। लेवोशिए के सन्देह से संकेत पाकर उसके शेष कार्य को पूरा करने में योग देने का बीड़ा हम्फ्री डैवी ने मानो उठाया।

रायल इंस्टिट्यूशन में साधनों की सुलभता से डैवी ने सैकड़ों बाटरियों की श्रृङ्खला से एक भारी विद्युत धारा उत्पन्न कर कास्टिक पोटैश पर प्रहार करना चाहा जिससे वह अपना नग्न रूप प्रकट कर सके। इस सूखे द्रव्य में बिजली की धारा प्रवाहित हो सकना कठिन था। अतएव उसने जल के साथ उसका घोल बनाकर अपने प्रयोग की बाटरी में इस घोल को रखा तथा विद्युत् धारा चक्र संचालित कर दिया। विद्युद्दन्डों पर बुलबुले उठने लगे; परन्तु यह क्रियाशीलता उसकी निराशा का ही कारण हुई क्योंकि दोनों दंडों पर ये बुलबुले तो पानी विश्लेषित होने से ही ओषजन और उद्जन रूप में निःसृत हो रहे थे। जब जल का अंश पूर्णतया विश्लेषण क्रिया से लुप्त हो गया तो कास्टिक पोटैश का अंश ही बाटरी में शेष रहा। यह प्रयोग कास्टिक पोटैश को विश्लेषित कर यौगिक सिद्ध करने में असफल ही रहा। कास्टिक ने इस विकट विद्युत् प्रवाह से भी अपने कठोर कलेवर पर तनिक आँच न आने दी। वह सर्वथा अक्षुण्ण रहकर यौगिक पदार्थों की श्रेणी से दूर ही बना रहा।

हम्फ्री डैवी ने कास्टिक पोटैश के विश्लेषण करने के प्रथम प्रयत्न में उन सब बाटरियों की सामूहिक शक्ति का प्रयोग किया था जो रायल इंस्टिट्यूशन में सुलभ हो सकती थीं। कितना विशाल आयोजन था! जस्ते और ताँबे की बीस जोड़ी विद्युत् पट्टिका (प्लेट) एक फुट वर्ग आकार की थी, सौ विद्युत् पट्टिका (प्लेट) छः इंच वर्ग की थी, एक सौ पचास चार इंच वर्ग आकार की थीं। इन सब विद्युत् पट्टिकाओं (या दंडों) का संघ एक गहन मर्म के उद्घाटन के लिए आयोजित किया गया था। कास्टिक पोटैश की रचना में डैवी ने कोई तत्व छिपा होने का अनुमान किया था। उसकी परीक्षा होनी थी जिसमें वह तुरन्त सफल न हो सका। इतनी शक्ति की विद्युत्-बाटरी आज की दृष्टि से भारी भरकम वस्तु भले ही न मालूम हो, परन्तु उन दिनों तक तो डायनमो का जन्म ही नहीं हुआ था, अतएव यह बिजली की भारी से भारी शक्ति उत्पन्न कर सकने का आयोजन था।

सैकड़ों विद्युत् पट्टिकाओं की श्रृङ्खला से डैवी ने अन्य प्रयोग भी किये थे। उसको सफलताएँ भी मिलती थीं। इसलिए उसकी शोध शक्ति में अविश्वास नहीं किया जा सकता था। डैवी ने एक महत्वपूर्ण प्रयोग पहले कर दिखाया था। उसने अम्ल और क्षार को साधारण जल का विद्युत् विश्लेषण करने में उत्पन्न होते देखा था। उसका मर्म जानने का उसने प्रयत्न किया था। वह तर्क करता कि कुछ लोगों का विश्वास कहां तक सत्य है कि बाटरी में जल से अवयवों का पृथक्करण होने पर अम्ल और क्षार स्वयं ही

उत्पन्न करने वाली कोई आधार वस्तु नहीं होती। डैवी का यह विश्वास था कि वे कांच पात्र के कांच या पट्टिकाओं (विद्युद्दन्डों) के धातुओं के सूक्ष्म कणों से ही उत्पन्न हो सकते होंगे। विद्युत् धारा सब प्रकार के विजातीय पदार्थों को आकर्षित करती है अतएव बिजली ही इन कणों को पट्टिकाओं पर जमा देती होगी। इस विश्वास का पुष्टिकरण करना आवश्यक था। डैवी ने अपनी इस धारणा का जो स्पष्ट प्रमाण उपस्थित किया वह प्रयोग स्मरणीय है। यह प्रयोग २० नवम्बर १८०६ को रायल इंस्टिट्यूशन को सूचित किया गया था।

क्षार और अम्ल मलीनता से ही उत्पन्न होते हैं। इसका निर्णय करने के लिए डैवी ने एक अद्भुत प्रयोग का आयोजन किया। उसने शुद्ध स्वच्छ स्वर्ण निर्मित बाटरी निर्मित की जिसमें निर्मल स्रवित जल डाला गया। इस बाटरी के ऊपर कांच का चहुँधा आवरण बनाकर पम्प द्वारा सम्पूर्ण वायु इस आवरण के भीतर से निकाल दी गई जिससे किसी भी सम्भव प्रकार से मलीनता का प्रवेश जल, वायु या पात्र द्वारा भीतर विद्यमान न हो सके। इस मनोरम स्वर्णनिर्मित बाटरी ने विज्ञान जगत में स्वर्णिम दृश्य उपस्थित किया। जब डैवी ने बिजली के धारा चक्र के तारों को जोड़कर बिजली की धारा संचारित की तो स्रवित जल का विभाजन होकर ओषजन तथा उद्जन रूप पृथक्-पृथक् हो गया, परन्तु अम्ल तथा क्षार की कहीं भी गंध न मिली। यह एक अद्भुत प्रयोग था जिसने डैवी की धारणा पूर्णतः पुष्ट की।

हम्फ्री डैवी का यह प्रयोग उस वक्तृता के संबंध में आयोजित था जिसे "बेकरियन वक्तृता" कहते थे। कोई बेकर नाम के महानुभाव थे। उन्होंने एक निधि प्रदान कर यश लाभ का अवसर प्राप्त किया था। वे कुछ विज्ञानानुरागी व्यक्ति थे। प्राचीन हस्तकला की वस्तुओं के व्यापार से उन्हें जीविकोपार्जन का अवसर मिला था। अपनी अर्जित धनराशि में से १०० पौंड रायल इंस्टिट्यूशन को प्रदान करने की वसीयत की थी। उनकी मृत्यु के पश्चात् इस धन से प्रतिवर्ष जो ब्याज प्राप्त हो सकता उससे एक वक्तृता उनके स्मारक रूप "बेकरियन वक्तृता" नाम से आयोजित कराने की प्रार्थना की गई थी। किसी महत्वपूर्ण वैज्ञानिक शोध को इस वक्तृता का विषय बनाया जाता था। पहली "वक्तृता" देने का आमंत्रण रायल इंस्टिट्यूशन द्वारा हम्फ्री डैवी को मिला था। उसी के परिणाम-स्वरूप उपर्युक्त विलक्षण प्रयोग की व्यवस्था हुई थी।

ऐसे दान की चलन अनेक देशों में प्रचलित है और अनेक श्रीसम्पन्न पुरुषों ने इस प्रकार धन से यश अर्जित करने का प्रयत्न किया जिसे वे अन्य साधनों से प्राप्त नहीं कर सकते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी में "बेकरियन वक्तृता" देने के लिए आमंत्रित होना एक बड़े सम्मान की बात समझी जाती थी। जब सर्वप्रथम आमंत्रण डैवी को मिला तो उसने विज्ञान-जगत को अपनी वक्तृता से इतना अधिक प्रभावित किया कि देश-विदेश से उसे सम्मान प्राप्त हो सका। फ्रांस उन दिनों इंगलैंड से युद्ध घोषित किये था, फिर भी उसने इस वैज्ञानिक को इस सफलता के लिए एक स्वर्णपदक प्रदान किया। वोल्टा के बाद डैवी की शोध सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझी गई।

यह केवल डैवी की यश-वृद्धि का प्रथम चरण ही था। उसे दूसरे वर्ष फिर इस बेकरियन वक्तृता के लिए रायल इंस्टिट्यूशन द्वारा निमंत्रण प्राप्त हुआ। उसी अवसर के महत्वपूर्ण खोज की चिन्ता में डैवी ने कास्टिक पोटैश का सम्भावित विश्लेषण करने की योजना करने का साहस किया था।

कर्मठ शोधकर्त्ता या पुरुष अपनी कठोर कठिनाइयों या घोर असफलताओं से ही अपना मार्ग विचलित नहीं होने देते। डैवी भी शीघ्र ही असफलता स्वीकार कर चुप बैठ रहने वाला व्यक्ति नहीं था। कास्टिक पोटैश का अंग भेदन करने में जल की सहायता व्यर्थ सिद्ध होने पर डैवी ने अग्निबल से उसे पराभूत करने का प्रयास किया। विश्लेषण करने के लिए कास्टिक पोटैश के कलेवर में विद्युत् धारा का सीधे प्रवाह होकर वज्रशक्ति से प्रहार करने के लिए जल में उसका घोल बना कर निष्फल-प्रयास हो जाने पर उसने उसे उत्ताप-द्रवित करने का प्रयत्न किया। थोड़ा शुष्क चूर्ण प्लेटिनम के चम्मच में उसने रख कर एक तेज लौ के ऊपर रक्खा। लैम्प की लौ पर फुँकनी से ओषजन की धारा पहुँचाई गई जो पहले से ही तैयार कर रक्खी गई थी।

स्पिरिट लैम्प की लौ इस ओषजन की धारा से अत्यन्त प्रबलतापूर्वक ज्वलित होकर प्लेटिनम चम्मच में कास्टिक पोटैश चूर्ण को पेंदे में फैला सकी। अब प्लेटिनम चम्मच से विद्युत् धारा चक्र के एक तार को जुटा कर दूसरा तार उसने ध्वस्त होते कास्टिक पोटैश में ही सीधे रक्खा और विद्युत् धारा संचारित कर दी। अब इस प्रयोग में जल नहीं था। केवल कास्टिक पोटैश की श्वेत उत्तप्त धूल का ही सीधे विद्युत् धारा से सामना था। डैवी की धारणा थी कि यदि कास्टिक पोटैश तत्व नहीं है तो उसका कलेवर भग्न होकर उसका यौगिक रूप नष्ट कर देगा और शुद्ध तत्व सामने आ जायगा। किन्तु वह यह भी सोचता कि कहीं ऐसा न हो कि उसमें से विद्युत् धारा ही प्रवाहित न हो सके।

डैवी अपने प्रयोग को अपलक नेत्रों से देख रहा था। उसकी सारी दृष्टि प्लेटिनम चम्मच के भीतर पिघले कास्टिक पोटैश की सम्भावित प्रतिक्रिया पर थी। पता नहीं किस क्षण वह क्षत-विक्षत होकर यौगिक का छद्म वेश विवश हो छोड़ बैठे। बड़ी ही उत्सुकता पूर्वक देखते ही देखते उसका मुँह चम्मच से स्पर्श तक कर जाता। आँखों को इतने भीषण विद्युत् प्रवाह की ज्योति के चकाचौंध होने से क्षत होने का भय था परन्तु डैवी इन सारी चिन्ताओं या अपनी रक्षा की बात ही भूल गया था। एक लक्ष्य अनवरत उसकी आँखों में नाच रहा था, वह था कास्टिक पोटैश की भेदनशीलता।

कास्टिक पोटैश के पिघले द्रव से एक बैंजनी लपट उस विन्दु से फूट पड़ी जहाँ बिजली का तार उसमें स्पर्श करता, परन्तु विद्युत् धारा बन्द करते ही वह लपट लुप्त हो जाती। विचित्र मर्म था। डैवी ने देखा कि यह कोई पृथक तत्व होने की क्रिया है, परन्तु वह उसे वश में नहीं कर सकता था। कास्टिक पोटैश बड़ा ही हठी सिद्ध हुआ। इतने प्रबल प्रहार पर भी अपना छद्मवेश उद्घाटित करने के लिए विवश न किया जा सका।

कास्टिक पोटैश के उत्तप्त द्रव को विद्युत् प्रवाह के कारण बैंजनी लपट उत्पन्न करने के दृश्य पर डैवी ने कहा "धारा ने इस क्षार से कोई अज्ञात वस्तु पृथक की है। यही कारण था कि प्लेटिनम तार के छोर पर बैंजनी लपट उत्पन्न हुई। इसका कोई अन्य कारण नहीं हो सकता किन्तु इसको किस प्रकार वश में किया जाय, इसको मैं स्वयं नहीं जानता।"

प्रश्न यह था कि डैवी की यह धारणा तथ्यपूर्ण है या केवल मृगमरीचिका है। डैवी से थोड़े ही न्यून कर्मठ शोधकर्त्ता ल्विगी गालवनी ने एक बार बड़ी युक्तिसंगत बात कही थी, "शोधकर्त्ता जब प्रयोग करता होता है तो यथार्थतः क्या तथ्य है, इसकी अपेक्षा वह उस रूप में वस्तु देखता है जैसी उसकी देखने की आकांक्षा होती है।" क्या सचमुच डैवी भी केवल मनोकल्पित तथ्य ही होने का स्वप्न देख रहा था ?

डैवी ने अपने प्रयोग को बार-बार दुहराया, किन्तु प्रति बार बिजली की धारा बहते रहने पर पिघले हुए कास्टिक पोटैश से उसी प्रकार की बैंजनी लपट बिजली के तार के द्रव से स्पर्श विन्दु पर उत्पन्न देखता। धारा बन्द करते ही वह लपट भी लुप्त हो जाती। एक बात थी। जब कभी चम्मच में ऊपर का तार बैटरी के ऋणध्रुव से संयुक्त होता और प्लेटिनम के चम्मच से ही प्रत्यक्ष सम्बद्ध निचला तार धनध्रुव से सम्बद्ध होता तो छोटी बैंजनी लपट उत्पन्न हो जाती। यदि यह व्यवस्था पलट दी जाती तथा चम्मच में पिघले कास्टिक पोटैश से स्पर्श करने वाला तार धनध्रुव से सम्बद्ध किया जाता और चम्मच ऋणध्रुव से सम्बद्ध होता तो लपट उत्पन्न न हो पाती, किन्तु कास्टिक पोटैश के अन्दर विभाजन क्रिया अन्य रूप में प्रकट होती। एक गैस के बुलबुले उठ-उठ कर चम्मच के पेंदे से ऊपर उठ कर तल तक पहुँचते और ज्वलित हो उठते। यह परीक्षण करने पर उद्जन (हाइड्रोजन) गैस सिद्ध हुई। परन्तु बैंजनी रंग की लपट उत्पन्न करने वाली वस्तु का पता न चलता। वह पकड़ में न आती।

जो वस्तु जल में घुलाने पर भी विश्लेषित नहीं होपाती, आग की प्रखर क्रिया के पश्चात् भी भारी विद्युत धारा में अपना स्पष्ट रूप न दिखाती उसको कैसे पकड़ा जाय यह गहन समस्या थी। जल में उस पर बिजली की धारा का प्रभाव ही नहीं पड़ पाता; उधर प्रज्वलित करने पर वह बहुत अधिक तीव्र रूप की हो जाती जिससे पृथक अवयव प्राप्त करना असम्भव होता। इन परिस्थितियों का सामना कैसे किया जाय सीधे कास्टिक पोटैश को

ही प्लेटिनम चम्मच में रख कर तो उस शुष्क वस्तु में बिजली की धारा प्रवाहित कर सकने की कोई संभावना ही नहीं हो सकती। यदि इन परिस्थितियों में कोई डैवी को नवीन युक्ति निकालने की बात सुनाता तो उसे हिरण्यकश्यप की बात ध्यान में आ सकती थी।

हिरण्यकश्यप की मृत्यु न हो सकने के लिए पौराणिक विचारों के अनुसार, कुछ वरदान प्राप्त थे। उसके अनुसार घर या बाहर, दिन या रात में, किसी अस्त्रशस्त्र से उसकी मृत्यु नहीं हो सकती थी। नर या देवताओं में से कोई उसका प्राण नहीं ले सकता था किन्तु उसकी मृत्यु हुई और वह इस प्रकार कि रात भी नहीं थी दिन भी नहीं था। घर भी नहीं था, मैदान भी नहीं था। मारने वाला कोई मनुष्य भी नहीं था। देवता भी नहीं था। दिन और रात के संधिकाल में सायंकाल, घर और मैदान के बीच घर की ओरी के नीचे नृसिंह रूप धारी जन्तु ने अपने नखों से उसका संहार किया। यह तो मध्यम मार्ग पकड़ने को हमारी उपमा है, किन्तु डैवी ने भी जल तथा अग्नि दोनों का ही परित्याग कर किसी मध्य मार्ग से ही इस कास्टिक पोटैश की मात्रा विद्युत धारा के प्रभाव में ला सकने की व्यवस्था की। उसने सोचा, क्यों न पूर्ण जल घुलित करने के स्थान पर केवल ऊपरी तल पर आर्द्रता का ही कास्टिक पोटैश की मात्रा पर प्रभाव डाला जाय जिससे वह अधिक से अधिक ठोस स्थिति में ही पड़ा रहे और आर्द्रता के कारण उसमें विद्युत की धारा प्रवाहित हो सके। यह अवश्य ही एक आशापूर्ण कल्पना थी।

शरद ऋतु में अक्टूबर मास के एक दिन प्रातः काल कुहासा पड़ रहा। रात को दैनिक जीवन के आमोद-प्रमोद के कार्यक्रमों की भाँति अति काल तक जागरण करते रहने से डैवी को केवल दो-तीन घंटे ही शयन का अवसर मिला था। प्रातः काल का कार्यक्रम वह अलसाए रूप से प्रारम्भ कर रहा था। उसी समय उसे प्रयोगों में कास्टिक पोटैश के विभाजन की अनेक युक्तियाँ मस्तिष्क में दौड़ रही थीं। उसने शुष्क पोटैश को प्रयुक्त कर कोई परिणाम निकलते नहीं देखा था। इसी समय उसे प्रयोगों में शीघ्र ही उत्साह भी हो आया और अलसता दूर भाग खड़ी हुई। उसने तनिक सी आर्द्रता पहुँचा कर उस पर विद्युत-बल का वज्र प्रहार करना चाहा। कास्टिक पोटैश के बाह्य तल पर तनिक सी आर्द्रता को विद्युत धारा ने उसके अंदर प्रविष्ट कर सकने के लिए यथेष्ट मार्ग समझा। पोटैश पिघलना प्रारम्भ हुआ। ऊपरी तल से नीचे की ओर उसका कलेवर बिजली की धारा से प्रभाव-ग्रस्त होने का अनुभव करने लगा। उत्तेजना के कारण डैवी का शरीर कंपित हो उठा। उसका श्वास अवरुद्ध सा हो गया। तार के संपर्क विन्दु पर पोटैश पिघल रहा था। उसका अंग बिखर कर ध्वस्त हो रहा था। उस समय तो पल भी युगों के सदृश ज्ञात होते। अचानक एक कड़कड़ाहुई, छोटा-सा विस्फोट हुआ। इस दृश्य से डैवी ने अपना सिर प्रयोग पर ही झुकाए रखकर अपनी व्यग्रता में केहुनी के उछाल से अपने सहायक एडमंड को एक धक्का सा दे दिया।

पिघलता हुआ कास्टिक पोटैश ऊपर अधिकाधिक बुलबुले छोड़ रहा। नीचे प्लेटिनम तल पर पिछले क्षार से क्षुद्रकण निकल कर गिर रहे थे। इन कणों की रूपहली दीप्ति थी और पारद कणों की भांति ज्ञात होते थे। किन्तु उनका प्रभाव भिन्न था। कुछ विस्फोटित हो जाते तथा दिखाई पड़ने के साथ ही लुप्त हो जाते। जो बचे भी रह जाते वे हवा में म्लान हो जाते। इनके ऊपर श्वेत पपड़ी पड़ जाती। यह प्रतीत हुआ मानो कास्टिक पोटैश में कोई धातु है। इस बात की किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। हर्ष के मारे डैवी उन्मत्त सा हो गया। प्रयोगशाला में वह हर्षातिरेक के कारण नाचने-कूदने लगा। कहीं आलमारी से कोई वस्तु गिरी पड़ी, कहीं खाली कांच-पात्र लौह तिपाई से टकरा कर चूर हो गए। एक परिचारक तो प्रयोगशाला की यह अवस्था देखकर बाहर की ओर भाग खड़ा हुआ। डैवी चिल्लाकर अपनी सफलता पर अपने को ही उच्चघोष से साधुवाद देने लगा। जो वस्तु वह उत्पन्न कर दिखाना चाहता था, वह नग्न रूप में उत्पन्न हो गई थी। इस भूचाल से दृश्य के पश्चात् कुछ देर में स्थिति साधारण रूप धारण कर सकी।

डैवी ने अपने सहायकों से कहा, "यह तो केवल प्रारम्भ ही है। कोई भी वस्तु विद्युत्बल के सम्मुख ठहर नहीं सकती है। हम लोग पूरे रसायन को उलट-पलट देंगे।

हम्फ्री डैवी ने अपने प्रयोग की टिप्पणियां लिख लीं,

सब बातों का ब्यौरा प्रयोगशाला की आलेख पुस्तिका में उल्लिखित किया। सारे पृष्ठ पर सर्वत्र स्याही फैल गई। कलम पर कलम टूटती गई तब जाकर प्रयोग का वर्णन समाप्त हुआ। डैवी ने अपनी सफलता का अनुभव किया और अपने सफल प्रयोग के वर्णन में "अद्भुत प्रयोग" का शीर्षक दिया।

उस दिन डैवी जितना ही आनन्द-विभोर होता, क्षम्य बात ही होती। कई मास से कास्टिक पोटैश के विभाजन की चिन्ता उसे अनवरत लगी थी। आज वह पूर्णतया दूर हो सकी। जो वस्तु उस समय तक अविभाज्य मानी जाती थी, वह उस दिन अवयवों को विभक्त करने के लिए विवश हो चुकी थी। कास्टिक पोटैश का नाम उसने तत्व सूची से काट दिया। उसकी जगह एक नवीन तत्व का नाम पोटैशियम उल्लिखित किया।

पोटैशियम विचित्र गुणों का धातु ज्ञात हुआ। पहली बात तो यही थी कि यह अपने शुद्ध रूप में रहने का घोर अनिच्छुक था। उत्पन्न होने के बाद ही लुप्त हो जाने का प्रयत्न करता, किसी अन्य वस्तु के साथ मिल जाने को उत्सुक रहता। इसको शुद्ध रूप में अधिक समय तक रख सकने के लिए डैवी को अपने बुद्धिबल से कोई युक्ति सोचनी पड़ी। पिघला पोटैश उत्पन्न किये जाने पर यदि यह विस्फोटित या दग्ध न हो जाता तो वायु में खुला होते ही यह परिवर्तित हो जाता। आंख के सामने ही वह अपनी चमक लुप्त कर लेता। ऊपर श्वेत आवरण सा जम जाता। उस आवरण या झिल्ली को हटाने से कोई लाभ नहीं होता। तुरन्त ही उस पर दूसरी झिल्ली उत्पन्न हो जाती। वह झिल्ली भी आर्द्र और भंजनशील हो जाती। धीरे-धीरे उस धातु का स्थान हम एक आकारहीन द्रव को लिये पाते किन्तु इस अवशिष्ट द्रव पदार्थ को हाथ से छूने पर अनुभव हो सकता था कि वह कास्टिक पोटैश ही है। साबुन की भांति वह दीख पड़ता तथा उसमें डालने पर लाल लिटमस कागज, पुनः नीला रंग धारण कर लेता। यह इस बात को प्रकट करता था कि यह तीव्रता से ओषजन तथा वाष्प उदरस्थ कर अपनी पूर्व अवस्था में पहुँच कर एक क्षार बन जाना चाहता है।

डैवी ने जब इसे पानी में डाला तो इसने पानी के तल पर ही हलचल मचा कर एक सिसकारी की उच्च ध्वनि की। उसका तुरन्त ही विस्फोट हुआ तथा एक बैंजनी लौ उत्पन्न हुई। लौ उठती रही, उधर उसकी मात्रा शनैः-शनै क्षीण होती रही। अन्त में यह कास्टिक क्षार रूप में परिवर्तित होकर पानी में घुल गया। इस अनियंत्रणशील धातु को कहीं भी रक्खा जाता, इसी तरह की लुप्त तथा रूपान्तरित होने की क्रियाएँ दिखाई पड़तीं। यह कुछ उत्पात और दग्धता का दृश्य उपस्थित करता। यदि वह कभी किसी वस्तु से संयुक्त भी होता तो वह अन्य तत्वों को बाहर भगाकर उनका स्थान ग्रहण करता।

डैवी ने देखा कि सोडियम अम्ल में जल उठता है। कांच को खा जाता है। यदि शुद्ध ओषजन से इसका संयोग किया जाय तो यह अत्यन्त प्रचंड उज्वल ज्योति का प्रादुर्भाव करता है जिस पर दृष्टि डाल सकना कठिन होता है। यह सुरासार या ईथर में भी सहज संयुक्त हो जाता है। इसका सभी धातुओं से संयोग संभव है। गंधक तथा फास्फोरस से भी सरलतया संयोग कर यह प्रज्वलित हो उठता है किन्तु हिमखंड पर भी सोडियम को प्रज्वलित होते देख सकना एक इन्द्रजाल सा दिखाई पड़ सकता है। यह हिमखन्ड में छिद्र बना कर धीरे-धीरे भीतर धसता जाता है। जब यह क्षार रूप में परिवर्तित हो जाता है तभी शान्ति प्रकट करता। इस दुर्दमनीय धातु की प्रकृति बदल कर किस प्रकार वश में किया जाय- किस प्रकार किस स्थान वश में सुरक्षित रक्खा जाय, ये प्रश्न थे जिनका उत्तर डैवी सरीखा कोई उद्भट वैज्ञानिक तथा शोधकर्ता ही दे सकता था।

अनेक उपायों का जब अंत हो रहा था, प्रयासों की पराकाष्ठा पहुँच रही थी, मिट्टी का तेल एक ऐसा पदार्थ ज्ञात हुआ, जिसमें पोटैशियम को वश में रख सकना संभव सिद्ध हुआ। यह उससे निरपेक्ष सा रहता और उसमें शान्त पड़ा रह सकता। डैवी को जब यह बात ज्ञात हुई तो उसने थोड़ी थोड़ी मात्रा में इस विचित्र धातु को संग्रहीत करने का अवसर प्राप्त किया। इस सुविधा से उसकी कठिनाई जाती रही। अब वह पोटैशियम की मात्रा बराबर तैयार रख सकता था जिसका उपयोग वह अपने प्रयोगों में इच्छानुसार किसी भी समय कर सकता था। अब उसे पोटैशियम के अभाव में अपना कोई प्रयोग स्थगित रखने की आव-

श्यकता नहीं हो सकती थी। इतने विलंब तथा अनेक प्रयत्नों के पश्चात् जब पोटैशियम को डैवी ने वश में करने का साधन प्राप्त कर ही लिया तो अब वह इस शंका का समाधान करने की ओर प्रवृत्त हुआ कि सोडियम कदाचित धातु न हो।

एक ओर तो सोडियम स्पष्टतया धातु ज्ञात होता। तुरंत उत्पन्न होने पर, वायु में खुले रहकर अपना रूप परिवर्तित करने के पूर्व ही उसमें धातु की दिव्य दीप्ति चमकीले चाँदी खण्ड की भाँति उद्भासित होती रहती। इनके अतिरिक्त अन्य सभी धातुओं की भाँति वह बिजली तथा तत्व का सुचालक भी था तथा द्रव पारद में घुलित भी हो जाता। किन्तु दूसरी ओर उसके धातु होने में भारी सन्देह भी होता। हमें ऐसी कोई धातु कहाँ दिखाई पड़ सकती है जो पानी में प्रज्वलित हो उठे और पल मारते ही खुली हवा में मुर्चा खाने लगे। पोटैशियम में ये दुर्बलताएँ होती हैं, जिनकी हम विलक्षणता भी कह सकते हैं। चाकू से आप काट सकते हैं। वह मोम सरीखा कोमल होता है। यह भार में तो इतना हल्का होता है कि मिट्टी के तेल में भी नहीं डूबता। मिट्टी का तेल (केरोसिन आयल) को हम पानी से बहुत हल्का होना जानते ही हैं।

सोडियम जहाँ हल्का दिखाई पड़ता है, वहाँ उसकी अपेक्षा स्वर्ण बीस गुना, पारद सोलह गुना तथा लौह से नौ गुना अधिक भारी होता है। यहाँ तक कि कोई-कोई काठ भी इस पोटैशियम नामक धातु से भारी पाया जाता है, फिर भी डैवी ने यही निर्णय किया कि पोटैशियम धातु है।

डैवी का कथन था कि पोटैशियम अवश्य हल्का धातु ही है। परन्तु इस बात पर विचार कर देखा जाय तो प्लेटिनम तथा सोने की तुलना में लोहा भी हल्का ही धातु है। पारा को हम इन दोनों का मध्यवर्ती पाते हैं, जो प्लेटिनम तथा सोना से हल्का किन्तु लोहा से अधिक भारी होता है। सारी कठिनाई यह है कि हम लोग पुराने धातुओं के देखने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि नये धातुओं की विद्यमानता पर संदेह हो उठता है। यह बहुत कुछ संभव है कि अन्य ऐसे धातु अन्वेषित किये जा सकें जो पोटैशियम तथा लोहे की मध्यवर्ती श्रृङ्खला की पूर्ति करते दिखाई पड़ें। यह बात कालान्तर में सत्य ही सिद्ध होकर रही।

द्वितीय बेकरियन वक्तृता देने का निर्धारित समय नवंबर १९०७ था। उसी अवसर को गौरव प्रदान करने के लिए डैवी के उर्वर मस्तिष्क ने घोर प्रयत्न के पश्चात् पोटैशियम तत्व को अन्वेषित किया था। वह इस सफलता के पश्चात् भी इस तत्व के विभिन्न प्रयोगों को तैयार कर श्रोताओं तथा साथ ही विज्ञान जगत को स्तब्ध करने की आतुरता में रात-दिन रहने लगा था। उन दिनों डैवी को जितना अधिक कार्यरत देखा जा सकता वह किसी साधारण शोधक या वैज्ञानिक के दैनिक कार्य-क्रम से अतुलनीय था किन्तु इतनी व्यस्तता में भी डैवी सम्भ्रान्त पुरुषों से मिलने-जुलने, उनके निमंत्रणों को स्वीकार करने, आमोद-प्रमोदों में भाग लेने में नहीं चूकता था।

एक बार मित्रों ने आपस में यह कानाफूसी की कि डैवी कुछ दुबला दिखाई पड़ता है। परन्तु ऐसा होता कि वैज्ञानिक रूप में डैवी प्रयोगशाला में अत्यधिक व्यस्त रह कर अपने वस्त्रों पर कुछ मलीनता तथा धब्बे डाल लिये होता। उधर आमोद-प्रमोद या निमंत्रण के ठीक समय पर उसे पहुँचना भी होता। वह तुरन्त कोई नई कमीज पुरानी के ऊपर ही डाल कर चल देता। फिर उसके कुछ परिधान मैले होते, एक के बाद एक वह कई कमीजें, यहाँ तक कि दर्जनों तक, कभी एक साथ ही धारण कर लिये होता। फिर किसी दिन अवकाश निकाल कर सारा वस्त्र उतार देने का अवसर आता। एक-दो कमीज से ही उसका शरीर बहुत दुबला-पतला दिखाई पड़ना स्वाभाविक ही हो सकता था किन्तु यह बहुत कुछ संभव है कि ऐसी बातें मनगढ़न्त ही हों और जनश्रुति का कोई ठीक आधार न हो किन्तु एक साधारण जन की भाँति सांसारिकता में पड़े रहने तथा दूसरी ओर वैज्ञानिक प्रयोगों की सफलता के लिए घोर प्रयत्नशील और साधना-रत रहने की बात हम सत्य ही समझ सकते हैं।

कास्टिक पोटैश का कलेवर विभाजित कर लेने के पश्चात् डैवी का ध्यान दूसरे बार, कास्टिक सोडा की ओर गया। उसको भी उसने बिजली की धारा से विभाजित कर लिया। यह एक यौगिक सिद्ध हुआ। कास्टिक पोटैश की जगह इस यौगिक वस्तु में भी ओषजन, उद्जन तथा किसी अज्ञात धातु का संयोग दिखाई पड़ा।

कास्टिक सोडा से प्राप्त धातु विचित्र गुणों में सोडियम से होड़ लेता दिखाई पड़ा। रजत तुल्य दीप्ति तथा मोम सदृश कोमलता का गुण इसमें भी था, जिसे चाकू से काटा जा सकता, परन्तु सोडियम की अपेक्षा यह कुछ अधिक कठोर था। वायु में खुला होने पर यह भी रूपान्तर कर लेता। जल के तल पर सनसनाहट के साथ यह भी प्रज्वलित हो उठता। किन्तु इसमें लौ न उठती। मिट्टी के तेल में यह भी शान्त रूप रखता, अतएव उसमें इसे सुरक्षित रक्खा जा सकता। अम्ल के संयोग से इसमें लपट उठती, परन्तु इसकी लपट बैंजनी रंग के स्थान पर पीले रंग की उठती।

सोडियम नाम का यह तत्व पोटैशियम का बंधु ही कहा जा सकता है। इन दोनों तत्वों को डैवी ने विज्ञान जगत के सम्मुख एक समय ही रक्खा। इनमें कुछ बातों की भिन्नता होती है, परन्तु इनमें साम्य बहुत अधिक होता है। सोडियम को हम पोटैशियम की अपेक्षा कुछ कम क्रियाशील पा सकते हैं। किन्तु बर्फ के ऊपर रखने पर यह भी यथेष्ट क्रियाशील रहकर छेद कर धँसता जाता है।

बेकरियन वक्तृता का दिन १९ नवम्बर निकट चला आ रहा था। डैवी की कार्य-व्यस्तता उसे एक उन्मत्त या घोर साधनारत व्यक्ति की भाँति प्रकट करती। रात-दिन काम में जुटे रहकर वह भाषण के लिए जो प्रयोग तैयार करता उनके लिए उसे रात को तीन चार बजे तक जगते ही पाया जाता। इतने श्रतिकाल के पश्चात् प्रयोगशाला से विश्राम करने जाने पर प्रातःकाल ही वह कार्य-क्रम में संलग्न हुआ पाया जाता। अंत में डैवी का इन दोनों धातुओं पर मनोरंजक प्रयोगों के साथ बेकरियन भाषण जनता ने श्रवण किया। उसके सभी प्रयोगों को देखकर श्रोतागण स्तब्ध रह गए।

डैवी के द्वितीय बेकरियन भाषण ने सम्भ्रान्त जन मंडली में हलचल मचा दी। सब ने इन दोनों धातुओं का दर्शन किया, उनके विलक्षण गुणों का अवलोकन किया। मिट्टी के तेल से सिंचित इन पदार्थों की रजत तुल्य दीप्ति का दर्शन किया। जल के ऊपर फेंके जाने पर उनके विस्फोटित होने तथा विदग्ध होने की लीला भी सब ने देखी। रायल इंस्टिट्यूशन के सभी सदस्य अति स्तब्ध हो गए। संवाद-पत्रों में तीव्रता से इन नए धातुओं तथा नव प्रस्फुटित युवा वैज्ञानिक की प्रतिभा का उल्लेख होने लगा। नगर के पथों तथा वीथिकाओं में शिक्षित वर्ग एक दूसरे से वार्तालाप करते, "क्या आपने नवीन धातुओं की बात सुनी है ?" "क्या नवीनतम बात कोई हुई है ?" लोग कह बैठते, "साधारण पोटैश तथा सोडा से दो विचित्र धातुओं की उत्पत्ति की जा सकी है ये ऐसे धातु हैं कि काठ से हलके, मोम से भी मृदुल, कोयले से भी अधिक ज्वलनशील। भाई, अब तो दूसरी बात सुंघनी से स्वर्ण की उत्पत्ति एक विद्युत शक्ति द्वारा ही वे कर दिखाएँगे। कहीं नगण्य वस्तु से ही वे हीरक का उत्पादन भी न कर लें।"

डैवी की इन शोधों ने विज्ञान की जैसी अप्रतिम शक्ति इस समय जितनी स्पष्टता तथा विश्वास दिलाने योग्य कर दिखाई थी, वैसा पहले कभी न देखा जा सका था। जनता द्वारा उत्साहपूर्ण प्रशंसा तथा धन्यवादों की आंधी में डैवी अभिभूत हुआ जा रहा था।

चित्र के दूसरे पहलू पर दृष्टि जाने से कलेजा सिहर उठता है। शोध के अनुराग ने डैवी का शरीर खा लिया था। भाषण के पूर्व ही वह रुग्णता का अनुभव करने लगा था। उसको कभी-कभी चिन्ता होती, "यदि मैं अकस्मात मर जाऊँ तो संसार मेरी शोध को न जान सकेगा। शरीर की रोगग्रस्तता से तनिक भी शिथिल-प्रयत्न होने पर कदाचित् कोई अन्य व्यक्ति ही तारों का विभाजन कर यश प्राप्त कर ले।" इस तरह की कितनी अशुभ कल्पनाएं कर वह अपनी अर्द्ध रुग्णावस्था में अपने नित्य के प्रयोग संबंधी परिणामों को उल्लिखित करता जाता सोचता, "यदि मैं न भी बोल सका तो दूसरे लिखित वर्णन को पढ़कर सुना सकते हैं। यदि मैं मृत भी हो गया तो लोग मेरी टांकी हुई टिप्पणियां देख सुनकर मेरे अनुसंधान का पता पा सकते हैं।"

किसी प्रकार भाषण तथा प्रयोगों का प्रदर्शन ठीक समय पर होकर समाप्त हुआ। डैवी के सहायक ने निकट से देखकर ज्ञात किया कि भाषण के समय भी डैवी ज्वराक्रान्त था। किसी प्रकार साहस बटोर कर वह अपनी विज्ञान साधना के बल से उस दिन भाषण मंच पर खड़ा हो सका था। अपनी ईष्ट पूर्ति कर डैवी को रोगशय्या पर ही पाया जा सका। उसे जेलों की अवस्था निरीक्षण करने का कार्य पहले दिया

गया। वहीं, कहीं, टाइफस ज्वर ने उसके शरीर में स्थान पा लिया था। शीघ्र ही संवाद फैल गया कि डैवी मरण के सन्निकट है। यश की आंधी के प्रवाह के मध्य ही यह शोक संवाद फैल चला। रायल इंस्टिट्यूशन में चिन्तातुर दर्शकों की भीड़ लगने लगी, चिकित्सकों का जमघट होने लगा। विवश होकर इंस्टिट्यूशन के संचालकों को स्वास्थ्य विज्ञप्ति रह-रह कर प्रकाशित करनी पड़ी। चिकित्सक कहते। 'कुछ बात नहीं है। रोगी अच्छा हो जायगा।' जनता अपने इतने प्रतिभासम्पन्न नर-रत्न का लोप होने की आशंका से विह्वल हुई जा रही थी।

दस सप्ताहों तक जीवन और मृत्यु के हिंडोलों में स्थान सा बदलते हुए समय कट गया। रोगी की अवस्था कुछ सुधार दिखाने का आभास देने लगी। किन्तु अब भी शरीर पीला, दुर्बल, निःशक्त था। डैवी की रुग्णावस्था में उसके कक्ष में कोई सोफा या एक आराम कुर्सी भी नहीं देखी जा सकती थी। एक मात्र विश्रामस्थल बिस्तर ही था। इंस्टिट्यूशन के संचालक डैवी के स्वास्थ्य के लिए विशेष चिंतातुर थे। धन के नाम पर उन्हें उन दिनों दाताओं से बहुत कम धन ही प्राप्त होता, विशेष आय तो डैवी के ही भाषणों के शुल्क से होती, अतएव इंस्टिट्यूशन का जीवन ही खतरे में था। स्वास्थ्य विज्ञप्तियां निकलतीं, इंगलैंड के सम्पन्न वर्ग अपने इस वैज्ञानिक की महत्ता अस्वीकार नहीं करते थे। पत्रों में सर्वत्र भूरि-भूरि प्रशंसा निकल जाया परन्तु डैवी के लिए एक गद्देदार कुर्सी की भी व्यवस्था करने वाला कोई नहीं था, क्योंकि इसके लिए तो तिजोरी में बड़े यत्न से संचित धन का त्याग करने की आवश्यकता ही हो सकती है। फिर एक काष्ठ शिल्पी, ग्रामीण के पुत्र के लिए गद्देदार कुर्सी की जरूरत ही क्या थी! कुछ शुभचिन्तकों ने इंस्टिट्यूशन के संचालकों की भर्त्सना की। एक सोफा क्रय करने के लिए प्रेरित किया। साढ़े तीन गिन्नी से क्रय कर सोफा आया। किन्तु डैवी को उस समय उसकी आवश्यकता ही नहीं रह गई थी।

सफलता कदाचित् किसी व्यक्ति की महत्ता से ही सहज साध्य नहीं होती, साधना की गंभीरता ही उसके लिए समुचित मार्ग कहा जा सकता है। डैवी विश्व ख्याति-प्राप्त वैज्ञानिक था। अंग्रेजों की विज्ञान-जगत में अतुल प्रतिष्ठा वृद्धि का अजेय स्तंभ था। फिर बेकरियन भाषण के लिए तृतीय वर्ष भी आमंत्रण मिलने में उसे क्या कठिनाई हो सकती थी। स्वास्थ्य लाभ कर लेने पर डैवी अपने इस तृतीय बेकरियन भाषण के लिए श्रोता-मण्डली को मंत्रमुग्ध करने की वृहद् योजना के लिए आतुर हो उठा था। ऐसा कोई महत्वपूर्ण अनुसंधान उसके हाथ शीघ्र ही आ जाय। ऐसा कोई वैज्ञानिक तथ्य अपना भेद गुपचुप रूप से उसके सामने खोल दे कि उसके आधार पर महान् प्रयोगों के प्रदर्शन से दर्शकवृन्द विस्मय की असीम अनुभूति कर बैठें। फलतः एक विषय लेकर वह शीघ्र ही कुछ विशेष फल निकलता न देखकर दूसरा विषय हाथ में लेता। फिर दूसरे से तीसरे की ओर दौड़ जाता। शीघ्र हीं कोई महान् शोध हाथ में आ जाय, इसकी बड़ी ही उतावली में वह पड़ा ही समय बिताता तथा भिन्न-भिन्न प्रयोगों में हाथ लगाता।

डैवी की महान् सफलता कास्टिक पोटैश तथा कास्टिक सोडा सरीखे दुर्जेय पदार्थों का विश्लेषण कर लेने में थी। थोड़ी सी आर्द्रता की ही सहायता से विद्युत बल ने इनका हृदय चीर कर तत्व का रूप प्रदर्शित कर दिखाया था। अन्य जटिल यौगिकों का भी इसी प्रकार से विश्लेषण करना सहज होता, इस धारणा को हम हृदय में स्थान दे सकते हैं।

कुछ पदार्थों को क्षारीय मृत्तिका (आलकलाइन अर्थ) नाम दिया जाता है। चूना उनमें से ही एक है। मैगनीशिया बैराइट, स्ट्रोंटिया आदि भी इसी तरह की वस्तुओं के नाम हैं। इनका क्षारीय मृत्तिका नाम पड़ने का कारण है। ये मिट्टी (मृत्तिका) के अनेक प्रकारों की रचना में भाग लेते हैं। इन क्षारीय मृत्तिकाओं को अदग्धशील पाया जाता। अग्नि में चाहे जितने समय तक जलाया जाय, वे न पिघलते, न तो ध्वस्त होते और न रूपान्तरित होते। उधर पानी में भी वे अनघुल ही सिद्ध होते। इन पदार्थों को पानी में सर्वथा अनघुल कहना तो ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु इनका घोल बनाना बहुत कठिन कार्य अवश्य था। क्षारों की भाँति ये अम्लों से संयुक्त होते और उन्हें शिथिलीकृत कर देते, जिससे निर्दोष, निरपेक्ष लवण उत्पन्न होता। यदि किसी प्रकार बड़ी ही कठिनाई से इनका कुछ अंश जल में घुलित भी हो जाता तो वह घोल लाल लिट-

मस कागज को तुरंत ही नीले रंग में परिणत कर देता और यह क्षार का एक निश्चित लक्षण है। इसी कारण इन्हें मृत्तिका नाम प्राप्त हुआ।

डैवी ने अपनी रासायनिक सफलताओं से कास्टिक क्षारों का विश्लेषण कर इन क्षारीय मृत्तिकाओं का विश्लेषण कर अनेक तत्वों की नई शोध करने का निश्चय किया। उसे अपनी सफलता का पूर्ण विश्वास था। चार पदार्थों का नाम तत्वों की सूची से कट ही जायगा, वे यौगिक सिद्ध हो सकेंगे तथा उनसे प्राप्त नए धातुओं का ज्ञान संसार को होगा। इस तरह की मनोरम कल्पना से डैवी ने अपने तीसरे वर्ष के बेकरियन भाषण की योजना करने का विचार किया। कुछ समय लगाने भर का विलंब था और यह सत्य प्रस्फुटित होकर विज्ञान भंडार की स्थायी वस्तु हो जायगा। करना भी क्या था, केवल इन पदार्थों पर थोड़ी आर्द्रता का प्रभाव डाला, इधर बिजली की बाटरी सँभाला। धारा बहते ही यौगिक का कलेजा कंपित होकर तत्व रूप में धातु का शुद्ध अंग प्रस्फुटित कर देगा।

किन्तु कल्पना और ठोस सत्य में भारी अंतर हुआ करता है। डैवी की मन चेती बात भी गहन सत्य रूप धारण करती न दीख पड़ी। इस बात के कुछ संकेत तो प्राप्त हुए कि क्षारीय मृत्तिकाएँ विभाजित हो सकती हैं। विद्युत-वाहक तारों पर कुछ पतली परत सी जम जाती दिखाई पड़कर कुछ धातु होने का इंगित करती। किन्तु खुली वायु में होते ही वह पतली झिल्ली बदरंग हो जाती और उनसे उदजन (हाइड्रोजन) वायव्य ठीक उसी तरह निकलता जिस तरह पोटैशियम और सोडियम के प्रयोग में निकलता। किन्तु इन तत्वों की उल्लेखनीय मात्रा प्राप्त करना कठिन कार्य सिद्ध हुआ। उनके मध्य होकर डैवी लगातार घंटों तक विद्युत धारा प्रवाहित करता। परन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकलता। नये धातु की नाम मात्र की बहुत क्षीणमात्रा ही उत्पन्न होती। वे भी शुद्ध रूप के धातु नहीं होते, बल्कि तार के लोहे के साथ मिश्रित रूप में होते। लम्बी अवधियों तक प्रयोगों में संलग्न रह कर उसने अपनी भारी विद्युत बैटरियों की शक्ति समाप्त कर दी, फिर भी सफलता के कहीं दर्शन नहीं हुए। यह निराशा की स्थिति व्यग्रता का कारण हुई। डैवी ने ५०० जोड़ी धातु पट्टिकाओं की नई विद्युत बैटरी खड़ी की। उसका भी कुछ फल न हुआ।

एक स्वीडिन के बरजेलियस नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने उचित मार्ग निर्देश किया और लिखा कि वह अपनी बैटरी में विद्युत धारा प्रवाहित करने के लिए तार की जगह पारद द्रव का उपयोग करे। बरजेलियस की यह पद्धति उत्तम थी। वह अपनी बैटरी में क्षारीय वस्तु के विश्लेषण के लिए तार की जगह पारद प्रयुक्त करता। उसका तर्क यह था कि विद्युत बल के ऊँचे तापमान पर जब मृत्तिका से धातु पृथक हो जाय तो वह पारद में घुल जायगी। इस तरह पारद के साथ उस नवीन धातु का संयुक्त (धातुसंकर) रूप प्राप्त हो जायगा। धातुसंकर से कुछ निर्धारित तापमान पर ही पारा को भाप रूप में उड़ाकर पृथक कर लेना सम्भव हो सकता है और नवीन धातु स्वतः पृथक पड़ा रह जायगा। बरजीलियस की यह युक्ति अवश्य ही बड़ी सुन्दर थी। परन्तु डैवी को इससे अपने प्रयोगों में क्षारीय मृत्तिकाओं से शुद्ध धातु उत्पन्न करने की पूर्ण सफलता न मिल सकी। परन्तु उसने ऊपर वर्णित क्षारीय मृत्तिकाओं से कुछ अशुद्ध रूप में धातु पृथक कर लिये। इन नये धातुओं या तत्वों का अत्यन्त शुद्ध रूप प्राप्त करने का अवसर न मिलने पर भी डैवी ने उनके नाम काल्सियम, मेगनीसियम, बैरियम और स्ट्रोंटियम रख दिये। वे अब भी इन नामों से ही पुकारे जाते हैं।

चार नये तत्वों का नाम-धाम ज्ञात हुआ। उनको अन्य गम्भीर प्रयत्नों से ही कालान्तर में अन्य वैज्ञानिक द्वारा शुद्ध रूप में प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हो सकी, परन्तु डैवी ने इतना अवश्य ज्ञात कर लिया कि उनको उत्पन्न करने वाले पदार्थ यौगिक ही हैं जिनको भ्रम से तत्व माना जाता था।

डैवी ने इसी प्रकार चार अन्य क्षारीय मृत्तिकाओं से अधूरे प्रयत्न फलस्वरूप ज्ञात चार अन्य धातुओं का ज्ञान प्राप्त किया। किन्तु उनको और भी अधूरी सफलता के प्रयोग कहा जा सकता है। इतना ही नहीं, डैवी ने अपनी उतावली में कितने ही शुद्ध तत्वों को भी विश्लेषित कर यौगिक घोषित कर देने का उपहासास्पद प्रयत्न किया और आज शुद्ध माने जाने वाले तत्वों, गन्धक, स्फुर (फास्फोरस), कार्बन तथा ओषजन (नाइट्रोजन) को अपने प्रयोगों में यौगिक सिद्ध होने की

बात प्रसिद्ध थी। उसके तृतीय बेकरियन भाषण में ये चारों तत्व यौगिक सिद्ध होने की घोषणा की गई। यदि वह थोड़ी ही अधिक सावधानी तथा तनिक भी थोड़ी उतावली में अपने प्रयोग करता तो इतनी भारी भूल अधकचरे प्रयोगों द्वारा घोषित करने का अवसर न आ सका होता।

अतएव डैवी की जीवन धारा में अनेक उथल-पुथल की बातें पाने का अवसर पाने पर भी हम सोडियम तथा पोटैशियम की खोज से बढ़ कर अन्य अधिक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य ज्ञात होने की बात नहीं पा सकते। साधनारत डैवी ने नूतन मर्म ज्ञात किया। साधनाच्युत डैवी ने नूतन भ्रान्ति का उदय किया। दोनों एक ही साधक के दो पहलू थे।

डैवी की अपूर्ण सफलता के नाम-निर्दिष्ट धातुओं ने डैवी की इस पूर्व कल्पना का पुष्टिकरण किया कि पूर्व रूप के ठोस रूपधारी लोहे, ताँबे आदि तथा विलक्षण गुणों को प्रकट करने वाले पोटैशियम, सोडियम धातुओं की मध्य-श्रृङ्खला रूप में धातुओं की कहीं अवश्य स्थिति होगी। डैवी के नव अनुसंधानित धातु रूपहली दीप्ति प्रकट करते तथा खुली हवा में शीघ्र ही बदरंग हो जाते। जल का संयोग होने से वे जल को क्षुब्ध कर अवयवों रूप में पृथक्- पृथक् विश्लेषित कर देते किन्तु इस क्रिया में उनको पोटैशियम तथा सोडियम के समान तीव्रता का प्रभाव दिखाते नहीं पाया जाता। संक्षेपतः क्षारीय मृतिकाजन्य धातु धातु ही हैं, जिनका स्थान पुराने ज्ञात लोहा, ताँबा, पारद आदि निष्क्रिय और भारी धातुओं (तत्वों) तथा नये ज्ञात हल्के तथा अति सक्रिय पोटैशियम सोडियम धातुओं के मध्य है।

तत्वों की शोध में विद्युतविश्लेषण से अत्यंत महत्वपूर्ण परिणामों का सूत्रपात करने वाले वैज्ञानिक, हम्फ्री डैवी की पश्चात्वर्ती हल्की खोजों तथा सफलताहीन प्रयोगों की चर्चा से हमारा ध्यान उसके जीवन के उत्तरार्द्ध पर जा सकता है। हम उसकी यहाँ अधिक चर्चा करने के इच्छुक नहीं हैं। किन्तु कुछ जीवन-कथाकारों की दृष्टि में डैवी को कदाचित् अपनी दुर्बल पैतृक प्रतिष्ठा की ग्लानि रही हो और यश तथा धन दोनों का ही वह अर्जन कर जाने की चिन्ता में अपनी प्रतिभा का विक्रय कर देने की बात भी ध्यान में ला सका हो। अतएव अंतिम जीवन में धन लाभ करने की आकांक्षा से एक धनाढ्य विधवा से विवाह कर लेने की घटना घटित होते देखते हैं। इस विवाह के सम्पन्न होने के एक दिन पूर्व ही उसको 'नाइट' भी बनने का अवसर प्राप्त हुआ तथा शेष जीवन वह ऐश्वर्य तथा प्रतिष्ठा के साथ व्यतीत कर सर हम्फ्री डैवी नाम से पुकारा जाता रहा।*

—जगपति चतुर्वेदी

शीतल प्रकाश—(पृष्ठ १६६ का शेष अंश)

बढ़ने पर प्रकाश सफेद हो जाता है। इसका मतलब यह है कि जितना ताप क्रम बढ़ाया जायगा उतना ही तेज प्रकाश होगा। यह प्रकाशोत्पादन का साधारण तरीका है जो हम सदा ही प्रयोग में लाते हैं। बिजली की बत्ती के अन्दर एक साधारण तार को हम इतना गर्म करते हैं कि वह प्रकाश से चमकने लगे। परन्तु इस विषय के पंडितों का मत है कि इस प्रकार पैदा हुए हर प्रकाश में केवल २ प्रतिशत ही स्पष्ट प्रकाश है बाकी ९८ प्रतिशत गर्मी है। यदि किसी प्रकार हम इस गर्मी को पृथक कर सके तो केवल दो-हार्स पावर (2 horse power) का इंजन उस डायनमो को चला सकेगा जिसके लिए अभी हमें सौ-हार्स पावर के इंजन की आवश्यकता होती है। पर उष्ण-प्रकाश (incandescence) में यह असंभव है।

शीत प्रकाश ही इसका एक मात्र इलाज। इसमें केवल प्रकाश ही प्रकाश निकलता है उष्णता नहीं। इसीलिए कहा जाता है कि प्राणि-प्रकाश ही सब से अधिक कार्यक्षम प्रकाश है। जब सब से अधिक चमकदार बल्ब जलता है तो कहीं न कहीं (बिजली घर में) हर प्रकाश के लिए कुछ न कुछ कोयला जलता है। पर जन्तु प्रकाश रसायनिक क्रिया और प्रतिक्रिया का फल है। इसलिए यदि शीतल प्रकाशोत्पादन का हम साधारण ढंग जान लें तो वह बड़ा ही मितव्ययी सिद्ध होगा।

* "तत्वों की खोज में"—(किताब महल, इलाहाबाद)

जीवन का रहस्य

[*श्री वीरेन्द्र सिंह*]

जीवन का उद्‌गम कहाँ है ? इस प्रश्न पर कोई निश्चित धारणा कर लेना एक जटिल समस्या है परन्तु जटिलता को सरलता का रूप दिया जा सकता है, यदि उसको वैज्ञानिक तरीके से समझने का प्रयत्न किया जाय ! धार्मिक मत तो यह है कि ईश्वर ने आदमी के अन्दर "आत्मा" को रूप दिया है जिसके द्वारा उसमें जीवन का उद्‌भव हुआ और आत्मा के परम प्रकाश के द्वारा वह सभ्यता और संस्कृति को नव नवीन रूप देता हुआ, अग्रसर होता गया। वैज्ञानिकों ने धार्मिक मत को किसी हद तक माना है और इसके लिये जीवन के विकास को प्रथम कोष काल (Precellular Period) से अध्ययन किया है। वे इस तथ्य तक नहीं पहुँच सके हैं कि एक जीवित सेल से किस प्रकार एक जीवन का प्रस्फुटन हुआ। उनका यह मत है कि "प्रत्येक सेल्स का विकास पूर्व स्थित सेल्स से हुआ है" और "सेल्स से बाहर 'जीवन' का कोई भी चिन्ह नहीं है" और "जीवन जीवित सेल्स का एक गुणक-मात्र है"।

रूस में एक स्त्री ने इस दिशा में कुछ अनुसंधान किये हैं और उसने कोष के उद्‌गम को जानने का प्रयत्न किया है। उसने जीव विज्ञान की परिषद्-सम्मेलन में एक लेख के द्वारा घोषणा की थी कि "मैं जीवधारियों के सेल्स की झिल्ली (Membrane) का अध्ययन कर रही हूँ और इस झिल्ली के विकास के क्रम को मैं मेढ़क के शिशु (Tad pole) से लेकर पूर्ण विकसित मेढ़क तक अध्ययन कर रही हूँ।"

इसके लिये उसने मेढ़क के शिशु रक्त को लिया और उसका अध्ययन किया। उसने अनुसंधान के बाद यह ज्ञात किया कि शिशु के सरल पदार्थ में अनेक प्रकार के योक-वृत्तों (Yolk spheres) की विद्यमानता है। एक योक-वृत्त में उसने योक-कणों को पाया पर उसको कोई केन्द्रक (Nucleus) दृष्टिगोचर नहीं हुआ, दूसरे वृत्त में केन्द्रक उपस्थित था पर इसमें न तो कण थे और नहीं क्रोमोटीन। तीसरे प्रकार में केन्द्रक और क्रोमोटीन का बाहुल्य था, पर उसमें कणों का अभाव था। और चौथे प्रकार के वृत्त में केन्द्रक विभाजन की दशा में था और कणों का अत्यधिक अभाव था। अतएव इन प्रयोगों के द्वारा जीव विज्ञान यह जानने में समर्थ हुआ कि योक वृत्त के द्वारा अवश्य ही किसी प्रकार के सेल्स का प्रादुर्भाव हुआ है। यह अवश्य ही एक आश्चर्य-जनक अनुसंधान था जिस पर जीवन के विकास का क्रम बढ़ता हुआ ज्ञात होता है। केन्द्रक और क्रोमोटीन विकास में सहायक है और ये दोनों वस्तुएँ योक वृत्त में एक निम्न दशा से दूसरी उच्च दशा में प्राप्त होती है और अन्त में एक अत्यधिक विकसित दशा में पाई जाती हैं।

"सेल के, आंतरिक और भौतिक विज्ञान ने अलावा" प्रोफेसर ने अपने एक लेख में कहा है 'एक गुप्त रहस्य है जिसमें अब भी अनेक अनुसंधान और अनेक अध्ययन छिपे हुए हैं जिनका उद्‌घाटन नहीं हो सका है। इसका यही कारण है कि वैज्ञानिक ने कोष में विकास और गति को एक क्रम से अध्ययन नहीं किया है। यहाँ तक कि डारविन ने भी जीवन क्रम को पूर्व सेल्स दशा में विकास पाते हुए कहा है।"

एन्जिलस (Engels) ने लिखा है कि सत्यता में सबसे निम्न प्राणी केवल वे हैं जिसमें एलबूमन के कण विद्यमान है और जो प्रत्येक प्रकार के जीवन के चिन्ह से हमें वाकिफ कराते हैं। एन्जिलस् के इस कथन को अनेक वैज्ञानिकों ने ठीक कहा है और उन्होंने अपने प्रयोगों के द्वारा यह दिखलाने का प्रयत्न भी किया है—"हर जगह हमें एलबूमनमय शरीर प्राप्त होता है जिसके द्वारा जीवन की प्रत्येक दशा भविष्य में साकार होती है।"

जीव-शास्त्रियों और वैज्ञानिकों का मत है कि कोष का प्रादुर्भाव पूर्व उपस्थित कोष के द्वारा होता है। परन्तु विज्ञान अभी तक यह समस्या सुलझाने में समर्थ नहीं हो सका है कि पूर्व उपस्थित सेल्स के पहले सेल्स किस प्रकार उत्पन्न हुए थे, यहीं पर आकर "जीवन का रहस्य" सत्य में एक गूढ़ और अत्यक्त रहस्य रह जाता है।

कई वर्षों के बाद इस बात को सुलझाने के लिये विरचाव (Virchov) ने एक सिद्धान्त रखा—"इम्ब्रियलोजी भ्रूणविज्ञान (Embrylogy) के द्वारा यह ज्ञात होता है कि सब प्राणियों के इम्ब्रियों में ऐसे सेल्स विद्यमान रहते हैं जो विभाजन की द्रुत दशा में रहते हैं जिसके द्वारा भविष्य में शरीर के सब अंग विकसित होते हैं। यह विभाजन-विधि प्रत्येक जानवर तथा प्राणियों में पाई गई है। यह सेल्स विभाजन बीमार और स्वस्थ्य जीवन में और घरेलू जानवरों में सदैव पाई गई है।"

[एंग्लो अमरीकन पत्रिका १६५१]

एक उदाहरण लीजिये। कैन्सर रोग में भी सेल्स द्रुत विभाजन की दशा में रहते हैं जहाँ पर इसकी बीमारी का प्रमुत्व रहता है। बीमारी को रोकने के लिये यह जरूरी है कि सेल्स के विभाजन को कम किया जाय। जीव शास्त्र का यह सिद्धान्त है (Genetics) कि किसी अंग की मुख्यता उस स्थान में विद्यमान सेल्स की वजह से होती है और अधिकतर उनके द्रुत विभाजन के द्वारा होती है। इस सिद्धान्त के द्वारा यह ज्ञात होता है कि सेल्स का उद्भव, माता के सेल्स (mother cells) के विभाजन से होता है और इस विभाजित सैल का कुछ भाग जिसे 'क्रोमोसोम" कहते हैं, माता से शिशु को प्राप्त होता है जो शिशु की प्राप्त की हुई निधि है जिसके द्वारा उसके गुणों का विकास होता है। वरचाव का सिद्धान्त इससे सहमत है।

सोवियत रूस के वैज्ञानिकों ने और स्त्री प्रोफेसर ने मिलकर इस सिद्धांत को गलत कहा है और उनका कथन है कि नये सेल्स का उद्गम् स्थान पूर्व उपस्थित सेल्स ही नहीं है पर इसके अलावा उनका उद्भव परा सेल्स (Extra cellular) का तथ्य है, अर्थात् किसी पूर्व निश्चित सेल्स से ही नये कोष का विकास नहीं हो सकता है वरन् इसके अलावा सेल्स गुणों से अलग किसी जीवित इकाई से उनका विकास होता है। यह नवीन जीवित इकाई सेल्स से एकत्रित ही रहती है। इस सिद्धान्त को बल देने के लिये वैज्ञानिकों ने निम्न बातों को रखा जो प्रयोगों की कसौटी पर पूरी उतरी हैं (अ) मुर्गी के अन्डे में वैसीकुलोसा क्षेत्र में बाहरी और भीतरी सेल्स के बीच में जो योक-कण (Yolk globules) होते हैं, वे सीधे रक्त में बदल जाते है। ये कण सफेद रक्त कणों में परिवर्तित हो जाते है और रक्त का मुख्य भाग बन जाते हैं।

(ब) हाइड्रा (Hydra) को कुचलने के बाद, वह फिर नये सेल्स को एकत्र कर, एक संगठित रूप ले लेता है। ये नये सेल्स शीघ्र विभाजन की दशा में रहते हैं।

(स) जब चूहे की खाल पुरानी होकर अलग हो जाती है, तो उसकी जगह पर सेलस विच्छेदन से नयी त्वचा का प्रादुर्भाव होता है।

इन तथ्यों और अन्य प्रयोगों के बल पर, रूस की स्त्री प्रोफेसर तथा उसके सहयोगियों ने विरजाव के सिद्धान्त को किसी हद तक गलत साबित कर दिया है।

प्रोफेसर आईवनास्की ने ज्ञात किया कि एक रुग्ण बनस्पति का रस किसी भी दूसरे वृक्ष या पौधे को नुकसान पहुँचा सकता है। यह बात उस समय भी दृष्टिगोचर होती है जब रुग्ण पौधे के रस को छान कर वैक्टीरिया को अलग कर देते हैं। ये भी एक प्रकार के कीटाणु होते हैं। (Virus) जो बैक्टीरिया के कीटाणुओं से छोटे होते है। ये वीरस विज्ञान के लिये एक आश्चर्यजनक खोज हैं; क्योंकि ये जीवन और मृत के बीच की कड़ी हैं। एक ओर तो ये हानिकारक रसायनिक पदार्थ हैं और दूसरी ओर सूक्ष्म कीटाणुओं में परिवर्तित किये जा सकते हैं। उसके द्वारा सिद्ध होता है कि ये सूक्ष्म कीटाणु (Micro organisms) पूर्व सेलकाल से जीवन के उद्गम स्थान हैं। यह खोज 'जीवन के रहस्य' में एक महान् कदम है जो भौतिकवादी विचारधारा को और पक्का करती है।

अब हमारे सामने प्रश्न है कि वह क्या वस्तु है जिसके होने से हम जीवन की संज्ञा दे सकें ? जीवन हम किसे कह सकते हैं ? यदि हम जीवन को गति कहें तो भी यह परिभाषा गलत है क्योंकि वृक्षों और पौदों में गति नहीं

होती है, पर उनमें जीवन का पूर्ण समावेश होता है। जीव-शास्त्रियों का मत है कि जहाँ पर भोजन का पाचन और उसी अनुपात में उस जानवर या प्राणी में विकास होगा—वहीं पर जीवन का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है।

अनेक रसायन ऐसे होते हैं जो अपनी ही तरह के पदार्थों को जन्म देते हैं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हमें रसायन शास्त्र में मिलेंगे। गंधक की सहायता से गंधकाम्ल (Sulphuric Acid) को प्राप्त किया जाता है। ये प्रयोग जीवन पर कोई मुख्य प्रकाश नहीं डालता है और जीवन को समझने के लिए जीवन के द्वारा ही हम उसके समीप पहुँच सकते हैं। इसके लिए कोई अन्य तरीके की शरण लेनी पड़ेगी।।

"जीवन, अंडे की सफेदी (Albumen) के क्रमिक विकास का प्रस्फुटित रूप है और यह क्रम निरन्तर नव-रसायन भागों का विच्छेदन है। सफेदी का अर्थ केवल अण्डे की सफेदी ही से नहीं है, पर इसके अन्दर प्रोटीन पदार्थों का भी समावेश है। पर साधारण तौर पर, सफेदी अंडे का वह भाग है जो जीवनहीन है और साथ ही, बढ़ते हुए शिशु को (जो अंडे के अन्दर रहता है) भोजन प्रदान करता है। इस दिशा में, एन्जिल्स का कथन है :—

"हम जहाँ भी जीवन को पायेंगे, उस जीवन का गहरा सम्बन्ध सफेदी से होगा। और जहाँ भी यह पदार्थ ह्रास-हीन अवस्था में प्राप्त होगा, वहां अवश्य किसी न किसी रूप में, जीवन का उद्भव होगा"।

यह सफेदी का भाग वातावरण से पदार्थों को अपने अन्दर लेता है और उससे अपना हित लाभ करता है; और दूसरी ओर शरीर के पुराने व्यर्थ भाग को, मल के रूप में बाहर फेक देता है।

तो ऊपर के विवेचन से सिद्ध होता है कि जीवन, सफेदी (Albumineus Substance)के विकास का क्रम है और मुख्यता में, यह बतलाता है कि यह सफेदी अपने में ही कुछ ऐसी वस्तु है जो स्वयं सुप्त है—कुछ और है। जीवन भोजन हेतु अन्दर लेने की और मल-मूत्र त्याग करने की क्रिया है जो स्वयं में पूर्ण है और ये क्रियाएँ बिना सफेदी के अपना कार्य सम्पादन नहीं कर सकती हैं।

आवृतबीजिजों के भ्रूण पोष की रचनाकारिकी

श्री रमेश कुमार श्रीवास्तव, इंडियन एडमीनिस्ट्रेटिव सर्विस

वनस्पति जगत् के सभी अवयव पित्र्य सूत्र की संख्या के आधार पर दो प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किये गए हैं : जन्युक या 'गेमीटोफ़ाइट' और बीजाणुक या 'स्पोरोफ़ाइट'। इस वर्गीकरण के अनुसार प्रत्येक पौधे के जन्युक में सदैव ही बीजाणुक से आधे पित्र्य सूत्र पाए जाते हैं। परन्तु जनन-शास्त्र एवं भ्रूण-विज्ञान की आधुनिक गवेषणाओं ने यह निर्धारित किया है कि अनेक अवयव उपरोक्त दोनों श्रेणियों से भिन्न पित्र्य सूत्र के और विचरण शील होते हैं। इस प्रकार के विभिन्न पित्र्य सूत्रीय अवयवों में प्रमुख भ्रूण पोष या 'एन्डो स्पर्म' है।

यह अध्ययन भ्रूण पोष की रचनाकारिकी के प्रचलित मतों की आलोचना करते हुए एक नवीन पक्ष प्रस्तुत करता है जिससे भ्रूण पोष के वैभिन्य का पर्याप्त स्पष्टीकरण हो सके।

प्रचलित सम्मतियां

हॉफमाइस्टर ने १८५८ में बताया था कि भ्रूण पोष वास्तविक रूप से जन्युक ही है और इसका विकास पराग-नली के भ्रूण कोश में प्रवेश करने तक स्थगित हो जाता है। परन्तु यह विचार बीजिजों की जनन क्रिया एवं द्विनिषेचन से पहिले का है और अब केवल ऐतिहासिक महत्व का है।

१८८४ में स्ट्रास बर्जर ने जन्यु-सम्मिलन की क्रिया का वर्णन किया और १८८७ में लेमॉनियर ने कहा कि ध्रुव-न्यष्टियों का सम्मिलन जन्युओं के सम्मिलन के ही तुल्य है। इस विचार के अनुसार भ्रूण पोष केवल एक अन्य भ्रूण ही है और पहिले भ्रूण के समान बीजाणुक के स्वभाव का है। अन्तर केवल इतना है कि द्वितीय भ्रूण पहिले भ्रूण के खाद्यार्थ परिवर्तित हो जाता है। परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रथमांश में भ्रूण विज्ञान में प्रयोगों द्वारा जो परिणाम निकाले गए उनके अनुसार यह सिद्ध हो गया कि ध्रुवन्यष्टियों का सम्मिलन निषेचन से तुलनीय नहीं है। इसके अनन्तर, विस्तृत रूप से भ्रूण कोशों की जांच से ज्ञात हुआ कि तथा कथित द्वितीय भ्रूण में सदैव पित्र्य सूत्रों की द्विगुण संख्या नहीं होती। इस प्रकार लेमॉनियर के मत के दोनों पक्ष खण्डित हो जाते हैं।

नावाशिन ने १८९८ में द्विनिषेचन की क्रिया का अध्ययन किया और कहा कि ध्रुवन्यष्टियों का नर जन्यु से सम्मिलन साधारण निषेचन से तुल्य है। इस मत के अनुसार भी भ्रूण पोष की वास्तविक प्रकृति बीजाणुक के सम्य हुई। मिस सार्जेन्ट ने १९०० में इसी सम्मति पर अपने सिद्धान्त आधारित करते हुए विचारा कि दोनों भ्रूणों में जीवन-संघर्ष नहीं होता, क्योंकि द्वितीय भ्रूण के निर्माण में भ्रूण कोश की एक निभागीय न्यष्टि भी भाग लेती है। यदि द्वितीय भ्रूण केवल अण्डद्वारीय ध्रुवन्यष्टि एवं नर जन्यु के सम्मिलन से बनता तो कदाचित् यह एक साधारण भ्रूण होता। परन्तु उत्पत्ति से ही शिथिल यह द्वितीय भ्रूण शीघ्र ही विशीर्ण होकर पहिले भ्रूण का खाद्य रूप हो जाता है और इसे भ्रूण पोष कहते हैं।

परन्तु यह देखा गया है कि विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में भ्रूण पोष वास्तविक भ्रूण से कहीं अधिक प्रबल वृद्धि दिखलाता है। इसके उपरांत कुछ ऐसे भ्रूण कोशों के विकास का अध्ययन किया गया जिनमें भ्रूण पोष के निर्माण में केवल एक अण्डद्वारीय न्यष्टि एवं नर जन्यु ही सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार के उदाहरण ईनोथेरा सुएवीओलेन्स, बेलेनोफ़ोरा, और ब्यूटोमाप्सिस

में देखे गए। इन पौधों के भ्रूण पोष या तथा कथित द्वितीय भ्रूण में पित्र्य सूत्रों की केवल द्विगुण संख्या होती है। यदि मिस सार्जेन्ट का कथन सत्य होता तो इन द्विगुण संख्याक भ्रूणपोषों और साधारण भ्रूणों में जीवन संघर्ष होता। परन्तु भ्रूणकोशों के विकास से यह घटना सर्वथा अनुपस्थित है। इस कारण मिस सार्जेन्ट के मत को त्यागना ही उचित होगा।

स्ट्रासबर्जर ने १९०० में त्रि-सम्मिलन को संतेजक के तुलनीय दर्शाया। इनका मत था कि भ्रूणपोष एक विलम्बित कोशापुंज है जो निषेचन के उपरांत ही विकास प्रारम्भ करता है। स्ट्रासबर्जर का विचार था कि भ्रूणपोष के विकासारम्भ में समयातिक्रमण दो कारणों से हुआ। प्रथम तो यह कि इस प्रकार प्रत्येक अनिषेजित अण्डन्यष्टि के साथ-साथ एक बृहत् पोषरूप कोशापुंज का अपव्यय नहीं हुआ और द्वितीय यह कि इस विलम्बित जन्युक रूप कोशापुंज को विकास प्रारम्भ करने के लिए एक वृद्धि संतेजक भी मिल गया।

आधुनिक अन्वेषणों द्वारा यह निश्चित हो गया है कि भ्रूणपोष के निर्माण में उद्दीपन की आवश्यकता होती है, परन्तु बीजिजों के प्रसव चक्र में त्रि-सम्मिलन एक सार्वत्रिक घटना नहीं प्रतीत होती। टेरेक्सेकम, कान्ड्रिला, एरिजेरॉन, एन्टेनेरिया एवं अन्य अनिषिक्त-जनित पौधे इस मत के साक्षी हैं। इन पौधों के भ्रूणपोष की निष्पत्ति में नरजन्यु की कोई आवश्यकता नहीं होती वरन् दोनों ध्रुवन्यष्टियाँ ही सम्मिलन के उपरान्त कोशाभाजन प्रारम्भ कर देती हैं।

स्ट्रासबर्जर का यह पक्ष कि भ्रूणपोष जन्युक के ही स्वभाव का है अब त्यागना ही उचित होगा क्योंकि यह देखा गया है कि अत्यधिक भ्रूणकोशों में प्रभ्रूण पोषीन्यष्टि दो से अधिक ध्रुवन्यष्टियों के सम्मिलन से बनती है। इस प्रकार प्रारूपिक अर्धसंख्याक जन्युक का अभाव ही रहता है।

मिस सार्जेन्ट के अनुसार, टामस का विचार था कि नरजन्यु के भ्रूणपोषी न्यष्टि में सम्मिलित होने से भ्रूणपोष का संघटन भी भ्रूण के समान ही संकरज हो जाता है। और इस प्रकार का भ्रूणपोष नव भ्रूण के खाद्य के लिये अधिक उचित होता है। नीमेक का १९१० में यह प्रस्ताव था कि भ्रूणपोष के निर्माण में त्रि-सम्मिलन के दो मुख्य कार्य होते हैं; (१) भ्रूणपोष के विकास को प्रारम्भ करना और (२) नव भ्रूण के लिए एक ऐसा खाद्य बनाना जो क्रियात्मक रूप से उसके लिये अधिक उपयुक्त हो।

ब्रिन्क और कूपर ने १९४० और १९४७ में भ्रूणपोष के वास्तविक रूप का उल्लेखन करते हुए कहा कि द्विनिषेचन द्वारा प्रसंकरण हो जाने के कारण भ्रूणपोष के विकास की अत्याधिक वृद्धि हो जाती है एवं स्त्री-जन्युक की नितान्त न्यूनता की दशा भी पूरित हो जाती है।

टामस, नीमेक तथा ब्रिन्क और कूपर के उपरोक्त मत कदाचित् इस धारणा पर आधारित हैं कि भ्रूणपोषी न्यष्टि में सदैव एक नरजन्यु का सम्मिलन होता है। परन्तु यह निश्चित हो चुका है कि नरजन्यु का भ्रूणपोष निर्माण में भाग लेना एक सार्वत्रिक घटना नहीं है। ब्रिन्क और कूपर का यह विचार, कि प्रसंकर अवस्था के कारण ही भ्रूणपोष के विकास का वेग बढ़ जाता है, भी सत्य नहीं है कि क्योंकि अनिषिक्त-जनित पौधों में भी भ्रूणपोष उसी प्रकार प्राथमिक विकास में वेग वृद्धि प्रदर्शित करता है।

बटाग्लिया ने १९५१ में 'द्विनिषेचन' शब्द पर आपत्ति की और विचारा कि नरजन्यु का व्यवहार आवृत बीजिजों में न तो अद्वितीय है और न अस्पष्ट ही। इनका कथन है कि नरजन्यु का कार्य विशुद्ध रूप से उद्दीपन का है।

परन्तु ब्रिन्क और कूपर तथा बटाग्लिया के मत भ्रूणपोष की रचनाकारिकी पर कोई प्रकाश नहीं डालते।

भ्रूणपोष का जाति-चरित

अनावृत-बीजिजों के अधिकांश गणों में भ्रूणपोष स्त्री-जन्युक का ही केवल एक भाग होता है। यह निषेचन के पूर्व ही बनकर तैयार हो जाता है। परन्तु थूया, एबीज बॉलसेमियाँ, सूडोत्सूगा टैक्सिफोलिया एवं एफेड्रा में निषेचन के उपरांत नतनालन्यष्टि और एक नरजन्यु का सम्मिलन होता है। इस समागम के पश्चात् कोशाभाजन द्वारा एक कोशा समूह बनता है जो कि नव भ्रूण के खाद्यार्थ होता है।

इस प्रकार यद्यपि निषेचन से पूर्व भ्रूणपोष की निष्पत्ति

हो जाती है तथापि निषेचनोपरांत एक कोशा समूह उसी कार्य के निमित्त बनता है।

नीटम और वेलविशिया में स्त्री-जन्युक निषेचन के समय साधारणतया बहुन्यष्टीय कोशाओं का होना है। निषेचनोत्तर इन कोशाओं में न्यष्टि सम्मिलन होते हैं और इस प्रकार सभी कोशा एकन्यष्टीय हो जाते हैं। बीजोल में पश्च-निषेचन भ्रूणपोष इन एक-न्यष्टि-कोशाओं के भाजन का ही परिणाम होता है।

निषेचन से पूर्व, आवृत बीजिजों के भ्रूणकोश के मध्य भाग में दो ध्रुवन्यष्टियाँ और विभाग में तीन प्रति ध्रुव कोशा पाए जाते हैं। कभी कभी प्रति ध्रुव कोशाओं की संख्या तीन से अधिक और उनमें न्यष्टियों की संख्या एक से अधिक होती है। सासा पेनिकुलेटा में ३०० प्रति ध्रुव कोशा देखे गए हैं और बटाग्लिया में लिगुलेरिया कीम्फेराइ में निषेचन से पूर्व प्रति ध्रुव कोशा-विभाजन का का वर्णन किया है। इस क्रिया को 'पॉली एन्टीपोडी' कहते हैं। निषेचन के साथ ही साथ भ्रूण कोश में ध्रुवन्यष्टियों का सम्मिलन होता है और इस प्रकार उत्पादित प्रभ्रूणपोषीन्यष्टि या तो स्वयं ही या एक नर जन्यु से समागम के पश्चात् कोशाभाजन द्वारा पश्च-निषेचन भ्रूण पोष बनाती है।

इस समीक्षा के उपरांत बीजिजों के भ्रूणपोष का इतिवृत्त इस प्रकार अंकित किया जा सकता है :—

विभाग	उदाहरण	प्राङ् निषेचन	पश्च निषेचन
अनावृत बीजिज	साधारण गण	स्त्री-जन्युक (अर्ध-संख्यक)	×
,,	थूया, एबीज, सूडोत्सूगा और एफेड्रा	,,	नतनालन्यष्टि एवं नरजन्यु सम्मिलन द्वारा निर्मित कोशा समूह (द्वि-संख्याक)
,,	नीटम और वेलविशिया	बहुन्यष्टीय निभागी कोशा (बहु संख्याक)	एकन्यष्टीय निभागी कोशाभाजन द्वारा निर्मित कोशा समूह (बहु-संख्याक)
आवृत बीजिज	सासा पेनिकुलेटा और लिगुलेरिया आदि	पॉलीएन्टी पोडी द्वारा निर्मित कोशासमूह (बहु-संख्याक)	भ्रूणपोषीन्यष्टि के भाजन द्वारा निर्मित कोशा समूह (बहु-संख्याक)
,,	साधारण गण	×	,,

भ्रूणपोष के उद्विकास के ऐसे विश्लेषण में संतेजक की आवश्यकता निश्चित रूप से बढ़ती हुई प्रतीत होती है। अनावृत बीजिजों में स्त्री जन्युक ही भ्रूणपोष का कार्य करता है और संतेजन के बिना निषेचन से पूर्व निष्पन्न हो जाता है। थूया, एबीज, सूडोत्सूगा एवं एफेड्रा में नतनालन्यष्टि उद्दीपक मिल जाने पर एक कोशा समूह बनाती हैं जो पश्च-निषेचन भ्रूणपोष के तुल्य है। नीटम और वेलविशिया में निषेचनोत्तर भ्रूणपोष बीजोल की निभागस्थ न्यष्टियों के सम्मिलन द्वारा ही संतेजन पाता है। आवृत बीजिजों के प्राङ् निषेचन भ्रूणपोष की व्याप्रृति भी इसी प्रकार होती है। अन्त में आवृतबीजिजों के पश्च निषेचन भ्रूणपोष की निष्पत्ति ध्रुवन्यष्टियों एवं नरजन्यु के सम्मिलन द्वारा दिए हुए संतेजक से होती है।

उद्विकासीय सिद्धान्त

भ्रूणपोष के जाति-चरित की परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि उसके विकास में तीन प्रमुख प्रवृत्तियां उत्तरोत्तर प्रधान होती जाती हैं।

अ-पित्र्य सूत्रों की संख्या में वृद्धि,

ब-प्राङ्‌ निषेचन से पश्च निषेचन की ओर संक्रामण, और, स-संतेजन की अधिकाधिक आवश्यकता।

इन प्रवृत्तियों के क्रम के साथ साथ, बीजिजों के भ्रूणपोष में एक स्फुट उद्विकास प्रतीत होता है। अधिकांश अनावृत बीजिजों के अर्ध संख्याक भ्रूणपोष से लेकर एफेड्रा तक एक प्रगतिमयी धारा देखी जा सकती है, जहां निषेचनोपरांत भी कुछ कोशासमूह भ्रूण के खाद्यार्थ निर्मित होते हैं। सन्तेजन की आवश्यकता इस समय बढ़ती ही जा रही है और क्रमशः भ्रूणपोष का संघटन जटिल होता जा रहा है। नीटम और वेलविशिया में संतेजक की आवश्यकता स्त्री-जन्युक की निभागस्थ न्यष्टियों के सम्मिलन से पूर्ण की जाती है और इस प्रकार भ्रूणपोष बहुसंख्यक हो जाता है। इस अवस्था में प्राङ्‌ निषेचन और पश्चनिषेचन भ्रूणपोष उपसादनतः निषेचन के दोनों ओर समान रूप से प्रतिरूपित होते हैं। परन्तु उद्विकास की आगामी अवस्था में स्त्री-न्यष्टि-सम्मिलन भ्रूणपोष के विकासार्थ पर्याप्त संतेजक नहीं हो पाता और नरजन्यु का सम्मिलन अनिवार्य हो जाता है। तथापि, स्त्री-न्यष्टि-सम्मिलन की क्रिया प्राङ्‌निषेचन भ्रूणपोष के निर्माण में उपयुक्त होती है। इस दशा तक भ्रूणपोष अधिकांशतः निषेचनोपरांत ही निर्मित होता है।

परन्तु अनिषिक्तजनित पौधों के भ्रूणपोष-विकास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्रभ्रूणपोषीन्यष्टि ही वास्तविक भ्रूणपोष उत्पादक है और नरजन्य का सम्मिलन केवल एक दैहिक उपयोजन है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वास्तव में भ्रूणपोष का निर्माण भ्रूण के खाद्यार्थ होता है और नर जन्यु-सम्मिलन एवं पित्र्यसूत्र-संख्या में वृद्धि केवल उद्विकास के क्रम में उपयोजन के रूप में ही इस क्रिया में भाग लेते हैं। भ्रूणपोष निरपवाद रूप से प्रायः सभी पौधों में बनता है और बीजिजों में उसके विकास का एक निश्चित क्रम होता है।

भ्रूणपोष की रचनाकारिकी के उद्विकासीय सिद्धान्त का सूत्रीकरण ऐसे विश्लेषण का परिणाम है। बीजिजों का भ्रूणपोष एक पूर्वविहित कोशापुंज प्रतीत होता है जोकि प्रारम्भ से ही भ्रूण के खाद्यार्थ निष्पन्न हुआ। यद्यपि पित्र्यसूत्रों की संख्या में वृद्धि और निषेचनोत्तर संक्रामण से उसकी रचना एवं वाह्यरूप में परिमार्जन होता गया तथापि उसके मूल प्रनियमों एवं अन्तिम प्रकार्य में कदापि परिवर्तन नहीं हुआ।

इसी प्रकार यद्यपि भ्रूणपोष का उद्भव सदैव ही स्त्री-जन्युक तक लक्षित किया जा सकता है तथापि विकास की कालावधि में न्यष्टि-सम्मिलन और कोशाभाजन उसके शरीर को इस सीमा तक परिवर्तित कर देते हैं कि चरम कोशासमूह किसी भांति भी जन्युक नहीं कहा जा सकता। यही नहीं, पित्र्यसूत्रों की संख्या में वैभिन्य होने के कारण, इस कोशासमूह को बीजाणुक कहना भी सर्वथा मिथ्या होगा। अस्तु, यह सिद्ध होता है कि भ्रूणपोष को पित्र्यसूत्रों की संख्या पर निर्धारित दो स्फुटतया विभक्त श्रेणियों में स्थान देने का आग्रह करना अनुचित है। वास्तव में भ्रूणपोष एक विलक्षण पूर्वविहित कोशापुंज है जोकि बीजिजों के क्रम में अत्यन्त ही विभिन्न एवं उपयोजनीय है।

जीवन तत्व

श्री प्रताप सिंह, एम० एस-सी०

सर्वसाधारण का यह प्राचीन काल से अनुभव है कि अमुक भोजन का प्रयोग अमुक रोग में हितकर है। साधारणतया पालक, टमाटर पत्ता गोभी, तथा दूध आदि उत्तम खाद्य पदार्थ माने जाते हैं, परन्तु क्यों ? क्या कारण है ? तथ्य यह है कि इन खाद्य पदार्थों से कुछ विशेष गुण पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। प्रत्येक आहार में दो गुण होने परम आवश्यक है। प्रथम वह शारीरिक तथा मानसिक उन्नति में हितकर हो, द्वितीय वह रोग रोधन में अत्यन्त सहायक हो।

सन् १९११ ई० में पोलेन्ड निवासी एक रसायनज्ञ केसीमीर फंक (Casimir Funk) ने चावल की पालिश से एक मणिभीय पदार्थ पृथक किया जो मधुप्रमेह में अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ। इसका विश्लेषण करने पर ज्ञात हुआ कि इसमें अमाइन (Amine) गुट्ट में नोषजन यौगिक दशा में वर्त्तमान है। फलतः फंक महाशयने इस तत्व को जीवन तत्व (Vita-amine or vitamin) के नाम से संबोधित किया। इस प्रकार जीवन (Vita) शब्द को अमाइन (Amine) शब्द के साथ योग करने से जीवन तत्व Vitamine बन गया। क्योंकि यह तत्व जीवन तथा स्वास्थ्य हेतु अत्यन्त आवश्यक सिद्ध हुआ। तदनन्तर ई (e) का लोप करने से केवल (Vitamin) शेष रह गया जो सर्वसाधारण की जबान पर वर्त्तमान रहता है।

सन् १९१३ ई० में मक्खन तथा अण्डे की वसा में एक अन्य जीवन तत्व का अध्ययन हुआ। यह फंक महाशय के उपरोक्त कथित जीवन तत्व के सदृश परन्तु नोषजन रहित पाया गया। इसका नाम वसा घुलक—ए (Fat solulbe A) भोजन पदार्थ रखा गया। तदनन्तर जल घुलक बी (water soluble B) जीवन तत्व ज्ञात हुआ। सन् १९११ से १३ ई० तक इस प्रकार इन त्रिमूर्ति जीवन तत्वों का ज्ञान प्रचुर रूप में प्राप्त हो गया कि प्रथम जल घुलक—बी मधुप्रमेह में, द्वितीय वसा घुलक—ए नेत्र रोग में, तथा तृतीय जल घुलक—सी त्वचा रोग में हितकर हैं। सन् १९२० ई० में डाक्टर ड्रूमन्ड (Dr. Drumond) के प्रस्तावानुसार ई (e) का लोप कर तथा मैक कोलम (Mc Collum) के ए, बी, सी, डी, अक्षरों को इनमें भेद करने हेतु मान दिया गया। फलतः इस प्रकार वर्त्तमान जीवन तत्वों ए, बी, सी, डी इत्यादि का जन्म हुआ।

आजकल यह भली भांति ज्ञात हो गया है कि इस प्रकार के लगभग दस जीवन तत्व अनेकों खाद्य-पदार्थों पृथक कर लिए गये हैं। तथा इन्हीं को रसायनिक क्रियाओं द्वारा भी विज्ञानशालाओं में उत्पन्न किया जा चुका है। फलतः यह सिद्ध हो चुका है कि यह रसायनिक यौगिक हैं। तथा इनकी रसायनिक आकृति विभिन्न ही नहीं परन्तु इनमें पारस्परिक तनिक भी रसायनिक संबन्ध नहीं प्रतीत होता है। कोई शर्करा, अम्ल, कोई नोषजन यौगिक, कोई अनोषजन यौगिक अथवा अन्य प्रकार के रसायनिक यौगिक भी हैं। इस कारण इन सबको विटामिन शब्द से संबोधित करना कुछ उचित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि सबमें यह नोषजन का अमाइन गुट्ट विद्यामान नहीं है। फलतः आधुनिक काल में जीवन तत्व नाम का अर्थ केवल यह दर्शाता है कि यह अत्यन्त शारीरिक महत्व का पदार्थ है न कि इनकी समान रसायनिक आकृति है। फलतः जीवन तत्व की परिभाषा केवल यह रह जाती है कि यह विशेष तत्व हैं जिनकी खाद्य पदार्थ में उपस्थिति शारीरिक उत्थान तथा स्वास्थ्य हेतु अत्यन्त आवश्यक है तथा जिनकी खाद्य पदार्थ में अनुपस्थिति तथा अल्प-उपस्थिति अथवा अल्प

प्राप्ति से शरीर में अस्वास्थ्य तथा रोग उत्पन्न होता है।

उचित अहार जो शरीर को प्रचुर मात्रा में प्राप्त होना चाहिए तथा इन जीवन तत्वों में अन्तर है। प्रथम तो इन जीवन तत्वों की मात्रा अत्यन्त सूक्ष्म होती है द्वितीय यह परिवर्तनशील हैं। अर्थात ताप तथा ओषजनीकरण से अकर्मण्य हो जाते हैं। तृतीय विशेषता यह है कि यदि यह अकर्मण्य रूप में शरीर को प्राप्त हो रहे हों तथा अपना प्रभाव शरीर पर नहीं करते हों इस दशा में इनको प्रभावित करने हेतु अन्य रसायनिक पदार्थों की सहायता की आवश्यकता होती है। उदाहरण रूप कैरोटीन (Carotene) एक अकर्मण्य जीवन तत्व ए (Provitamin A) है। इसको कर्मण्य दशा में परिवर्तन हेतु किसी अन्य दाउन अथवा ख़मीर (Yeast) की आवश्यकता होती है।

साधारणतया जीवन तत्व जल अथवा वसा घुलित होते हैं। फलतः सामान्यतया यह इन्हीं दो भागों में विभाजित किए जाते हैं। जिन जीवन तत्वों का विशेषण प्रथम हुआ था वह अक्षरों से संकेतित किए जाते हैं। तत्व स्थान के जीवन तत्वों के नाम उनकी व्याख्या करते हैं। कुछ के नामों में परिवर्तन भी किया गया है क्योंकि अब उनकी रसायनिक आकृति उचित रूप से ज्ञात हो गई है। तथा उनके नाम उचित व्याख्या करते नहीं समझे गये थे।

निम्नलिखित सूची में कुछ विशेष जीवन तत्वों का उल्लेख किया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सूची पूर्ण है। कदाचित इनके अतिरिक्त, अन्य भी हों अथवा उनमें से कुछ दो अथवा अधिक जीवन तत्वों के मिश्रण भी हो सकते हैं। समस्त जीवनतत्वों का प्रभाव अभी मनुष्य शरीर पर पूर्ण रूप से ज्ञात नहीं किया जा सका है। क्योंकि प्रत्येक का प्रयोग प्रथम पशुओं पर किया जाता है पुनः मनुष्य पर। यह भी ज्ञात हुआ है कि इसी प्रकार के कुछ अन्य पदार्थ भी हैं जिनका वनस्पति जीवन पर प्रभाव पड़ता है। परन्तु वर्तमान में यही उचित समझा गया है कि जीवन तत्व उपरोक्त कथित जीवन तत्वों के प्रयोग में ही किया जाय जिनका प्रभाव पशुओं पर सिद्ध हो चुका है। फलतः जीवन का यह सीमित प्रयोग है। कुछ अन्य तत्व भी ज्ञात हुए हैं जो शारीरिक गिल्टियों से उत्पन्न होते हैं परन्तु यह जीवन तत्वों से भिन्न है।

जीवन तत्व—

१—ए, $ए_१$, $ए_२$,

२—बी, $बी_१$, $बी_२$, $बी_३$,..........$बी_७$,

३—सी,

४—डी, $डी_१$, $डी_२$, $डी_३$,

५—ई,

६—जी, एच, आई, जे, के, पी, एम, यू,...इत्यादि

जीव ओषजनीकरण के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि इन जीवन तत्वों का प्रभाव शारीरिक ओषजनीकरण क्रिया में प्रोत्साहन देना है। फलतः यह उद्जन, अथवा ओषजन को प्रोत्साहन देकर रसायनिक ओषजनीकरण करता है। जिसके फलस्वरूप शरीर को शक्ति प्राप्त होती है।

यह जीवन तत्व प्रत्येक खाद्य पदार्थ में उपस्थित रहते हैं। रसायनिक विलगन से इनकी खाद्य पदार्थों में उपस्थिति प्रथम चूहों, सारंग, कुत्ते, तथा मुर्गों इत्यादि के ऊपर से ज्ञात की जाती है। इन जीवन तत्वों की मात्रा तथा विभिन्नता विभिन्न खाद्य पदार्थों पर निर्भर है। एक दो खाद्य पदार्थ में अमुक जीवन तत्व की मात्रा अधिक, अन्य की न्यून तथा किसी अन्य की अनुपस्थिति भी हो सकती है। जीवन तत्वों की उपस्थिति तथा उनकी मात्रा का ज्ञान पशुओं पर प्रभाव से ज्ञात किया जाता है। फलतः इनकी मात्रा का ज्ञान पशुओं की प्रतिक्रिया की मात्रा से ज्ञात होता है। इस प्रकार शरमन महाशय ने १६२५ ई० में जीवन तत्व-ए की इकाई वह मात्रा मानी जो कि उस सर्व प्रकार से परिपूर्ण भोजन में उपस्थित हो जो चूहों में ३ ग्राम भार प्रति सप्ताह की वृद्धि करे परन्तु इस परीक्षा से प्रथम चूहे के शरीर में उपस्थित जीवन तत्व-ए का ह्रास कर दिया गया हो। जीवन तत्व-सी की इकाई वह न्यूनतम मात्रा मानी जाती थी जो एक गिनी सुअर में चर्म रोग को उत्पन्न करने में रोधक है। जीवन तत्व-डी की इकाई वह न्यूनतम मात्रा मानी गई थी जो सूखा रोग ग्रसित चूहे को हड्डी को स्वस्थ कर दे। इस प्रकार प्रत्येक रसायनज्ञ अपनी माप को इकाई आप ही उचित रूप से समझ सकता था अन्य रसायनज्ञों

को यह इकाई की मात्रा भ्रमोत्पादक थी। इस भ्रम को दूर करने हेतु लीग आफ नेशन्स के भोजन विभाग ने एक कमेटी नियुक्त की जिसके अन्तरराष्ट्रीय माप की इकाई निश्चित थी। इसका फल यह हुआ कि आज प्रत्येक मनुष्य को किसी भी उचित मात्रा में कोई भी जीवन तत्व हाट से उपलब्ध हो सकता है। द्वितीय लाभ यह भी हुआ कि समस्त जीवन तत्व अब गोलिओं, नलकिओं में भरे अथवा द्रव दशा में भी प्राप्त हो रहे हैं। इस प्रकार इनके प्रत्येक विज्ञापन पर इनकी मात्रा अवश्य छपी रहती है जिससे रोगियों के हेतु चुनाव में सुविधा रहती है क्योंकि इनका ज्ञान अब भी सीमित ही है। फलतः इस दिशा में भी ध्यान आकर्षित किया जाता है कि अमुक की आवश्यकता किसी अन्य की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति का कारण भी हो सकती है। इस कारण अभी इस दिशा में अधिक सुचारु रूप से अध्ययन की आवश्यकता है जिससे उचित रूप से एक अथवा अधिक का प्रयोग मनुष्य को हितक रहो।

श्वास क्रिया में ओषजन फेफड़ों में प्रवेश कर इनके अन्तःकोष्ठों में रसायनिक परिवर्तन के पश्चात कारबनडाइ-आक्साइड के रूप में वहिष्कृत होती है। यह ओषजन भोजन के सहयोग से शारीरिक अंगों में रसायनिक परिवर्तन होकर कारबन-डाइ-आक्साइड बन जाती है। उस क्रिया में जल भी उत्पन्न होता है। फलतः यह ज्ञात करना आवश्यक हो जाता है कि कौन-कौन भोजन पदार्थ किस प्रकार इस क्रिया में भाग लेते हैं, जिससे जल तथा कारबन-डाइ-आक्साइड उत्पन्न होते हैं। कुछ काल से यह ज्ञात है कि शर्करा के रसायनिक परिवर्तन से जल, कारबन-डाइ-अक्साइड तथा शक्ति उत्पन्न होती है। यह भी ज्ञात हो चुका है कि दो उद्‌जन परमाणु एक ओषजन परमाणु के यौगिक होकर शरीर में इस रसायनिक परिवर्तन से ६८ केलोरीज शक्ति उत्पन्न करते हैं। यह रसायनिक परिवर्तन अथवा ओषजनीकरण त्रिविधि रूप से हो सकता है।

(१) किसी रसायनिक यौगिक को ओषजन प्रदान करने से।

(२) किसी से उद्‌जन पृथक करने से।

(३) किसी से एक विद्युत कण पृथक करने से।

इन त्रिविधि क्रियाओं से अनेकों अन्तर क्रियाओं के पश्चात शरकरा उत्पन्न होती है जो जल तथा कारबन-डाइ-अक्‌साइड में परिवर्तन होकर शरीर को ६८ केलोरीज शक्ति प्रदान करती है। इस शक्ति के फलस्वरूप शरीर उष्ण तथा इसका तापक्रम ९८·४ डिग्री रहता है। किसी जीवन तत्व की अनुपस्थिति तथा उसकी न्यून उपस्थिति से इस ओषजनीकरण पर प्रभाव पड़ता है तथा शरीर रोगग्रसित हो जाता है। इसकी पूर्ति प्रायः हाट से कर सकते हैं। फलतः प्रत्येक का कुछ विशेष विवरण दिया जाता है।

जीवन तत्व—ए—यह वनस्पति में अकर्मण्य दशा में पीत वर्ण केरोटीन नाम से प्राप्त है। यह पदार्थ परिवर्तन होकर जीवन तत्व—ए बन जाता है। यह दो भागों में विभाजित होता है। एक खारे पानी की मछली के जिगर में ए१ तथा मीठे पानी की मछली के जिगर में ए२ की दशा प्राप्त है। वनस्पति भोजन में जीवन तत्व ए तथा जो भोजन जीवों से मिलता है, जैसे मास्खन, दूध, मछली का तेल इत्यादि में ए अथवा ए१ तथा ए२ भी पृथक तथा परस्पर मिश्रित अवस्था में प्राप्त है। इस तत्व की न्यून उपस्थिति अथवा अनु-उपस्थिति से नेत्र रोग हो जाता है, इसी से त्वचा के रंग में भी अंतर पड़ जाता है तथा चर्म रोग हो जाता है; इसका प्रभाव अन्तड़ियों पर भी पड़ता है। फलतः पित्त तथा उससे उत्पन्न लवणों में भी अन्तर आ जाता है। इस सत्र के प्रभाव से नाड़ियां, रक्त प्रवाह, कान, मुँह, दांत, फेफड़े इत्यादि की क्रिया भी दूषित हो जाती है। यह ज्ञात किया गया है कि मनुष्य को प्रतिदिन ४०००-६००० इकाई जीवन तत्व—ए की आवश्यकता है तभी वह स्वस्थ रह सकता है। जीवन तत्व बी—यह सर्वप्रथम जावा द्वीप में सन् १९२५ ई० में एक रसायनज्ञ ने पृथक किया था। इसकी न्यूनता से भोजन में अरुचि उत्पन्न होती है। उन बच्चों में यह अरुचि अधिक होती है, जिनको उचित भोजन पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलता है। यह भी ज्ञात हुआ है कि जिन खाद्य-पदार्थों में शर्करा अधिक मात्रा में होती है, उन पात्रों में इस तत्व की न्यूनता का प्रभाव शीघ्र प्रतीत हो जाता है। फलतः मधुप्रमेह उत्पन्न हो जाता है, इसकी अल्प तथा अनु-उपस्थिति से सूजन तथा हृदय रोग हो जाता है, जिससे हृदय-गति रुकने का

भी भय रहता है। अपच तथा अधिक मद्यपान से भी इसकी न्यूनता हो जाती है। फलतः क्षुधा कम हो जाती है। एक व्यक्ति के हेतु इसकी मात्रा प्रतिदिन २५० इकाई है। यह मांस में भी अधिक मात्रा में प्राप्त है; परन्तु पकाने से निकल जाती है तथा सोडा डालकर पकाने से नष्ट हो जाती है।

जीवन तत्व–सी–इसकी मात्रा नीबू, पातगोभी, नारंगी इत्यादि में अधिक प्राप्त है, इसकी न्यूनता से चर्म रोग, हड्डी रोग तथा रुधिर-गति-संचालन रोग उत्पन्न होते हैं, इसके सेवन से मूत्र की मात्रा पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

जीवन तत्व–डी–इसका प्रयोग सूखा रोग में अधिक होता है, इसकी कमी का शरीर उचित मात्रा में फासफोरस तथा कैलशियम ग्रहण नहीं करता है। यह ज्ञात हो चुका है कि यह रोग सूर्य प्रकाश से भी सम्बन्धित है। सर्दी में यह रोग जोर पकड़ता है, जब कि धूप की कमी होती है। इस रोग में धूप रोगी के शरीर पर सीधी पड़नी चाहिए तथा शरीर को वस्त्र से ढकना उचित नहीं होता है। खिड़की के कांच भी इस प्रकाश में रोधक होते हैं, इस कारण इस रोग के उपचार में रसायनिक मिश्रण के कांच प्रयोग में आते हैं, इस हेतु स्वच्छ कार्ट्ज अति उत्तम माना गया है क्योंकि यह पूर्णतया पारदर्शक होता है।

इसी प्रकार अन्य जीवन तत्वों का भी लेखा है; परन्तु यहां पर कुछ प्रधान ही का विवरण दिया गया है जो कि विशेष रूप से प्रयोग में आते हैं। भूमि की उत्पादन दशा, हाट में यातायात के साधन तथा पकाने की विधि व साधनों से भी इनकी मात्रा तथा प्रभाव में भी अन्तर आ जाता है। मनुष्य को प्रतिदिन आयु अनुसार कितनी मात्रा की आवश्यकता है, उसका लेखा अन्तर्राष्ट्रीय इकाई में इस प्रकार है कि—

आयु	ए०	बी०	सी०	डी०
१ वर्ष से न्यून	१५००	७५	२००	४००
१ से ६ वर्ष तक	३०००	१२५	४००	४००
६ से १२ वर्ष तक	३०००	२००	४००	४००
१२ से ऊपर	४०००	२५०	५००	४००

—:०:—

विज्ञान समाचार

अफीम उद्योग विकास

पोस्त का पौधा, जिससे अफीम बनती है एशिया-माइनर से आया बताया जाता है। कहते हैं कि इसे अरब लोग वहाँ से भारत तथा चीन लाये। मुगलों के शासन-काल में, अफीम बनाने के व्यवसाय पर शाही एकाधिकार था, और डच लोग अफीम के मुख्य खरीदार हुआ करते थे। उसके बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अफीम का व्यापार व्यवस्थित ढंग से शुरू किया। उसने चीन को अधिक अफीम भेजनी शुरू की और इस प्रकार काफी फायदा उठाया। भारत की अफीम कभी चीन को इतनी अधिक जाती थी कि इस देश के राजस्व में एक भारी रकम उसी की आमदनी से प्राप्त हो जाती थी। पर लगभग ४० साल से, भारत से चीन के लिए अफीम नहीं गयी।

घातक द्रव्य

अफीम एक मादक पदार्थ तो है ही, साथ ही उसका इस्तेमाल, मानव-कल्याण के लिए तरह-तरह की दवा-दारू तैयार करने के लिए भी किया जाता है, जिससे उसका विशेष महत्व है। नशे के लिए अफीम खाने से उसकी आदत पड़ जाती है, जो बड़ी मुश्किल से छूटती है। इसकी लत वास्तव में मनुष्य को तबाह करके ही छोड़ती है। चण्डू अथवा अफीम का धूम्रपान, अफीम खाने से कहीं अधिक घातक होता है।

अफीम की इस घातकता का ही ख्याल करके विभिन्न देशों की सरकारें तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ, इसके उत्पादन तथा वितरण पर नियंत्रण रखना चाहती हैं। हमारे देश में भी केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें इसी दिशा में यत्नशील हैं, और अब ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम रह गयी है, जो अफीम खाने के आदी हैं। भारत सरकार 'इस यत्न में है कि केवल दवा-दारू तैयार करने तथा अन्य वैज्ञानिक कार्यों के लिए ही अफीम बनायी जाय। इसीलिए वह पोस्त की खेती वैज्ञानिक तथा सुधरे हुए ढंग पर संघटित करने का यत्न कर रही है।

पोस्त की खेती

पोस्त की खेती, भारत सरकार से लाइसेंस लेकर ही की जा सकती है और उत्तर प्रदेश, मध्य भारत, राजस्थान तथा हिमालय प्रदेश में ही सीमित है। कुछ खेती बिलासपुर में भी होती है।

खेतिहर को अपनी सारी उपज निश्चित दामों पर केन्द्रीय सरकार के हाथ बेच देनी पड़ती है। पोस्त की खेत वाले हर एक या अधिक जिलों के लिए एक-एम अफीम अफसर होता है, जो यह सारी उपज वसूल करता है। उपज की नाप जोख के लिए केन्द्र बने हैं, जहाँ जाकर किसान को अपनी सारी उपज तुलवा देनी होती है।

भारत में पैदा होने वाले पोस्त तीन किस्म के होते हैं। एक किस्म में सफेद फूल आते हैं और इसे बनारसी किस्म कहते हैं। दूसरी किस्म मालवा कहलाती है। इसमें गुलाबी फूल निकलते हैं और यह मध्य भारत तथा राजस्थान में होती है। तीसरी किस्म हिमालयी, लाल फूलों वाली, हिमाचल-प्रदेश में होती है।

अफीम का वर्ष १ अक्टूबर से दूसरे वर्ष की ३० सितम्बर तक का माना जाता है, क्योंकि खेती नवम्बर में शुरू होती है और फसल दूसरे साल अप्रैल व मई में कटती है। पोस्त से अफीम प्राप्त करने के लिए उसके डोड़ों पर एक चौफले चाकू से नश्तर लगाया जाता है। ऐसा करने से जो रस बहकर डोडों के आस-पास चिपक जाता है, उसे दूसरे दिन 'सीप' नामक एक औजार की सहायता से खरोंच

लेते है। किसान, इस खुरचन को सुखाकर सरकार को दे देता हैं और सरकार बनारस से ४५ मील पूर्व, गाजीपुर के अपने अफीम कारखाने में इससे अफीम तैयार करती है।

पैदावार

जहाँ १९०५-६ में ७,६०,००० एकड़ भूमि में पोस्त की खेती होती थी, वहाँ अब केवल ७०,००० एकड़ में होती है। पहले अफीम चीन भेजी जाती थी, इसलिए खेती भी अधिक की जाती थी। चीन की अफीम की लत छुड़ाने के लिए भारत ने अपनी ८ करोड़ रु० की आमदनी त्याग दी, और इसलिए अफीम का उत्पादन भी कमकर दिया। १९४८-४९ से १९५१-५२ तक के चार वर्षों में भारत में क्रमशः ६९,४२५; ५१,४३०; ६९,७२५ तथा ५६,१६० एकड़ में पोस्त की खेती की गयी, जिससे क्रमशः ६,५१५; ५,५३५; १३,५०० तथा ९,०४५ मन अफीम तैयार की गयी। विदेशों से दवा-दारू के लिए भारतीय अफीम की माँग के घटने-बढ़ने के अनुसार पोस्त की खेती का क्षेत्र भी घटता-बढ़ता रहा।

तैयार अफीम

गाजीपुर और नीमच के कारखानों में कच्ची अफीम से, दो प्रकार से शुद्ध अफीम तैयार की जाती है—पहली वह जो विदेशों को भेजी जाती है और दूसरी वह जो भारत में आबकारी अफीम कहलाती है और राज्य सरकारों के हाथ बेच दी जाती है। तैयार अफीम आध सेर से दस सेर तक की टिकियों के रूप में होती है।

अफीम का आयात निषिद्ध है। इसका निर्यात भी केवल डाक्टरी और वैज्ञानिक उपयोग के लिये होता है। हाँ, कुछ अंशों में औषधि के रूप में उपयोग के लिए सीमित मात्रा में अफीम पाकिस्तान को अवश्य भेजी जाती है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से अफीम के निर्यात में वृद्धि हुई है लेकिन १९५१-५२ में निर्यात में अचानक कमी हो गयी। आँकड़े इस प्रकार हैं:—

वर्ष	परिमाण
१९४७-४८	२५ टन
१९४८-४९	३५ टन
१९४९-५०	१७२ टन
१९५०-५१	३४८ टन
१९५१-५२	१६७ टन

१९४९ में राज्यों के प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन में किये गये निर्णय के अनुसार राज्यों को दी जाने वाली अफीम की मात्रा में प्रतिवर्ष १० प्रतिशत की कमी की जा रही है। इस प्रकार १९५९ तक यह सप्लाई बिलकुल बन्द हो जायगी। १९५२-५३ में ३,१३५ मन आबकारी अफीम का उपभोग हुआ था। यह राज्यों के हाथ ४५ रु० प्रति सेर के हिसाब से बेची गयी थी। पिछले वर्षों के उपभोग के आँकड़े इस प्रकार हैं:—

वर्ष	परिमाण
१९५१-५२	३,७०० मन
१९५०–५१	३, १७० मन
१९४९–५०	२, ६२५ मन
१९४८–४९	३, ८९५ मन
१९४७–४८	६, ०८५ मन

आबकारी अफीम राज्यों को लागत दाम पर बेच दी जाती है और इससे केन्द्रीय सरकार कोई भी लाभ नहीं कमाती। इस समय लागत दाम ५६ रु० १ आ० प्रति सेर है। गाजीपुर या नीमच से अफीम खरीदने के बाद विभिन्न राज्य सरकारें उस पर उत्पादन-शुल्क की ऊंची दर वसूल करती हैं। एक राज्य में लाइसेंस की ऊंची फीसों के अतिरिक्त खुदरा बिक्री में ११२० रु० प्रति सेर के हिसाब से कीमत ली जाती है।

अफीम से औषधियां

केन्द्रीय सरकार ने १९४६ में गाजीपुर कारखाने में एल्कलायड (उपक्षार) बनाने की एक शाखा खोल दी थी और वहां व्यापारिक दृष्टि से अफीम से औषधियां भी बनायी जाने लगीं। रसायनिक प्रणाली से वहां पर कई वर्षों से मार्फीन, कोडीन और नरकोटीन और उनके लवण बनाये जा रहे हैं। अब यह काम लाभप्रद सिद्ध हो रहा है। ये औषधियां ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस आदि देशों से आने वाली औषधियों की अपेक्षा उत्तम और सस्ती पड़ती हैं। इसलिये इनकी मांग बढ़ रही है। इनके अतिरिक्त ब्रिटिश और अमेरिकन प्रतिमानों के अनुरूप थेबाइन, पापा-

वेराइन और कोटरनाइन जैसी औषधियां भी बनाई जा रही हैं।

एल्कलायड का निर्यात

भारत आज इस बात का दावा कर सकता है कि यहां पैदा होने वाली अफीम में काफी अधिक मात्रा में मारफीन, कोडीन और नरकोटीन होती है और इस प्रकार वह ईरान, तुर्की आदि दूसरे देशों की अफीम से अच्छी होती है।

अब गाजीपुरी कारखाने के उपचार पश्चिम, मध्यपूर्व और सुदूरपूर्वक महत्वपूर्ण देशों में भी जाने लगे हैं। देश में ही इनकी बिक्री में जो बढ़ती हुई है वह इस प्रकार है :—

वर्ष	परिमाण
१९४७–४८	५२५ पौंड
१९४८–४९	६४८ पौंड
१९४९–५०	१,३४१ पौंड
१९५०–५१	१,४३० पौंड
१९५२–५२	१, १९८ पौंड

१९४७–४८ और १९४८–४९ में इनका निर्यात नगण्य था लेकिन १९५०–५१ में ३७४ पौंड और १९-५१–५२ में १,४७९ पौंड का निर्यात हुआ।

कीमती चीज़ होने के कारण चोरी से बेचने वालों का इसकी ओर विशेष आकर्षण होता है। इसकी रोक-थाम के लिये सरकार को व्यवस्था करनी पड़ती है।

अफीम नियंत्रण के अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्न

अफीम नियंत्रण के अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्न बहुत पहले से होते रहे हैं। मुख्यतः प्रेजिडेंट रुजवेल्ट के प्रयत्न से १९०९ में एक अंतर्राष्ट्रीय अफीम कमीशन की बैठक शंघाई में हुई थी। इसी के परिणामस्वरूप १९१२ में हेग में पहला अफीम सम्मेलन हुआ था। १९२५ के जिनेवा सम्मेलन में अफीम और अन्य खतरनाक औषधों के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विनिमय की व्यवस्था की गयी थी। १९५० में संयुक्तराष्ट्र संघ ने एक अंतर्राष्ट्रीय अफीम एकाधिकार संघ बनाने की योजना बनायी किन्तु मतभेद के कारण यह सफल न हो सकी।

अफीम खाने की संसारव्यापी सामाजिक बुराई को रोकने के विषय में हाल में न्यूयार्क में हुए एक अंतर्राष्ट्रीय अफीम सम्मेलन में यही निर्णय किया गया कि अफीम के उत्पादन और उचित व्यापार के काम में कठोर नियंत्रण रखना अत्यन्त आवश्यक है।

अफीम सम्बन्धी

अफीम सम्बन्धी भारतीय नीति में लगातार मानवीय भलाई के दृष्टिकोण को मुख्य स्थान दिया जाता रहा है। बहुत पहले से ही भारत इस अंतर्राष्ट्रीय दायित्व को बड़ी सावधानी और तत्परता से निभाता रहा है।

इन्हें कच्चा खाइये

भोजन जितना भी अपने नैसर्गिक रूप में खाया जायगा उतना ही जीवनदायक होगा। पकाने से विटामिन और खनिज जैसे भोजन के अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्व कुछ न कुछ अवश्य कम हो जाते हैं। उदाहरण के लिये, अगर पात गोभी पका कर खायी जाय तो कच्ची की अपेक्षा उसमें विटामिन आधे रह जाते हैं। खाद्य वस्तुओं को असली रूप में खाने के बहुत से लाभ हैं। यही देखिये कि तरकारियों को छीलने, काटने और फिर पकाने के लिये घंटों आग के पास बैठकर तपने में समय और शक्ति का कितना अपव्यय होता है। ईंधन पर जो खर्च होता है वह अलग। इसे बचाकर अन्य जरूरी चीजें खरीदी जा सकती हैं।

मगर, खाने पीने की आदतें जल्दी नहीं बदली जा सकतीं और यह आशा व्यर्थ होगी कि सब लोग एकदम से पका हुआ भोजन करना छोड़ देंगे। फिर भी, इस दिशा में दो तरह से शुरुआत की जा सकती है। पकाने के जिन तरीकों से भोजन के महत्वपूर्ण तत्वों की ज्यादा खराबी होती है, उन्हें छोड़ा जा सकता है और दैनिक भोजन में कच्ची खायी जानेवाली तरकारियों की मात्रा बढ़ायी जा सकती है।

तलना हानिकारक है

पकाने के हानिकारक तरीकों में एक तलना भी है। तला हुआ भोजन मनुष्य शरीर को कई तरह से नुकसान करता है। स्वादिष्ट होने के कारण बहुत से लोग तली हुई चीजें पसन्द करते है। स्वादिष्ट बनाने के लिये भोजन को तेज आंच में तलना पड़ता है। जब तली हुई चीज कढ़ाई से निकाली जाती है तो गरम तेल या घी की तह उस पर चढ़ी रहती है। यह घी या तेल की तह पचाने के लिये खराब है ही, और तली चीज के ठंडी हो जाने पर तो यह और भी अवगुण करती है। तला हुआ भोजन पचाने में शरीर के पाचन यंत्र पर बहुत जोर पड़ता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि तेज आंच में पकाने से भोजन के सब या अधिकांश पौष्टिक तत्व नष्ट हो जाते हैं। भोजन को धीमी आँच या भाप में पकाना चाहिये और उसमें पानी बिलकुल नहीं या बहुत कम डालना चाहिये ताकि पकायी जाने वाली वस्तु अपने ही रस में भींज जाय और उसके सब पौष्टिक तत्व पूरे के पूरे बने रहें।

गाजर और पात गोभी, चुकन्दर और मूली, ककड़ी और टमाटर, प्याज और सलाद सभी कच्चे खाये जा सकते हैं। अमरूद और सेब, आड़ और खूबानी छिलके समेत ही खाने चाहिये। कच्ची तरकारियाँ खाने से एक और लाभ यह है कि इन्हें स्वभावतः ही भली भाँति चबाना पड़ता है जिससे दांतों की अच्छी कसरत हो जाती है और वे मजबूत और स्वस्थ रहते हैं। अच्छी तरह चबाने से वे जल्दी पचती भी हैं।

लेकिन एक बात जरूरी है—खाने से पहले तरकारियों को अच्छी तरह पानी से धो लेना चाहिये जब छुतही बीमारियाँ फैली हों तब तो इन्हें 'पोटाशियम परमैंगनेट' (लाल दवा) के घोल में धो लेना चाहिये। कई कारणों से ऐसा करना आवश्यक है। बहुत सी तरकारियाँ गन्दी जमीन में या गन्दगी के पास उपजती हैं और उनमें रोगों के कीटाणु रहने की आशंका रहती है। दूसरी बात यह है कि जब तरकारियाँ बाजार में बिक्री के लिये जाती हैं तो बहुत से लोगों के हाथ उनमें लगते हैं और हो सकता है कि किसी के हाथ के कीटाणु उन पर आ जायें। मंडी में खुली पड़ी तरकारियों और फलों पर मक्खियां भी बैठती हैं और उन पर कीटाणु और गन्दगी छोड़ जाती हैं। इसलिये तरकारियों और फलों को खाने से पहले धो लेना बहुत जरूरी है।

मुद्रक—सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज-प्रयाग।

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

१—*विज्ञान प्रवेशिका, भाग १*—विज्ञान की प्रारम्भिक बातों की उत्तम पुस्तक—ले० श्रीरामदास गौड़ एम० ए० और प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी; ।=)

२—*चुम्बक*—हाई स्कूल में पढ़ाने योग्य पुस्तक—ले० प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी; मू० ॥=)

३—*मनोरंजन रसायन*—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम० एस-सी; २)

४—*सूर्य सिद्धान्त*—संस्कृत मूल तथा हिन्दी 'विज्ञान भाष्य'—प्राचीन गणित ज्योतिष सीखने का सब से सुलभ उपाय—ले० श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी०, एल० टी०, विशारद; छः भाग मूल्य ८)। इस लेखक को १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है।

५—*वैज्ञानिक परिमाण*—विज्ञान की विविध शाखाओं की इकाइयों की सारिणियाँ—ले० डाक्टर निहाल-करण सेठी डी० एस-सी०; १)

६—*समीकरण मीमांसा*—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० पं० सुधाकर द्विवेदी; प्रथम भाग १॥) द्वितीय भाग ॥=)

७—*निर्णायक (डिटर्मिनैंट्स*—गणित के एम० ए० के विद्यार्थियों के पढ़ने योग्य—ले० प्रो० गोपालकृष्ण गर्दे और गोमती प्रसाद अग्निहोत्री बी० एस-सी; ॥)

८—*बीज ज्योमिति या भुजयुग्म रेखागणित*—इंटर-मीडियेट के गणित के विद्यार्थियों के लिये—ले०—डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, १)

९—*वर्षा और वनस्पति*—लोकप्रिय विवेचन—ले० श्री शंकरराव जोशी; ।=)

१०—*सुवर्णकारी*—ले० श्री० गंगाशंकर पचौली; ।=)

११—*विज्ञान का रजत जयन्ती अंक*—विज्ञान परिषद के २५ वर्ष का इतिहास तथा विशेष लेखों का संग्रह १)

१२—*व्यङ्ग-चित्रण*—(कार्टून बनाने की विद्या)—ले० एल० ए० डाउस्ट; अनुवादिका श्री रत्नकुमारी एम ए०; १७५ पृ०, सैकड़ों चित्र, सजिल्द २)

१३—*मिट्टी के बरतन*—चीनी मिट्टी के बरतन कैसे बनते हैं, लोकप्रिय—ले० प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा; १७५ पृष्ठ; ११चित्र; सजिल्द १) (अप्राप्य)

१४—*वायुमंडल*—ऊपरी वायुमंडल का सरल वर्णन—ले०—डाक्टर के० बी० माथुर, सजिल्द, २)

१५—*लकड़ी पर पालिश*—पालिश करने के नवीन और पुराने सभी ढंगों का ब्योरेवार वर्णन। ले०-डा० गोरख-प्रसाद और श्री रामरतन-भटनागर, एम० ए०, २१८ पृष्ठ, ३ चित्र, सजिल्द; २) (अप्राप्य)

१६—*कलम पेवंद*—लेखक श्री शंकरराव जोशी; २०० पृष्ठ; ४० चित्र; मालियों मालिकों और कृषकों के लिये उपयोगी, सजिल्द; २)

१७—*जिल्दसाजी*—इससे सभी जिल्दसाजी सीख सकते हैं, ले० श्री सत्यजीवन वर्मा, एम ए० सजिल्द, २)

१८—*तैरना*—तैरना सीखने की रीति अच्छी तरह सम-झाई गई है। ले०—डा० गोरखप्रसाद, मूल्य १)

१९—*सरल विज्ञान-सागर प्रथम भाग*—सम्पादक डाक्टर गोरखप्रसाद। बड़ी सरल और रोचक भाषा में जन्तुओं के विचित्र संसार, पेड़ों पौधों की अचरज भरी दुनिया सूर्य, चन्द्र, और तारों की जीवन-कथा तथा भारतीय ज्योतिष के संक्षिप्त इतिहास का वर्णन है। सजिल्द मूल्य ६) (अप्राप्य)

२०—*वायुमण्डल की सूक्ष्म हवाएँ*—ले०—डा० संतप्रसाद टंडन, डी० फिल० मूल्य ॥)

२१—*खाद्य और स्वास्थ्य*—ले०—डा०—ओंकारनाथ परती, एम० एस-सी०, डी० फिल० मूल्य ॥)

२२—*फोटोग्राफी*—लेखक श्री डा० गोरख प्रसाद डी० एस-सी० (एडिन), फोटोग्राफी सिद्धान्त और प्रयोग का संक्षिप्त संस्करण, सजिल्द मूल्य ४)

२३—*फल संरक्षण*—फलों की डिब्बाबन्दी, मुरब्बा, जैम, जेली, शरबत, अचार, चटनी, सिरका, आदि बनाने की अपूर्व पुस्तक—ले० डा० गोरखप्रसाद डी० एस-सी० और श्री वीरेन्द्रनारायण सिंह एम० एस-सी० कृषि-विशारद, सजिल्द मूल्य २॥)

२४—*शिशु पालन*—लेखक श्री मुरलीधर बौड़ाई। गर्भवती स्त्री की प्रसवपूर्व व्यवस्था तथा शिशु की देखभाल, शिशु के स्वास्थ्य तथा माता के आहार-विहार आदि का वैज्ञानिक विवेचन। मूल्य ४)

२५—*मधुमक्खी पालन*—द्वितीय संस्करण। ले०—पंडित दयाराम जुगड़ान; क्रियात्मक और ब्यौरेवार; मधुमक्खी पालकों या जन-साधारण को इस पुस्तक का अधिकाँश अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा, मधुमक्खियों की रहन सहन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। २८५ पृष्ठ; अनेक चित्र, सजिल्द; ३)

२६—*घरेलू डाक्टर*—लेखक और सम्पादक-डाक्टर जी०, घोष, एम० बी० बी० एस, डी० टी० एम० प्रोफेसर बद्रीनारायण प्रसाद, पी० एच० डी०, एम० बी०, कैप्टेन डा० उमाशंकर प्रसाद, एम० बी० बी० एस०, डाक्टर गोरखप्रसाद, आदि। ५० चित्र, सजिल्द, ४)

२७—*उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर*—संपादक डा० गोरखप्रसाद और डा० सत्यप्रकाश, २००० नुसखे, १०० चित्र; एक एक नुसखे से सैकड़ों रुपये बचाये जा सकते हैं या हजारों रुपये कमाये जा सकते हैं। मूल्य ३॥)

२८—*फसल के शत्रु*—लेखक श्री शंकर राव जोशी, फसलों को नष्ट करने वाले रोगों, कीड़ों, आदि से रक्षा के सुगम उपाय। मू० ३॥)

२९—*साँपों की दुनिया*—ले० श्री रामेश वेदी, साँपों के भेद पहचान आदि का विशद वर्णन। मू० ४)

३०—*पोर्सलीन उद्योग*—ले० प्रो० हीरेन्द नाथ बोस, पोर्सलीन की वस्तुएँ, पात्र आदि बनाने का वर्णन। मू० ।||)

३१—*राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ*—भारत की राष्ट्रीय वैज्ञानिक अनुसंधानशालाओं का सचित्र परिचय। मू० २)

३२—*गर्भस्थ शिशु की कहानी*—ले० मारग्रेट शी गिल्बर्ट (अनु० प्रो० नरेन्द्र) मा की कोख में शिशु शरीर की रचना का सरल वर्णन। मू० २॥)

हमारे यहाँ नीचे लिखी पुस्तकें भी मिलती हैं:-

१—*साबुन विज्ञान*—विद्यार्थियों और व्यवसाइयों के लिये एक सरल और सुबोध पुस्तक, जिनमें साबुन तैयार करने की विभिन्न विधियाँ और नाना प्रकार के साबुन तैयार करने की रीतियां हैं, विवरण के साथ-साथ सैकड़ों के साथ-साथ अनुभूत और प्रमाणित नुसखे भी दिये गये हैं। लेखक श्री श्याम नारायण कपूर बी० एस-सी०, ए० एच० बी० टी० आई०, फेलो, आयल टेकनोलोजिस्ट एसोसिएशन मूल्य ६)

२—*भारतीय वैज्ञानिक*—१२ भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियां—ले०—श्री श्यामनारायण कपूर, सचित्र ६० पृष्ठ, सजिल्द; मूल्य ३)

३—*वैक्युमब्रेक*—ले०—श्री ओंकारनाथ शर्मा। यह पुस्तक रेलवे में काम करने वाले फिटरों इंजन-ड्राईवरों, फोरमैनों और कैरेज एग्जामिनरों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। १६० पृष्ठ ३ चित्र जिनमें कई रंगीन हैं, २)

४—*यांत्रिक चित्रकारी*—ले० ओंकारनाथ शर्मा, मूल्य २॥)

५—*विज्ञान के महारथी*—लेखक- श्री जगपति चतुर्वेदी। संसार भर के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के जीवन व खोजपूर्ण कार्यों का विस्तृत वर्णन है। मूल्य २)

६—*पृथ्वी के अन्वेषण की कथाएँ*—ले० श्री जगपति चतुर्वेदी। जितने प्रमुख भौगोलिक अन्वेषण हुए हैं उन सबका रोचक वर्णन है। मूल्य १॥)

७—*विज्ञान जगत की झाँकी*—ले० प्रो० नारायण सिंह परिहार। सामान्य ज्ञान तथा विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी पुस्तक है। मूल्य २)

८—*खोज के पथ पर*—ले० श्री शुकदेव दुबे—जान को हथेली पर रखकर दुर्गम स्थानों एवं पर्वतों के खोज करने वालों का रोमांचकारी वर्णन। मूल्य ॥)

पता—विज्ञान परिषद, प्रयाग

सापों की दुनियाँ

लेखक—श्री रमेश वेदी आयुर्वेदालंकार

"साँपों की दुनियाँ" श्री रामेश वेदी द्वारा रचित सर्पविज्ञान सम्बन्धी एक मौलिक रचना है। साँपों का रहन-सहन, भोजन आदतें, आकस्मिक आक्रमण से बचाव सर्प-विष के प्रकार, उसका मनुष्य एवं अन्य प्राणियों पर प्रभाव, सर्पविष चिकित्सा आदि विषयों पर लेखक ने अभी तक किये गये प्रयोगों एवं अनुसंधानों का सरल भाषा में सारांश दिया है।

भारतवर्ष में बहुतायत से पाये जाने वाले विषहीन एवं विषैले सापों का विस्तृत एवं सचित्र वर्णन भी दिया है तथा प्रत्येक जाति के सांप की शरीर-रचना, उसकी आदतें, रहन-सहन, भोजन, मनोविज्ञान इत्यादि का सुन्दर चित्र खींचा है। लेखक की भाषा रोचक है, और शैली सुन्दर। हमारे पूर्वजों का सर्प सम्बन्धी ज्ञान, प्राचीन संस्कृत साहित्य में विभिन्न जाति के सर्पों का उल्लेख, सर्पों का वर्गीकरण विषैले एवं निर्विष साँपों की पहिचान, साँपों के विष-दन्त एवं विष ग्रंथियों की रचना, सर्प-विष का मनुष्य और दूसरे प्राणियों पर प्रभाव, सर्प-विष चिकित्सा और साँपों की आर्थिक उपयोगिता इत्यादि पर लेखक ने विस्तृत प्रकाश डाला है।

"साँपों की दुनियाँ" सापों से सम्बन्धित वैज्ञानिक अनुसन्धान, अवैज्ञानिक किम्वदन्तियाँ एवं अन्ध विश्वास, प्राचीन, साहित्य में साँपों का उल्लेख एवं तत्सम्बन्धी ज्ञान का निचोड़ है। मूल्य ४)

फसल के शत्रु

लेखक—श्री० शंकरराव जोशी

बहुत से कीट मानव-समाज का अहित करते हैं, कुछ कीट इन कीटों का ही संहार कर डालते हैं तथा कुछ कीट अन्य रूप से मनुष्य का हित करते हैं। सिद्धहस्त और अनुभवी लेखक ने इस पुस्तक में उन कीटों का वर्णन किया है जो फसलों को विशेष हानि पहुँचाते हैं। वैज्ञानिक कृषि तथा व्यापारिक प्रतियोगिता के इस युग में इन जंतुओं के करतब का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य ही है। फसलें बो लेना और प्रति एकड़ पैदावार बढ़ा लेना मात्र ही कृषि व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर लेना नहीं माना जा सकता। खेत में खड़ी फसलों और बगीचे के पौधों की शत्रु से रक्षा करना तथा गोदाम में रक्खी गई पैदावार को कीड़ों और रोगों से बचा लेना भी आवश्यक है।

इस पुस्तक में फसलों, लकड़ी, कोठरी में भरे नाज, साग, तरकारी आदि सभी वस्तुओं की इन शत्रुओं से सुलभ साधनों द्वारा प्रभावोत्पादक रूप से रक्षा पा लेने की विधियाँ तथा उन शत्रु रूपी कीटों तथा रोगों की पूरी पहचान भी दी गई है। डबल फुल्सकेप सोलहपेजी आकार के लगभग ३५० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य ३॥)

Reg. NO. 372

विज्ञान परिषद् के मुख्य नियम

परिषद् का उद्देश्य

१—१९७० वि० या १९१३ ई० में विज्ञान परिषद् की इस उद्देश्य से स्थापना हुई कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का प्रचार हो तथा विज्ञान के अध्ययन को और साधारणतः वैज्ञानिक खोज के काम को प्रोत्साहन दिया जाय।

परिषद् का संगठन

२—परिषद् में सभ्य होंगे। निम्न निर्दिष्ट नियमों के अनुसार सभ्यगण सभ्यों में से ही एक सभापति, दो उपसभापति एक कोषाध्यक्ष, एक प्रधानमन्त्री, दो मंत्री, एक सम्पादक और एक अंतरंग सभा निर्वाचित करेंगे जिनके द्वारा परिषद् की कार्यवाही होगी।

सभ्य

२२—प्रत्येक सभ्य को ६) वार्षिक चन्दा देना होगा। प्रवेश शुल्क ३) होगा जो सभ्य बनते समय केवल एक बार देना होगा।

२३—एक साथ १०० रु० की रकम दे देने से कोई भी सभ्य सदा के लिए वार्षिक चन्दे से मुक्त हो सकता है।

२६—सभ्यों को परिषद् के सब अधिवेशनों में उपस्थित रहने का तथा अपना मत देने का, उनके चुनाव के पश्चात् प्रकाशित, परिषद् की सब पुस्तकों, पत्रों, तथा विवरणों इत्यादि के बिना मूल्य पाने का—यदि परिषद् के साधारण धन के अतिरिक्त किसी विशेष धन से उनका प्रकाशन न हुआ—अधिकार होगा। पूर्व प्रकाशित पुस्तकें उनको तीन चौथाई मूल्य में मिलेंगी।

२७—परिषद् के सम्पूर्ण स्वत्व के अधिकारी सभ्य वृन्द समझे जायेंगे।

प्रधान संपादक—डा० हीरालाल निगम

सहायक संपादक—श्री जगपति चतुर्वेदी

नागरी प्रेस, दारागंज प्रयाग

प्रकाशक—विज्ञान परिषद्, बैंक रोड, इलाहाबाद